ग्रामीय अर्थशास्त्र

ग्रामीय अर्थशास्त्र

लेखक

श्रीयुत बृजगोपाल भटनागर

१९५९

हिंदुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश

इलाहाबाद

प्रकाशक
हिंदुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश
इलाहाबाद

तीसरा संशोधित संस्करण
मूल्य ४ रुपया

मुद्रक
प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स,
३ क्लाइव रोड, इलाहाबाद

भूमिका

हमारे देश की जनता का बहुत बड़ा हिस्सा गाँवों में रहता है। अधिकांश लोग खेती-संबंधी कारबार करके अपनी जीविका चलाते हैं। ऐसी दशा में इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि हम गाँवों के रहने वालों और उनकी जीविका निर्वाह की रीति के संबंध में विशेष रूप से अध्ययन करें। साथ ही हम यह भी जानने का प्रयत्न करें कि उनकी आमदनी इस योग्य है या नहीं कि वे लोग उससे अपना जीवन सुख और संतोष के साथ निर्वाह कर सकें। यदि हमारी जाँच से उन की आमदनी संतोषजनक न मालूम हो तो यह जानने का प्रयत्न किया जावे कि किन-किन उपायों से उनकी उन्नति हो सकती है। इस पुस्तक का मुख्य ध्येय इन्हीं बातों का ज्ञान प्राप्त करना है।

'भारतीय जनता ब्रिटिश राज्य के भारत में स्थापित होने के बाद पहले की अपेक्षा ग़रीब हो गई है'—यह कथन कहाँ तक सच है इस विषय में चाहे मतभेद हो परंतु यह स्पष्ट है कि भारत की जनता इस समय ग़रीब है।

नीचे हम एक नक़शा देते हैं जिसमें भिन्न-भिन्न लेखकों के अनुसार भारत में प्रति मनुष्य की वार्षिक आमदनी का अनुमान दिया गया है :—

नंबर	पुस्तक के नाम जहाँ से यह अंक लिए गये हैं	क्षेत्र	वर्ष जिसका हिसाब लगाया गया है	कुल आमदनी इतने करोड़	प्रतिवर्ष प्रति मनुष्य की आमदनी
१	दादा भाई नौरोजी-कृत 'पॉवर्टी एंड अन-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' (१८७१)	ब्रिटिश भारत	१८६७—१८६८	३४०	२०
२	'सन् १८८२ ई० की आर्थिक रिपोर्ट'	,,	१८८१	५२५	२७
३	विलियम डिग्बी कृत 'प्रास्परेस इण्डिया	,,	१८६८	४२६	१७'५
४	'आर्थिक रिपोर्ट' १९०१—१९०२	,,	१९०१	६७५	३०

५	डाक्टर बालकृष्ण कृत 'इंडस्ट्रियल डिक्लाइन अव् इण्डिया'	सम्पूर्ण भारत	१६११--१६१२	५३६	२१
६	पी० ए० वाडिया और जी० एन० जोशी कृत 'वेल्थ अव् इण्डिया' (१६२४)	ब्रिटिश भारत	१६१३--१६१४	१२१०	४४
७	ऑरनल्ड लिप्टन कृत 'हैपी इण्डिया' (१६२२)	,, ,,	१६१६—१६२०	२८६४'५	१४
८	शाह और खम्भाता कृत 'वेल्थ एंड टैक्सेबिल कैप-सिटी अव् इण्डिया' (१६२४)	सम्पूर्ण भारत	१६००--१६१४ १६१४--१६२२ १६००--१६२२ १६२१--१६२२	११०६ १८६२ १३८० २३६४	३६ ५८'५ ४४'५ ७४
६	फ़िन्डले शिराज़ कृत 'साइंस अव् पब्लिक फाइनैंस'	ब्रिटिश भारत	१६२२	२८६६	११६

यदि हम ऊपर दिए हुए नक़्शे में से सब से बड़ी रक़म को ही—जो फ़िंड्ले शिराज़ साहब की है—अपने विचार का मूलमंत्र मान लें तो भी हम यह देखते हैं कि प्रति मनुष्य प्रतिमास आमदनी के लगभग नौ रुपये ग्यारह आने ही आते हैं। यह रक़म यदि ज्यों की त्यों ली जावे तो भी इस योग्य नहीं है कि इस मँहगी के समय में एक आदमी के सुख और संतोष के लिए काफ़ी हो। फिर भी नौ रुपये ग्यारह आने का औसत तभी निकलता है जब कि हम यह मान लें कि उपरोक्त आमदनी के अंक भारत की जनता में बराबर बाँट दिये गए हैं, परन्तु यह किसी प्रकार सच नहीं है। इसलिए यह निश्चित है कि हम ग़रीब हैं। इसे कोई झूठ नहीं सिद्ध कर सकता। इसलिए इस बात का ज्ञान प्राप्त करना सब से अधिक आवश्यक है कि हम राष्ट्रीय संपत्ति की उन्नति कैसे कर सकते हैं; जिससे भारत के प्रत्येक मनुष्य को जीवन की सभी साधारण आवश्यकताओं को पूरा करने की सामग्री मिल जाये।

सन् १८८० तथा १६०१ ईस्वी की 'अकाल-जाँच कमेटियों' (Famine Commissions) ने इस बात पर बड़ा ज़ोर दिया था कि भारत की जनता के बहुत बड़े हिस्से में—जो गाँव में रहती है—अकाल का इसलिए अधिक प्रकोप रहा, क्योंकि अधिकतर ग्रामीण जनता खेती-बारी से ही पेट पालती है और खेती-बारी अधिकतर वर्षा पर निर्भर रहती है। जहाँ जहाँ वर्षा की कमी रही वहाँ-वहाँ अकाल का रूप भयंकर रहा। इन तकलीफ़ों को दूर करने के लिए इन दोनों कमेटियों ने बहुत सी बातों के साथ इस बात की भी सिफ़ारिश की थी कि जहाँ तक हो सके वहाँ तक लोगों को एक भारी संख्या में खेती ही में न लगा कर, उनके लिए दूसरे उद्योगधंधों का प्रबन्ध किया जावे। इन सिफ़ारिशों का यह भी नतीजा निकला कि सरकार और जनता दोनों ही खेती की ओर से लापरवाह होने लगे और दूसरे उद्योग-धंधों की ओर झुकने लगे। यहाँ तक कि भारत के बहुत से नेताओं की भी

यही धारणा हो गई कि भारत का कल्याण खेती के सिवा अन्य उद्योग-धंधों की उन्नति करने से ही हो सकता है। यद्यपि हमारा यह कहना ठीक न होगा कि खेती-बारी की उन्नति से ही भारत का कल्याण होगा, फिर भी हम निस्संकोच यह कह सकते हैं कि भारत के कल्याण के लिए उसकी खेती-बारी और अन्य उद्योग-धंधों दोनों ही की उन्नति करना ज़रूरी है। परंतु भारत की खेती-बारी की अच्छी तरह उन्नति किये बिना यहाँ अन्य उद्योग-धन्धों में उन्नति करना असंभव है।

यहाँ के कपड़े बुनने के उद्योग का इतिहास ही हमारे इस कथन का समर्थन करता है। अब से दस वर्ष पहले तक भारतवर्ष में ऐसी बहुत ही कम कपास की क़िस्में बोई जाती थीं जिनके सूत से बढ़िया कपड़ा तैयार किया जा सकता। कपड़े बनाने के कारख़ानों को लाचार होकर मोटा कपड़ा ही बनाना पड़ता था। अब जब कि हम ऊँचे दर्जे का कपास उत्पन्न करने जा रहे हैं, हमारे लिए यह संभव होता जाता है कि उससे महीन कपड़े भी कारख़ानों में बनाये जा सकें जो दूसरे देशों से अब तक लगभग साठ करोड़ रुपये के हर साल यहाँ आते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारे कपड़ा बनाने के उद्योग-धंधे की उन्नति तब तक न हो सकी थी जब तक हमने ऊँचे दर्जे के कपास की क़िस्में पैदा करने की कोशिश नहीं की थी।

यही दशा शक्कर के व्यवसाय की भी रही। भारतवर्ष में शक्कर की खपत संसार के सभी देशों से अधिक है और संसार के सभी देशों से अधिक ज़मीन यहाँ गन्ने की खेती के काम में आती है। इस पर भी हर साल करोड़ों रुपये की शक्कर जावा, मारिशस आदि देशों से हमारे यहाँ आती है। कारण यही है कि हमारे किसान लोग जो गन्ना पैदा करते हैं वह अन्य देशों के गन्ने के बराबर शक्कर नहीं दे सकता। यदि हमारे किसान भी विदेशियों की तरह ऊँचे दर्जे के गन्ने की खेती करने लगें तो हमारी करोड़ों की लक्ष्मी—जो शक्कर के ख़रीदने में बाहर जाती

है—अपने ही देश में रह जावे। यदि शक्कर बनाने का व्यवसाय उन्नति कर जावे, तो जो लाभ अन्य देश वाले उठाते हैं उसे अपने ही देश वाले उठावें। सकड़ों में से यह केवल दो ही उदाहरण हैं जिनसे यही सिद्ध होता है कि भारत के अन्य उद्योग-धंधों की उन्नति अधिकतर भारत की खेती बारी की ही उन्नति करने से हो सकती है। किंतु इसका यह मतलब नहीं है कि हमें समस्त उद्योग-धंधों की ओर से लापरवाह हो जाना चाहिए। हमारे कहने का मतलब यही है कि जब तक भारत की खेती-बारी की उन्नति नहीं की जावेगी तब तक वह अन्य उद्योगधंधों में आगे नहीं बढ़ सकता। इस छोटी-सी पुस्तक का मुख्य उद्देश्य सर्व-साधारण का ध्यान भारत के इस सब से महत्वपूर्ण उद्योग-धंधे की ओर आकर्षित करना है।

अन्त में यह लिखना परम आवश्यक है कि इस पुस्तक को प्रकाशित करने में मुझे अपने प्रिय मित्र श्री धीरेन्द्र वर्मा से विशेष सहायता मिली है। इस के बिना इस पुस्तक का वर्तमान हिंदी रूप कदाचित और भी अधिक असंतोतषजनक होता। मेरे साथ पुस्तक के प्रूफ़ देखने तथा छपाई की त्रुटियों को दूर करने में उनसे मुझे जो अमूल्य सहायता मिली है, उसके लिए मैं अपने प्रिय मित्र का अत्यन्त कृतज्ञ हूं।

कामर्स डिपार्टमेंट,
विश्वविद्यलय, प्रयाग
१५-१२-१६३२

वृजगोपाल भटनागर

संशोधनकर्ता का निवेदन

ग्रामीय अर्थशास्त्र का प्रथम संस्करण १९३२ में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद ब्रह्मदेश भारत से अलग हुआ। सन् १९४७ में भारत स्वतंत्र हुआ और पाकिस्तान भी भारत से अलग हो गया। हमारी राष्ट्रीय सरकार ने भारतवासियों की आर्थिक दशा सुधारने के लिये पंच वर्षीय योजनाओं के अनुसार कार्य आरम्भ किया। इन योजनाओं में ग्रामवासियों का विशेषध्यान रखा गया। इन सब परिस्थितियों के बदलने के कारण ग्रामीय अर्थशास्त्र का संशोधन आवश्यक हो गया। पुस्तक के विद्वान् लेखक श्रीयुत बृजगोपाल भटनागर की असामयिक मृत्यु सन् १९४२ में हो गई। इसलिये इस पुस्तक को श्री भटनागर जी द्वारा संशोधित कराने का सुअवसर नहीं मिला। हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने यह कार्य इस वर्ष मुझे सौंपा। मैंने इस पुस्तक के प्रत्येक अध्याय में यथासम्भव नवीनतम अंक देने का प्रयत्न किया है और इन अंकों के अनुसार जो-जो परिवर्तन आवश्यक समझे गये उनको कर दिया है। भारत के प्रायः सभी राज्यों में जमींदारी उन्मूलन होजाने के कारण २१वें अध्याय में विशेष परिवर्तन करने की आवश्यकता हुई। भारत में आजकल ग्रामवासियों की दशा सुधारने का कार्य सरकार सामुहिक विकास योजना द्वारा कर रही है। अखिल भारतवर्ष सेवासंघ द्वारा भी ग्रामदानी गावों में सर्वोदय सिद्धांतों के अनुसार यह कार्य हो रहा है। इन कार्यों का वर्णन २७वें अध्याय में कर दिया गया है। मैंने जहाँ तक हो सका है इस पुस्तक में ऐसी कोई बात नहीं लिखी है जो श्री भटनागरजी के विचारधारा के अनुकूल न हो।

आशा है, पुस्तक के इस संशोधित संस्करण के द्वारा देश की शिक्षित जनता और विशेषकर कालेज के विद्यार्थियों को ग्रामवासियों की दशा समझने में और उनकी दशा सुधारने के उपायों पर विचार करने में विशेष सहायता मिलेगी।

दयाशंकर दुबे

श्रीदुबे निवास,
दारागंज, प्रयाग
२१ सितंबर १९५८

विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ

अध्याय	पृष्ठ
भूमिका	क
१—हिंदुस्तान में भिन्न-भिन्न प्रकार के गाँव	१
२—खेती की आर्थिक विशेषताएँ	११
३—खेती और खेती के योग्य भूमि	१८
४—पौधा और उसका ज़मीन के ऊपर और अन्दर की जलवायु से संबंध	३५
५—किसान का प्रकृति पर वश	४५
६—खेती में किसान का कर्त्तव्य	५३
७—हिन्दुस्तान की ज़मीनें	६२
८—खेती में काम करने वाले	७३
९—खेती का मूलधन	८१
१०—हिन्दुस्तान में खेती की क्रियाएँ	९२
११—हिन्दुस्तान में खेती पर प्रकृति का वश	९७
१२—खेती की जमीन का सुधार	१०७
१३—व्यक्तिगत किसान की खेती संबंधी कुछ समस्याएँ...	११७
१४—खेती की कमाई में सुधार	१२७
१५—फ़सल का भौगोलिक व सामयिक प्रसार... ...	१४४
१६—किसान के खेतों में फ़सलों का हेरफेर	१५५
१७—खेती के लिए हानिकारक रोग तथा जीव-जन्तुओं से फ़सल की रक्षा	१६५
१८—पैदावार का विनियोग	१७१
१९—हिन्दुस्तान में पशुओं की समस्या	१८२
२०—खेती के मूलधन की उन्नति	१९९

२१—किसान के भूमिसंबंधी क़ानून (१) २१४
२२—किसान के भूमिसंबंधी क़ानून (२) २२४
२३—खेती के सहायक तथा खेती पर निर्भर व्यवसाय ... २२६
२४—ग्राम्यजीवन का पुनरुद्धार—विषय का दिग्दर्शन ... २३८
२५—ग्राम्यजीवन का पुनरुद्धार—शिक्षा २४७
२६—ग्राम्यजीवन का पुनरुद्धार—सहयोगी संस्थाएँ ... २५७
२७—ग्राम्यजीवन का पुनरुद्धार—विकास संस्थायें ... २६३
२८—ग्रम्य जीवन का पुनरुद्धार—शेषांश ... २७४
तालिका संख्या १ भारत में आबपाशी ज़मीन का रकबा
" " २ " साधारण किसान और खेत में मज़दूरी करनेवालों की संख्या
" " ३ " भिन्न-भिन्न राज्यों में पशुओं की संख्या
" " ४ " सहकारी समितियों, सदस्यों की संख्या
" " ५ " प्रान्तों के भिन्न-भिन्न प्रकारों की फसलों का क्षेत्रफल
" " ६ " खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रत्येक फसल का प्रतिशत भाग
" " ७ पंजाब में " " " " " "
" " ८ उत्तरप्रदेश में " " " " " "
" " ९ बंबई राज्य में " " " " "
" " १० मध्य प्रदेश तथा बरार में " " " "
" " ११ भारत में ईख, कपास और गेहूँ की खेती का प्रतिशत क्षेत्रफल
" " १२ भारत में गेहूँ की खेती में प्रत्येक प्रांत का प्रतिशत भाग
" " १३ भारत में कपास की फसल में " " " "

पहला अध्याय

हिंदुस्तान में भिन्न-भिन्न प्रकार के गाँव

हिंदुस्तान के गाँवों और वहाँ रहनेवालों के दैनिक कार्य का अध्ययन करने ही का नाम 'ग्रामीय अर्थशास्त्र' है। इस परिभाषा का केवल यही मतलब है कि हम गाँववालों के निजी और उनके समाज-संबंधी उन्हीं कामों का अध्ययन करेंगे जिनका कि घनिष्ठ संबंध मनुष्य-जाति के कल्याणकारी उपायों, उनकी प्राप्ति और उनके उपयोगों से है। ग्रामीय अर्थशास्त्र की ऊपर दी हुई परिभाषा से यही साफ़ मालूम होता है कि उनके सिद्धांत सार्वजनिक अर्थशास्त्र के सिद्धातों से भिन्न नहीं हैं अर्थात् सार्वजनिक अर्थशास्त्र की तरह ग्रामीय अर्थशास्त्र में भी अर्थशास्त्र के वे ही सिद्धांत पाये जाते हैं। अंतर सिर्फ़ यही है कि ग्रामीय जीवन के अनुसार अर्थशास्त्र के सिद्धांतों का उसकी ख़ास-ख़ास हालतों का विचार रख कर अध्ययन करना पड़ता है।

भारत में ग्रामीय अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए यह जान लेना बहुत ज़रूरी है कि यहाँ कितने तरह के गाँव होते हैं। एक तो वे गाँव हैं जिनके रहनेवाले सब पास ही पास एक जगह पर रहते हों। ऐसे गाँव यहाँ सर्वत्र समथल भूमि या मैदान में पाए जाते हैं, जैसे उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, इत्यादि। दूसरे वे हैं जिनके रहनेवाले आपस में एक दूसरे से दूर, अपने अपने खेतों पर घर बनाकर रहते हैं। इस तरह के गाँव भारत के पहाड़ी हिस्से में पाए जाते हैं, जैसे, गढ़वाल; कुमाऊँ, टेहरी और मध्य प्रदेश के कुछ पहाड़ी हिस्से।*

*गाँवों की आबादी का कारण कोई ख़ास व्यवस्था की बात नहीं है परन्तु वह केवल कुदरती है। यही बात हम सारे भारत के समथल हिस्सों में देखते हैं। किन्तु हिमालय आदि के पास के गाँवों की बात दूसरी है।

अब हम पहिली तरह के गाँवों को लेते हैं। ऐसे गाँव चाहे ज़िले के बीच में बसे हों या दूर, वहाँ आने-जानेवालों का सुभीता रेल, मोटर

पहाड़ी जगहों में लोगों का इकट्ठा होकर रहना असंभव है। एक दूसरे की आपस में मदद करने के लिए ही लोग एक दूसरे के पास और ख़ास कर ऐसी जगहों में, जहाँ की ज़मीन मिली हुई बस्ती बनाने के प्रतिकूल न थी, रहने लगे। पहले-पहल गाँव घने जंगलों के बीच में बसा करते थे, क्योंकि फ़सल को हमेशा हिरन और सुअरों का और मनुष्यों को बड़े बड़े जंगली जानवरों का डर लगा रहता था। इसके सिवा चारों तरफ़ घूमते हुये डाकुओं का गिरोह बना रहता था और गाँवों के लोगों में एक दूसरे से ठीक पटती नहीं थी। इससे इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वहाँ की अवस्थाओं को देखकर कहीं कहीं एक ख़ास व्यवस्था के साथ गाँव बसाये गये हों। इस तरह गाँवों की व्यवस्था करने का एक दूसरा कारण भी था। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि एक दल का दूसरे दल से जो संबंध था, उसका भी, गाँवों की व्यवस्था और परिमाण आदि निश्चित करने में हिस्सा रहा है। उत्तर-प्रदेश और पञ्जाब के गूजर, जाट और अहीर आदि कुछ किसान लोग अब भी अपना जातीय समुदाय क़ायम रखे हुए हैं। वे केवल अपना निज का एक गाँव ही नहीं बसाते बल्कि एक बड़े भारी हिस्से तक फैले रहते हैं। अहीरों और जाटों के ऐसे उपनिवेश मथुरा ज़िले और उत्तर-प्रदेश के कुछ पच्छिमी भागों—जैसे बुलंदशहर, मेरठ, सहारनपुर, आदि में पाये जाते हैं। गूजर और जाटों के ऐसे उपनिवेश सारे पञ्जाब में पाये जाते हैं।

पहाड़ों में—जहाँ जगह कम होती है और जहाँ जुताई-बुआई के लायक़ ज़मीन टुकड़ों में इधर-उधर बँटी रहती है—गाँवों की झोपड़ियाँ भी कुछ यहाँ और कुछ वहाँ रहती हैं। यहाँ किसानों के मकान उनके खेतों में बने रहते हैं। उनके लगान आदि के प्रबंध करने के लिए उनमें से कुछ खेतों और कुछ झोपड़ियों को मिलाकर एक गाँव बना देते हैं।

या नाव द्वारा हो सकता हो या वे ऐसे सुभीते से दूर हों, वहाँ की बस्ती गाँव के बीचोबीच होती है। गाँव की बस्ती के चारों तरफ़ पोखर होते हैं जो भिन्न-भिन्न जगहों में तलैया या कुलम आदि के नाम से पुकारे जाते हैं। इन्हीं पोखरों और तलैयों में से मिट्टी निकाल-निकाल कर गाँवों के घर बनाये गये थे। अब इन्हीं के चारों तरफ़ गाँव का सारा कूड़ा-कर्कट और गाय-बैलों का गोबर फेंका जाता है। हर एक गृहस्थ अपने अपने घर के कूड़े आदि की अलग अलग ढेरी बनाता है। (मद्रास राज्य में कूड़े-कर्कट और गोबर बहुधा घरों के पिछवाड़े की ओर रखे जाते हैं जहाँ कि कुछ साग-पात बोया जाता है।)

इन्हीं पोखर आदि की ही क़तार में आस-पास जो बग़ीचे और खुली हुइ जगहें होती हैं; वहाँ उन लोगों का खरिहान रहता है। इसके बाद खेत मिलते हैं जो तीन घेरों में बँटे रहते हैं। बस्ती से क़रीब या दूर रहने के अनुसार ही इन खेतों के तीन विभाग किये जाते हैं। क्योंकि इसी पर उनमें खाद पहुँचाना निर्भर है। इन खेतों का पहला घेरा गोंड़ा, गोहन या गोयड कहलाता है, दूसरा मंझा और तीसरा घेरा हार या पालू कहलाता है। आबादी भी जाति जाति के लिहाज़ से भिन्न-भिन्न-मुहल्लों में बँटी रहती है। ग्रामीय अर्थशास्त्र में किसी भी गाँव के भिन्न भिन्न जाति के लोगों की व्यवस्था उस गाँव की उत्पत्ति पर निर्भर है।*

---

*भारत के गाँवों की उत्पत्ति नीचे लिखे हुये दो में से एक तरीक़े से हुई है। या तो किसी जाति के या एक पंथ के ही कुछ लोग एक जगह आकर बस गये हों और वही बस्ती आगे चलकर एक गाँव बन गया हो, या किसी एक आदमी ने किसी कारण से उस बस्ती को बसाया हो। बैडन पावल साहब ने पहले प्रकार के गाँवों को जातीय या साम्प्रदायिक गाँव (Tribal villages) और दूसरे प्रकार के गाँवों को असाम्प्रदायिक और अजातीय गाँव कहा है। पहले प्रकार के गाँवों की उत्पत्ति के बारे में उनका कहना है कि या तो किसी जाति के या क़ाफ़िले के लोगों ने—

पर अक्सर ऊँची जाति के लोग गाँव के बीच ही में रहते हैं और सब से नीच जाति के लोग गाँव के किनारे-किनारे रहते हैं। लोगों के

जिनकी संख्या काफ़ी रही हो—उस ज़मीन को जीत लिया हो और वहाँ की ज़मीन को आपस में बाँट लिया हो, या कोई एक ही कुटुंब अपने बहुत से बंधु-बांधवों के साथ पहले किसी एक जगह में आकर बस गया हो और दो चार पीढ़ी के बाद उसी कुटुम्ब के नाती पोते वहीं पर अपना अपना घर बनाकर रहने लगे हों। यह ठीक पता नहीं लग सकता कि इन दो में से किस तरीक़े से जातीय या साम्प्रदायिक गाँवों की उत्पत्ति हुई है पर इतना ज़रूर है कि इन में दूसरे प्रकार के गाँवों की अपेक्षा ज्यादातर एक ख़ासियत देख पड़ती है। जातीय गाँवों में लगभग सभी किसान एक ही जाति या एक ही कुनबे के होते हैं, केवल नौकर-चाकर दूसरी जाति के होते हैं।

दूसरे अजातीय गाँव हैं। इन गाँवों की उत्पत्ति बहुधा इस प्रकार से होती है। किसी भी एक कुटुम्ब के लोगों ने जब देखा कि उनका सारे का सारा गाँव लोगों से आबाद हो रहा है तो वे लोग दूसरी जगह की तलाश में निकले और उसको आबाद कर लिया। ऐसा कई जगह होता आया है और अब भी कहीं-कहीं ऐसा होता है। ऐसा उस समय हुआ है जब कि सरकार ग़ैर आबाद ज़मीन को - जिस पर अब तक खेती नहीं की गई थी —किसी उत्साही या उद्यमी किसान को खेती के लिए दे देती है। मिस्टर बेनेट के शब्दों में ऐसे गाँव भिन्न-भिन्न जाति के कुछ लोगों का एक समुदाय ही है। ये लोग गाँव की सीमा में रह कर खेती बारी के ज़रिये अपनी जीविका चलाते हैं। आपस में एक दूसरे की रक्षा के विचार से या उस ज़मीन पर अधिक दिनों तक रहते-रहते उससे और वहाँ के रहने वालों से प्रेम हो जाने से लोग एक प्रकार से इकट्ठे होकर रहते हैं। ऐसे भी कुछ उदाहरण मौजूद हैं जहाँ कि एक ही आदमी द्वारा बसाये हुए गाँव के सभी लोगों में बराबर-बराबर ज़मीन बाँटने की प्रथा हो गई है या यह बँटवारा वहाँ के रहनेवालों के धन या उनके हल (खेती करने की शक्ति का एक

रहने के घरों के सिवाय हर एक गाँव में एक आम जगह होती है जिसमें सभी लोग आकर विश्राम या किसी सार्वजनिक कार्य के लिए आपस में मिल सकते हैं। इसे चौपाल या गुडी कहते हैं।

यह चौपाल बहुधा एक नीम, पीपल या बड़ के पेड़ के नीचे एक चौरस उठी हुई ज़मीन होती है या किसी मंदिर का आँगन होता है। इसी जगह गाँव के बड़े-बूढ़े लोग रोज़ शाम को इकट्ठा होकर ग्रामसंबंधी विषयों पर वाद-विवाद करते हैं। यहीं पर पुलिस का सब-इंस्पेक्टर या उस गाँव का पटवारी या लेखपाल उन देहाती लोगों को अपना प्रभुत्व दिखलाता है। और यहीं पर कभी कोई रमता योगी अपने पवित्र चरणों से उनके गाँव को पवित्र कर गाँववालों को संत-समागम का स्वर्गीय सुख देता है। फिर हर गाँव का एक विशेष देवता होता है, जैसे दुल्हा-देव, भोंड़ देव, भैंसासुर, धननेश्री, महामाया इत्यादि। कहीं-कहीं इनके मंदिर होते हैं और कहीं-कहीं नहीं।

बिखरी हुई आबादी वाले गाँव भारतवर्ष के पहाड़ी हिस्सों में पाये जाते हैं। हर गाँव में कुछ पुरवे बसे होते हैं और प्रत्येक पुरवे में दो-दो या तीन-तीन मकान होते हैं, और हर पुरवे के साथ कुछ खेत होते हैं जो इन के बसने से पहले जंगली पेड़ों से ढके हुये थे और जिन को इन लोगों ने बराबर करके खेती के लायक़ बना लिया था। मैदानों की तरह पहाड़ी गाँवों में ऐसे बड़े-बड़े खेत बहुत कम पाये जाते हैं। इसी से ऐसे गाँवों में गोहन, मंझा और हार नामक खेतों के तीन प्रकार नहीं पाये जाते हैं।

सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से भारतीय गाँव एक ऐसी संस्था है जिसमें कुछ लोग, आपस के स्वार्थ के लिए एक समाज में रहते हैं

माप है) के अनुसार होता है। देखिए बेडन पावल लिखित "लैंड सिस्टम अव् ब्रिटिश इंडिया," भाग १, और "दि इंडियन विलेज कम्यूनिटी।"

और एक दूसरे से सहायता पाते हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी गाँव के सभी रहनेवालों की कोई एक ही संपत्ति हो या सब एक ही खेत को जोता करते हों। * इसका केवल यही मतलब है कि कुछ कुटुंब जिनकी आर्थिक स्थिति एक दूसरे से जुदा है अपने-अपने रोजगार जैसे खेती, जुलाहे या बढ़ई के काम इत्यादि चलाते हुए वहाँ रहते हैं।

---

* देहाती समाज के संबंध में सर हेनरी मेन ने अपनी किताब 'दि विलेज कम्यूनिटी' (The vill age Commun ity) में लिखा है—"एक गाँवकी ज़मीन का बहुत से लोगों में मुश्तरका होना एक नियम था और ज़मीदारों का अलग-अलग ज़मीन का मालिक होना एक विशेषता थी।" फिर ये एक जगह लिखते हैं —"बहुत से लोगों का एक जगह एकत्र होना उस ज़मीन पर ही निर्भर था जिसे वह सब साथ-साथ जोतते थे। पर ग्रामीण समाज की यह परिभाषा भारत के किसी गाँव के लिए लागू नहीं हो सकती। भारतीय ग्रामीण समाज के लिए हमें किसी ऐसे शब्द का उपयोग न करना चाहिए जिसका अर्थ किसी प्रकार साम्यवादी (Commun istc) हो। 'समाज' शब्द का अर्थ केवल यही हो सकता है कि कई गाँवों में कुछ कुटुम्ब एक ऐसी प्रथा के नीचे रहते हों जिससे वे किसी ज़मीन के सहयोगी किसान होते हैं। इसका यह मतलब नहीं निकलता कि उन सबों की एक ही ज़मीन व सब चीज़ें एक ही होती हैं। (कैंपबेल, माडर्न इंडिया, पृ० ८०-६०)। समाज का केवल यही अर्थ होता है कि वह एक जन-समुदाय है जो एक गाँव में रह कर अपने-अपने भिन्न भिन्न अधिकारों के साथ वहाँ आस-पास के खेतों में खेती-बारी करते हों। इसी प्रकार मिस्टर बेनेट गोंडा के १८७२-७४ ईस्वी वाले बंदोबस्त की रिपोर्ट पृ० ४५, ४६ में लिखते हैं —"मैं ग्रामीण समाज का यही अर्थ लगाता हूँ कि वह एक ऐसा जन-समुदाय है जो एक गाँव में रहता है और जिसमें कि लोग खेती-संबंधी दूसरे काम करके अपनी-अपनी जीविका चलाते हैं।"

जीवन-निर्वाह के उपायों को इकट्ठा करने में कुटुम्ब एक जीव माना जाता है। इस कुटुम्ब के लोग जितने प्रकार के धंधों में लगे हों उन सब का स्थायी और अस्थायी मूलधन उस कुटुम्ब नामक जीवन का ही होता है। इसके सिवाय दूसरी बातों में भी कुटुम्ब एक जीव समझा जाता है। हर एक गाँव में कई किसानी पेशेवाले कुटुम्ब रहते हैं, चाहे वह ज़मीन जिसपर वे खेती करते हैं, उन्हीं की हो या वे लोग उसके लिए सरकार को लगान देते हों। ज़मींदार या मालगुज़ार जब वह गाँव में रहता था तो वह बहुधा अपने गाँव की आबादी के बीच में घर बना कर रहता था और वह समाज का अगुवा समझा जाता था। गाँव के सारे लोग उसी से सारे झगड़ों का निबटारा करा लेते थे। जमीदारी उन्मूल के बाद उत्तर प्रदेश में अब यह पद ग्राम पंचायत के सभापति को मिलता है।

भारतीय गाँवों के किसानों के सिवा और भी बहुत से ऐसे कुटुम्ब रहते हैं जो कि खेती से कुछ संबंध रखते हुए दूसरा रोज़गार करते हैं। लगभग सभी गावों में बढ़ई और लुहार रहते हैं जो कि किसानों के हल तथा अन्य ज़रूरी चीज़ों को बनाते या सुधारते हैं। वहाँ कुम्हार, तेली, जुलाहे आदि भी रहते हैं जो कि गाँव की सारी जरूरतें पूरी करते रहते हैं। हर एक गाँव में नाई, धोबी, मोची, मेहतर, कहार और भिश्ती रहते हैं जो हमेशा गाँववालों की सेवा करते हैं। फिर अक्सर गाँव में पुरोहित या मौलवी भी रहते हैं जो तिथि-त्योहारों पर जजमानों का काम कराते रहते हैं। ऐसे लोगों की नौकर की तनख़्वाह अक्सर हर एक फ़सल के बाद वहाँ के प्रचलित नियम के अनुसार अनाज में ही दी जाती है, पर अब जब लोगों का शहर में आने-जाने का सुभीता होने लगा है और लोगों के विचार भी बदलते जा रहे हैं तो अनाज की जगह सिक्के में वेतन देना शुरू कर दिया है।

हर एक गाँव में साहूकार होता है जो गाँव के लोगों को बहुधा रुपया ब्याज पर दिया करता है। भिन्न-भिन्न स्थानों में इस साहूकार के

पृथक्-पृथक् नाम हैं, जैसे सावजी, महाजन, धनी, चेट्टी आदि। गाँव की उपज के संबंध में वह शहर और गाँव के बीच बहुधा एक दरमियानी आदमी का काम करता है। जीवन की अन्य ज़रूरी चीज़ें, जैसे गुड़, नमक, तम्बाकू आदि भी वह बेंचता है। वह बड़ा भला और इज़्ज़तदार आदमी समझा जाता है। दूसरों को तो मदद देता ही है पर साथ ही वह अपने लिए भी मनमाने टके पैदा कर लेता है। उसके ब्याज की दर बहुत ज़्यादा होती है पर साथ ही बेचारे की ज़िम्मेदारी बड़ी और ख़तरा भी बहुत रहता है।

अब जन संख्या की बढ़ती के साथ-साथ गाँव में ऐसे लोग भी पाये जाते हैं जिन्हें हम बिना ज़मीन के मज़दूर कह सकते हैं और जिन का पाया जाना अब ग्रामीय अर्थशास्त्र के लिहाज़ से मार्के की बात हो गई है। पहले ज़माने में भी हर एक गाँव में चमार, पासी आदि जाति के बहुत से मज़दूर हुआ करते थे जो अनाज लेकर किसानी कारबार में दूसरों की मज़दूरी किया करते थे। अब ऐसों की संख्या बहुत बढ़ गई है और उन्हें अनाज की जगह अब पैसे भी मिलने लगे हैं। उनमें से कुछ बड़े-बड़े कारख़ानों वाले शहरों में चले जाते हैं और वहाँ से रुपया पैदा कर अपने घर भेजते हैं। जब कभी घर वापस आ जाते हैं तो खेती शुरू कर देते हैं। उनमें एक ख़ास बात यह होती है कि उन्हें खेती का अनुभव तो होता नहीं, वे लोग लगान बढ़ा कर देने लगते हैं क्योंकि वे खुद बहुत सा रुपया शहर से कमा कर लाये रहते हैं। इस प्रकार लगान बढ़ जाने से वहाँ के पुराने पेशेवाले किसानों की बड़ी हानि होती है।

गाँवों का शासनकार्य

हर एक गाँव का एक मुखिया होता है जो मुक़द्दम, पटेल, मुखिया, वलियार आदि के नाम से पुकारा जाता है। उसके नीचे एक या दो

चौकीदार होते हैं जो गाँव में पुलिस का काम करते हैं। गाँव की सारी कारवाई की रिपोर्ट पहले उसके पास पहुँचती है और फिर अगर उसकी तबीयत आ गई तो उसके बाद सरकिल पुलिस अफ़सर या तहसीलदार को ख़बर लगती है। गाँव में चोरी आदि की जाँच पड़ताल या अन्य दूसरे काम गाँव का मुखिया ही करता है। उसे लोगों से लगान वसूल करने से कोई मतलब नहीं रहता।

गाँव का हिसाब-किताब रखने वाला भी एक अफ़सर हर एक गाँव में रहता है। उसे पटवारी या लेखपाल या करनाम कहते हैं। गाँव के हर एक किसान के खेत का नाप और हिसाब उसके पास रहता है। नगरों के आस-पास जिन स्थानों में जमींदारी प्रथा का अभी तक उन्मूलन नहीं हुआ है, भिन्न-भिन्न ज़मींदारों की ज़मीन का हिसाब पटवारी के खेवट नाम के रजिस्टर में रहता है और साधारण किसानों के खेत, उनके हक़-हक़ूक़ात का हिसाब खतौनी नाम के रजिस्टर में होता है। ऐसे सब गावों में जहाँ जमींदारी का उन्मूलन हो चुका हैं,पटवारी के पास केवल वही रजिस्टर रहता है जिसमें किसान के हक़-हक़ूक़ात लिखे हों। इसके सिवा हर एक पटवारी के पास उस गाँव का एक नकशा होता है जिसे शजरा कहते हैं जिसमें हर खेत के नंबर पड़े रहते हैं। एक ख़सरा या खेत-बहीखाता होता है जिसमें शजरे के अनुसार सब खेतों की एक फ़ेहरिस्त होती है। उन खेतों के संबंध में कुछ ख़ास बातें होतीं हैं, जैसे (१) किसानी के हक़ में तबदीली, (२) किसान का नाम, (३) फ़सल और सिंचाई की चर्चा। उसके पास जमाबन्दी नाम का एक बहीखाता भी होता है जिसमें किसानों की पटाई हुई रक़में लिखी जाती हैं। पटवारी या लेखपाल हर एक गाँव के लिए बहुत आवश्यक है। अगर किसी किसान को यह पता लगाना है कि उसके पास कितनी ज़मीन है और उसे कितना लगान देना पड़ेगा या अगर किसी व्यक्ति को यह पता लगाना है कि किसी किसान के पास उसकी कितनी ज़मीन है और उसका कितना

लगान है तो उसे पटवारी या लेखपाल के पास जाना पड़ता है। अगर किसी गाँव में दो या अधिक दल किसानों के हो गये तब तो सब का मालिक यह पटवारी ही हो जाता है और मौक़े-मौक़े से दोनों को कचहरी में मुक़दमें लड़ा-लड़ा कर मिटा देता है।

———

दूसरा अध्याय

खेती की आर्थिक विशेषताएँ

हम पहले यह कह चुके हैं कि गाँवों में रहनेवालों में से अधिकतर लोग खेती-बारी ही करते हैं। इसलिए ग्रामीय अर्थशास्त्र के अध्ययन करने में हमें सब से पहले खेती-बारी के अर्थशास्त्र के नियमों की ओर ध्यान देना चाहिए। खेती अवश्य ही अर्थशास्त्र के अन्यान्य पहलुओं पर निर्भर है, तो भी उसमें कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो कि उसे उद्योग-धंधे से अलग कर देती हैं और कुछ ऐसी भिन्न अवस्थाएँ पैदा कर देती हैं जिसके नीचे सार्वजनिक अर्थशास्त्र के नियम चालू रहते हैं। खेती और तिजारत में कुछ विभिन्नताएँ हैं। दोनों तरह की चीज़ों को पैदा करने और उनको बेच देने के नियमों में कुछ ख़ास विभिन्नताएँ हैं, उनका वर्णन हम यहाँ करते हैं।

(१) खेती और उद्योग-धन्धे में सब से अधिक जानी हुई विभिन्नता तो यह है कि खेती ज़्यादातर प्रकृति देवी की कृपा पर निर्भर रहती है। समय, आब-हवा, ऋतु और स्थान इत्यादि का उद्योग-धंधे से बड़ा सम्बन्ध है, पर खेती से तो इनका ऐसा घना सम्बन्ध है कि उसे कोई अलग नहीं कर सकता। इसके सिवा खेती पर टिड्डी-दल आदि कीड़ों व वनस्पति और ढोरों की तरह-तरह की बीमारी का भी बड़ा असर पड़ता है। इन सब बातों के कारण उपज बहुत ही अस्थिर और अनिश्चित सी रहती है। भारी खेती करने से ज़रूर ही इन सब अड़चनों का असर कुछ कम सा हो जाता है; पर जहाँ एक ख़ास परिमाण में खेती हो रही है या जहाँ कहीं हम एक ही किसान की खेती की ओर ध्यान देते हैं तो बड़ी मुसीबतों का सामना करना पड़ता है।

(२) खेती के काम में अन्य उद्योग-धंधों की बनिस्बत मशीन वग़ैरह बहुत कम काम में लाई जा सकती है। यद्यपि हमने हिंदुस्तान में अभी खेती की मशीनों और आजकल के उपायों को काम में लाना शुरू ही किया है पर देखें हम कहाँ तक उनका उपयोग बढ़ा सकेंगे। एक ख़ास परिमाण में खेती के लायक़ ज़मीन होने के कारण ही खेती की मशीनों का उपयोग सीमा के भीतर हो सकता है। उद्योग-धंधे में तरह तरह से प्रकृति के ऊपर क़ाबू कर लेने से बहुत कम बाधाएँ आती हैं। व्यापारिक संघ-शक्ति तथा ख़ास जानकारी से उपज की हमेशा बढ़ती होती रहती है। खेती में चाहे कितनी ही उन्नति की जावे मशीनों को काम में लाने का बहुत ही कम मौक़ा है। इसी कारण से उद्योग-धंधे को बनिस्बत खेती में अस्थायी मूलधन स्थायी से कहीं ज़्यादा होता है।

(३) चूँकि खेती में भूमि का बड़ा ऊँचा पद रहता है इससे अगर उसी खेत में फ़सल पैदा करने के दूसरे हथियारों को बढ़ाकर के उपज को बढ़ाने की कोशिश की जावे तो उसी उपज में पहले के हिसाब से अधिक ख़र्चा लगेगा। पर व्यापार की दशा इससे विपरीत है। खेतों में यह अवस्था कुछ हद तक अधिक ज़मीन लगाकर या मशीनों का उपयोग कुछ बढ़ा कर रोक दी जा सकती है। परंतु आगे चलकर ये दोनों उपाय भी बेकाम हो जावेंगे। इस तरह से ज़मीन बढ़ाते रहने पर हर एक देश में यह अवस्था आ जावेगी जब कि हमें खेती के लायक और ज़मीन न मिल सकेगी। जब यह अवस्था आ जाती है तो प्रति बीघा अधिक फ़सल पैदा करना तो दूर रहा, उस ज़मीन के उपजाऊपन को बनाये रखने में इतनी तकलीफ़ें उठानी पड़ेंगी कि मशीन और मूलधन के लगाने से जो कुछ अधिक फ़ायदा होता रहेगा वह भी तहस-नहस हो जावेगा। आगे चलकर खेतों की 'उपज बढ़ाने में खर्च बढ़ता है' सिद्धांत के आगे सिर झुका देना पड़ेगा। इस सिद्धांत को क्रमागत-ह्रास (Law of diminishing returns) कहते हैं।

(४) खेती के मूलधन का एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना बहुत कम हो सकता है। अर्थशास्त्र के सारे कार्यक्षेत्र में उसके मुख्य सिद्धान्त लागू होते हैं। यदि एक आदमी एक खेत से अपना पेट नहीं पाल सकता तो वह उसे छोड़ देगा। अगर उस खेत में पैदा होने वाली फ़सल की कीमत कम हो गई तो वह उसमें दूसरी फ़सल बोना शुरू कर देगा। लेकिन तो भी किसी भी उद्योग-धन्धे की अपेक्षा ज़मीन में मूल-धन के एक जगह से दूसरी जगह हटा देने से, लाभ में बहुत बड़ा फ़र्क हो जाता है। मूलधन तरह तरह की हालतों में, तरह तरह की मात्रा में एक जगह से दूसरी जगह जाता है। 'स्टाक एक्सचेंज' में बिल्कुल थोड़ा सा फ़र्क आने पर हिस्से के बेचने या ख़रीदने का मौक़ा आ जाता है। परंतु ज़मीन की हालत इससे बिल्कुल विपरीत है। भूमि पर से मूलधन उठा लेने से बड़ा झंझट और नुक़सान उठाना पड़ता है। फिर ज़मीन में भी—एक किसान की ज़मीन और एक शहर में रहने वालों की ज़मीन में—बड़ा अंतर है। खेत सिर्फ खेत ही नहीं है वह किसान का सर्वस्व है। तकलीफ़ें आने पर भी किसान आशा पर आशा लगाये अपने भाग्य को टटोलते हुए अपने खेत का पिंड अंत तक पकड़े रहता है।

(५) किसान का उसके खेत की उपज के मूल्य पर वश नहीं रहता। लेकिन उद्योग-धंधे या व्यापार में, चाहे वह किसी तरह का हो, व्यापारी बहुधा अपनी चीज़ों का दाम अपने कब्ज़े में रखता है। ख़ास कर जब कि उसके मुक़ाबले वाले बहुत कम रहते हैं तब तो उसे और भी सुभीता पड़ता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के लोहे के कारख़ाने के समान बड़ी कंपनियाँ तो अपनी चीज़ों के ऐसे दाम लगाती हैं जिसे कि उनके मुक़ाबले वालों को भी मानना पड़ता है। खेती में यह बात नहीं है। भारत के २४ करोड़ ६० लाख किसानों में से हर एक का अनाज के बाज़ार की हालतों पर इतना कम असर होता है कि उपज के दाम लगाने की नीति को वे सँभाल नहीं सकते। चाहे एक किसान

अपने हिसाब से कम पैदा करे वा अधिक, उपज की क़ीमत पर उसका बहुत कम असर होता है। यद्यपि उपज और बाज़ार की दशा में आपस में संबंध रहता है पर यहाँ यह कह देना उचित ही होगा कि व्यापार में किसी चीज़ के पैदा करनेवाले का बाज़ार पर बड़ा क़ब्ज़ा रहता है; पर खेती में इसके विपरीत बाज़ार की हालतों का किसान पर बड़ा असर पड़ता है। इससे हमारे पहले कथन का समर्थन होता है कि किसान भविष्य में उपज की क़ीमत घटने या बढ़ने की आशा से अपनी उपज बदल न देगा।

(६) खेती में व्यापार की तरह उपज की कीमत घट जाने पर भी किसान—जो कि अपने लागत मात्र खर्च पर ही फ़सल पैदा करता है—अपनी खेती छोड़ नहीं देता। अर्थशास्त्र के विचार से साधारण तौर पर, बराबरी का ख्याल रखते हुए अलग-अलग व्यापारियों के अलग-अलग दाम होते हैं। हमेशा कम या ज़्यादा समझदार, कम या ज़्यादा योग्य, कम या ज्यादा हिम्मतवाला बिरला ही भाग्यवान व्यापारी होता है। किसी भी समय किसी भी चीज़ का दाम बहुधा उतना ही हो जाया करता है जितना कि उसका लागत मात्र खर्च होता है। बहुत से तो उस रोज़गार से अलग हटने लगते हैं क्योंकि एक बार की पैदावार में उन्हें बाज़ारू भाव से अधिक ख़र्च करना पड़ता है। और बहुत से लोग जो इसमें अपनी अधिक आमदनी होते देखते हैं तो उस रोज़गार में ज़्यादा दिलचस्पी लेने लगते हैं। पर पैदावार की दूसरी-दूसरी अवस्थाओं के अनुसार उस पैदावार का लागत मात्र ख़र्च बदलता रहता है और उस चीज़ का दाम ले-दे कर के लागत मात्र ख़र्च पर ही आ जाता है। नतीजा यह होता है कि जो रोज़गारी लागत मात्र पर भी अपनी चीज़ पैदा नहीं कर सकता वह उस रोज़गार से हाथ खींच लेता है और वह उस चीज़ के एक दाम तय करने में ज़्यादा असर नहीं रखता है। जो लागत से भी कम मूल्य में पैदा करके फ़ायदा उठाता रहता है उसका

उस चीज़ के मूल्य निश्चित करने में बड़ा असर रहता है और वह उसके लागत का ख़र्च कम कर देता है।

खेती में लागत से अधिक ख़र्च में पैदा करने वाला किसान अपनी खेती में व्यापार के अलावा कुछ ज़्यादा दिनों तक रुक सकता है। चूँकि खेती में मूलधन और मेहनत में कम अन्तर है, इसलिए साधारण उद्योग-धंधे की अपेक्षा ऐसे किसानों की संख्या ज्यादा हो सकती है। ऐसे किसानों के ज़्यादा देर तक किसानी करते रहने के कारण ज़रूरत से कुछ ज्यादा पैदावार होने लगती है जिसका नतीजा अक्सर बुरा होता है। साधारण व्यापार में साधारण पूँजी-पति प्रथा के अनुसार खपत से माँग बहुधा ज्यादा होने लगती है। ऊपर कहे गये किसानों की तरह व्यापार में व्यापारियों के अभाव से या ऊपज में कमी होने से उपज की वह अवस्था जल्दी ही आ जाती है जब कि खपत और माँग की तादाद एक सी हो जाती है। और वह व्यापारी जो लागत मात्र ख़र्च में अपनी चीज़ पैदा नहीं कर सकता दूसरा रोज़गार शुरू कर देता है जिसमें उसे लाभ होता है। पर खेती में ऐसे किसानों के लिए एक क़िस्म की खेती से दूसरी खेती में जाना या खेती छोड़कर दूसरे रोज़गार में पड़ना कठिन हो जाता है। मान लिया जाय कि वह सभी तरह की खेती में लागत मात्र ख़र्च में उपज पैदा नहीं कर सकता, तो भी वह अपने खेतों को छोड़ दूसरे रोज़गार में लग जाने में अपने सामने कठिनाइयाँ पाता है। यदि उसने अपनी खेती छोड़ दी तो खेत तो बना ही रहेगा। खेत तो सभी छोड़े जाते हैं और यह दशा किसान की कमज़ोरी से नहीं परंतु ज़मीन की प्राकृतिक अवगुणों से हो जाती है। किंतु भारतवर्ष में यह भी असंभव है, क्योंकि अव्वल तो भारतवर्ष में रोज़गार ही इतने कम हैं कि एक ग़रीब किसान अपनी खेती छोड़कर किसी दूसरे रोज़गार का सहारा ले सके, दूसरे हिंदुस्तानियों में बपौती ज़मीन पर इतना ज्यादा प्रेम होता है कि वे बड़ी-बड़ी मुसीबतें सहकर भी उसे छोड़ना नहीं चाहते।

(७) खेती और व्यापार में आख़िरी विभिन्नता मज़दूरी के बारे में पाई जाती है। अवश्य ही ऐसे बहुत से रोज़गारी हैं जो कि अपने आप ही या अपने ही बाल-बच्चों की सहायता से अपना रोज़गार चलाते हैं और कुछ ऐसे भी किसान हैं जो कि बाहर से कुछ मज़दूर अपने काम के लिए लगाते हैं, परन्तु यह तो मज़दूरी के सार्वजनिक नियमों के कुछ अपवाद हैं। नियम तो यह है कि व्यापार के विपरीत खेती में किसान क़रीब-क़रीब सारी मज़दूरी अपनी ही लगाता है और जैसे-जैसे औज़ारों का उपयोग बढ़ता जाता है वैसे-वैसे बाहरी मज़दूर घटते जाते हैं।

(८) साधारण उद्योग-धंधे की अपेक्षा खेती में पैदावार के बेचने का खर्चा ज्यादा होता है। इसके तीन प्रधान कारण हैं—

पहला कारण यह है कि खेती की उपज को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने का दाम कुछ अधिक पड़ता है क्योंकि खेती की उपज की चीज़ें आकार और वजन में कुछ भारी होती हैं। ऐसी हालत में एक लाख के मोती के भेजने में जो ख़र्चा लगेगा उससे कहीं ज्यादा ख़र्चा एक लाख के गेहूँ में लगेगा। यद्यपि माल भेजने का कुछ ऐसा इन्तज़ाम किया गया है कि जो चीज़ें सस्ती परन्तु आकार में बड़ी हों उन पर कम किराया लगाया जावे। पर यह एक साधारण बात ही है। खेती की उपज के उपयोग करनेवाले को उसका जो मूल्य देना पड़ता है उस मूल्य का ज्यादा हिस्सा उस उपज के आने-जाने के ख़र्च का होता है पर व्यापार में यह बात नहीं होती।

दूसरा कारण यह है कि खेती की पैदावार उसके उपयोग करने वाले के हाथों में पहुँचने के पहले कई-कई अवस्थाओं को पार करती है। मकान बनाने का लोहा उसके पैदा करने वालों के पास से एकदम मकान बनाने वाले के पास पहुँचता है। पर खेती की पैदावार उपयोग करने वाले के पास पहुँचने के पहले कई बार हाथ बदलती है। गेहूँ पहले खेत से काटा जाता है, फिर वह धीरे-धीरे बाज़ार पहुँचता है, फिर वह

थोक फ़रोश के पास जाता है। फिर उसे छोटा रोज़गारी खरीदता है, फिर चक्कीवाले के पास जाकर उसका आटा पीसा जाता है। तब वह खाने वाले के पास पहुँचता है। इस तरह बार-बार उस उपज के हाथ बदलने से उसकी क़ीमत बढ़ती जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि उस उपज का सच्चा उपयोग करने वाला या अपने ख़ास काम में लाने वाला जो उसका दाम ख़र्च करता है उस दाम में से वास्तविक उपज का दाम तो बहुत थोड़ा रहता है, पर बीच-बीच में जो उसे तरह तरह की अवस्थाओं से पार होना पड़ता है उन्हीं अवस्थाओं में ज्यादातर दाम पच जाता है। कारख़ाने वाली चीज़ों में यह बात कम होती है।

तीसरा कारण यह है कि खेती में संघ-शक्ति या कोई विशेष अवस्था नहीं होती। लाखों में से हर एक किसान पैदावार की तरह बेचने के बारे में भी तरह-तरह का विचार करता जाता है। किसानों में यह बात नहीं हो सकती कि वे सब मिलकर एक उसूल या एक विचार को आदर्श मान कर काम करें। आजकल रोज़गार-धंधे में ज्यादा पैदावार, सफल सहयोगिता इत्यादि बड़े मार्के की बातें हैं। पर किसान को सिर्फ़ साधारण तरीक़ों से या बिना किसी प्रकार की सहयोगिता के ही संतुष्ट रह जाना पड़ता है, क्योंकि वे भारत के कोने-कोने में इस प्रकार फैले हैं कि उनकी कोई संघ-शक्ति कायम करना महा कठिन काम है।

तीसरा अध्याय

खेती और खेती के योग्य भूमि

पौधों के उत्पन्न करने का अर्थ है एक प्रकार के अनेकों पौधों को इकट्ठा करना ताकि उपज सरलता से एकत्रित हो। इससे उपज आसानी से इकट्ठा ही नहीं हो जाती किंतु जैसा कि हम देखेंगे इसके साथ ही उपज का परिमाण भी बढ़ जाता है। एक ही जाति के बहुत से पौधों को इस प्रकार से इकट्ठा करने को फ़सल कहते हैं। जब हम ऐसी फ़सल का जंगलों की क़ुदरती पैदावार से मुक़ाबला करेंगे तब हमें खेती का मतलब साफ़ प्रकट हो जावेगा। बिना जोती हुई ज़मीन पर गिर कर इकट्ठे हुए बीजों से जो पौधे आपही निकल पड़ते हैं उन्हें उनकी क़ुदरती उपज कहते हैं। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि इस प्रकार जितने पौधे होते हैं उनसे कहीं ज़्यादा तादाद में बीज गिरे रहते हैं। इस प्रकार पौधों में एक प्रकार की प्रतिद्वंद्विता उत्पन्न हो जाती है। यह प्रतिद्वंद्विता दो प्रकार की होती है। पहली यह कि एक पौधे से उसके बीज उसके चारों तरफ़ गिर जाते हैं। इन बीजों की संख्या उस पौधे की जाति पर निर्भर है। लेकिन जिस जगह पर वे बीज गिरते हैं वह स्थान उस प्रकार के जितने पौधों को भोजन देकर पाल-पोस सकता है उतने से ज्यादा पौधे उत्पन्न करने के लायक़ तो अवश्य ही उन बीजों की संख्या होती है। इस तरह एक ही प्रकार के भिन्न-भिन्न पौधों में एक प्रकार की प्रतिद्वंद्विता होती है। दूसरी यह कि जिस स्थान में किसी एक प्रकार के पौधे के बीज गिरते जाते हैं उसी स्थान में दूसरे प्रकार के पौधों के भी बीज गिरते जाते हैं। इन चीज़ों से भी पौधे उत्पन्न होते हैं और इस तरह भिन्न-भिन्न प्रकार के पौधों में आपस में प्रतिद्वंद्विता होती है। इस प्रकार की प्रतिद्वंद्विता के परिणाम को स्वाभाविक या सहज उत्पत्ति कहते हैं।

इनमें वही पौधे रहते हैं जो प्रतिद्वंद्विता में बाज़ी मार कर उठ खड़े हुए हैं। इस प्रकार प्रकृति के साम्राज्य में भिन्न-भिन्न तरह के पौधों या एक ही जाति के भिन्न-भिन्न पौधों में आपस में प्रतिद्वंद्विता होती रहती है, और जो मज़बूत पौधा होता है वही बढ़ने लगता है। जितने जंगली पौधे इस वक्त मौजूद हैं वे सब सदियों की प्रतिद्वंद्विता से बाज़ी मार कर खड़े हुए हैं और इसी प्रकार कई पौधे हैं जिनमें कि प्रतिद्वंद्विता की वही उपयोगितायें आ गई हैं और वे सब अब भी साथ-साथ खड़े हुए हैं। इसलिए जंगल में तरह-तरह के पेड़ पाये जाते हैं। पर ऐसे बहुत से उदाहरण देखने में आते हैं जहाँ कि एक ही तरह के पेड़ लगातार बहुत दूर तक फैले रहते हैं। साल का जंगल इसका बड़ा अच्छा उदाहरण है। इसी तरह हरिद्वार के नदी पार दूसरी तरफ़ के शीशम के जंगल, गंगा के किनारे पर झाऊ के जंगल और यहाँ-वहाँ फैले हुए करील के जंगल, काँस और बाँसुरी के जंगल इत्यादि इसके अच्छे उदाहरण हैं।

जब हम फ़सल की ओर ध्यान देते हैं तो वहाँ दूसरी ही बात पाते हैं। उदाहरण के लिए गेहूँ की फ़सल को लीजिए। पहला अंतर स्वाभाविक उपज और फ़सल में यह है कि जंगल में यह प्रयत्न किया जाता है कि जितने बीज बोये जावें क़रीब-क़रीब उतने ही पौधे काटे जावें, पौधे नाहक़ ही बीच में न मर जावें। जितनी कुल फ़सल होती है उसमें से अगले वर्ष उतनी ही उपज करने के लायक़ बीज छोड़ कर बाक़ी की सारी उपज को किसान अपने अन्य कामों के लिए रख छोड़ता है। फिर फ़सल में दो या दो से अधिक प्रकार के पौधों की प्रतिद्वंद्विता नहीं होने पाती, क्योंकि फ़सल उत्पन्न होते ही बेकार के पौधों को किसान उखाड़ कर फेंक देता है। जो कुछ प्रतिद्वंद्विता है सो केवल एक ही प्रकार के भिन्न-भिन्न पौधों में रह जाती है। खेती का यही सार है कि उसमें अन्य प्रकार के पौधों की प्रतिद्वंद्विता नहीं होती। पौधे बोने के पहले ज़मीन पर से बेकार चीज़ उठा दी जाती है और जितने बीज बोये

जाते हैं उतने पौधे उत्पन्न होकर अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्येक पौधा फ़सल पैदा करता है। प्राकृतिक उत्पत्ति की प्रतिद्वंद्विता को दूर कर देने से उस प्रतिद्वंद्विता के परिणाम भी दूर हो जाते हैं। पौधों में इस प्राकृतिक चुनाव के बदले बनावटी चुनाव पाया जाता है। और यह बनावटी चुनाव तब होता है जब कि फ़सल काटी जाती है और उत्तम पौधों की उपज अगले साल के लिए बीज के नाम से रख दी जाती हैं। पौधों के बनावटी चुनाव का आधार पौधों की वह योग्यता नहीं है जो प्राकृतिक चुनाव का आधार होती है। प्रकृति के मुताबिक़ केवल वे ही पौधे आगे बढ़ पाते हैं जो सबसे ज्यादा मज़बूत होते हैं, पर किसान के पौधों के चुनाव का आधार एक पौधे से अधिक तादाद में और अच्छे बीज पैदा होना है। प्रकृति में पौधों का चुनाव उनके बचपन में हो जाता है। खेती से प्राकृतिक प्रतिद्वंद्विता को दूर कर देने का परिणाम यह होता है कि पौधों की मज़बूती और बढ़ने की प्राकृतिक शक्ति दूर हो जाती है। इन दोषों को दूर करने के लिए किसान को बनस्पति जीवन के उन तत्त्वों को काबू में रखना पड़ता है जिससे कि उसके पौधों को वही भोजन और वृद्धि क़ुदरती पौधों की तरह आसानी से मिलती रहे। ऐसा वह तभी कर सकता है जब कि उसे पौधों के भोजन आदि की आवश्यकताओं का ज्ञान हो।

जानवरों की दशा के विपरीत पौधे स्थायी अर्थात् एक स्थान पर अपने जीवन भर खड़े रहने वाले होते हैं और उन्हें जड़-जगत् से भोजन मिलता है। पौधे दो तरफ़ से बढ़ते हैं। उनकी जड़ें नीचे ज़मीन में और उनकी शाखाएँ ऊपर हवा में जाती हैं। उन्हें दोनों तरफ़ से भोजन मिलता है। मिट्टी, पानी और खनिज पदार्थ से उनको कई प्रकार के नमक मिलते हैं जो उन पदार्थों में सने हुए रहते हैं। हवा से उन्हें कार्बन (Carbon) नामक वस्तु मिलती है। इस तरह पौधों का नीचे और ऊपर दोनों स्थानों के तत्वों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। खेती के

प्रत्येक काम का यह उद्देश्य होता है कि पौधों को उनकी वृद्धि के लिए सब जरूरी चीजें प्राप्त होती रहें। किसानों को अपना कर्त्तव्य अच्छी तरह पालन करने के लिए यह जान लेना चाहिए कि पौधों का ज़मीन और हवा से क्या सम्बन्ध है और उन्हें उनसे कैसे भोजन प्राप्त होता है।

भूमि के दो हिस्से होते हैं। एक तो परमाणु और दूसरा हर दो परमाणुओं के बीच की जगह। इन दोनों की मिक़दारों का संबन्ध बड़े महत्व का विषय है। अच्छी तरह समझने के लिए हम अपने सामने एक त्रिवर्गाकार पदार्थ का उदाहरण लेते हैं। इसके भीतर हम एक गोलाकार वस्तु समझ सकते हैं। इस तरह अगर हम उसके भीतर छोटे-छोटे आठ गोले रखें, या सौ हज़ार गोले रक्खें परन्तु वसूल सब में एक ही हैं और सब का मिक़दार वही है जो पहले गोले का था। पर एक ही नाम के बहुत से गोले बराबर उसमें नहीं समाये जा सकते।

मिट्टी के भिन्न-भिन्न परमाणु सब एक आकार व मिक़दार के नहीं होते। मान लीजिए दो गोलाइयों के बीच के प्रत्येक ख़ाली स्थान में भी एक-एक छोटी गोलाई है। सब गोलाकार परमाणुओं के बीच के कुछ ख़ाली स्थानों का मिक़दार बहुत थोड़ा ही रह जाताहै। इस प्रकार भिन्न परमाणुओं की असमानता का यही परिणाम होता है कि उनके बीच के ख़ाली स्थानों की मिक़दार घट जाती है क्योंकि बड़े-बड़े परमाणुओं के बीच के स्थान में छोटे-छोटे परमाणु अपना घर कर लेते हैं। इस परिणाम के विरोध करने लिए दूसरे साधन भी उपस्थित हैं। इनमें से ख़ास साधन यह है कि मिट्टी के बहुत से टुकड़े आपस में मिल कर एक ढेला बन जाते हैं, फिर ये ढेले और दूसरे ढेलों से मिल कर मिट्टी का एक बड़ा टुकड़ा बन जाता है। इस तरह एक ही ढेले के तरह-तरह के परमाणुओं के बीच में तो स्थान होता ही है, साथ ही परस्पर उन ढेलों के बीच में भी ख़ाली स्थान रह जाता है।

अब तक हमने यह मान लिया है कि मिट्टी के परमाणु ठोस होते हैं, पर यह ज़रूरी बात नहीं है। मिट्टी में मिले हुए कुछ पदार्थ जैसे कंकड़ इत्यादि में छेद होते हैं। इस दशा का वही परिणाम होता है जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं। इस तरह मिट्टी में ऐसे परमाणु मौजूद हैं जो कहीं आपस में बीच के स्थानों की मिक़दार को बढ़ाते हैं और कहीं घटाते हैं। दूसरी बात यह है कि जैसे-जैसे परमाणुओं का व्यास छोटा होता जाता है वैसे-वैसे उन परमाणुओं का क्षेत्रफल बढ़ता जाता है। इसका नतीजा यह होता है कि दो परमाणुओं के बीच का ख़ाली स्थान परमाणुओं के आकार और उनके क्रम पर निर्भर होता है।

ये दो बातें—अर्थात् परमाणुओं के बीच के स्थान के क्षेत्रफल का और परमाणुओं के क्षेत्रफल का परमाणुओं के आकार-मिक़दार पर निर्भर होना—मिट्टी की प्रधान और मार्के की बातें हैं जिन्हें हमें सदैव ध्यान में रखना चाहिए। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं इन दोनों बातों पर मिट्टी का रेतीला, मटियार अथवा चिकना होना निर्भर है, और इसका मिट्टी के पानी ग्रहण करने की शक्ति से बहुत अधिक संबंध है। हम आगे चलकर इस संबंध में विस्तार से बतायेंगे। खेती के लिए सब से पहला तरीक़ा खेत का जोतना है। यह काम हल चलाने या पटेला (पाटा या कोपर) चलाने से होता है। खेत के जोतने का मतलब यह है कि उसकी मिट्टी उथल-पुथल हो जावे जिससे उसके परमाणु आपस में इस प्रकार मिल जावें कि कोई ख़ास फ़सल पैदा हो सके। ऐसा करने से भिन्न-भिन्न परमाणुओं के बीच का स्थान और बढ़ता जाता है जिससे पौधों की जड़ें उसमें बड़ी आसानी से प्रवेश कर सकती हैं। तरह-तरह की फ़सल के लिए तरह-तरह के परिमाण में जुताई होती है। गेहूँ के लिए ख़ूब जोताई करनी पड़ती है जिसमें सब ढेले अच्छी तरह से फूट जावें और परमाणु एक दूसरे से अलग हो जावें। चने के लिए साधारणतः एक ही बार जुताई की ज़रूरत होती है।

भूमि और पानी का संबंध

यह जानने के लिए कि "भूमि सदैव सूखी ही नहीं रहती बल्कि उसमें पानी भी मिला रहता है" किसी विशेष प्रयोग की ज़रूरत नहीं है। परन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार की मिट्टी में भिन्न-भिन्न परिमाण में पानी रहता है। यही नहीं किन्तु एक प्रकार की मिट्टी में भिन्न-भिन्न काल में पृथक्-पृथक् परिमाण में पानी रहता है। जो मिट्टी खोदकर बहुत दिनों से निकाली गई है और जिसपर सूरज बहुत दिनों से गर्मी पहुँचाता रहा है उसकी अपेक्षा उसी वक़्त की खोदी हुई मिट्टी में अधिक पानी रहता है। मिट्टी के भिन्न परमाणुओं के बीच जो स्थान रहता है उसमें तथा उन परमाणुओं के चारों तरफ़ पानी पाया जाता है। साधारण अवस्था में किसी भी मिट्टी के टुकड़े में इतना पानी नहीं होता कि उसके परमाणुओं के बीच के ख़ाली स्थानों में पूरा-पूरा समा सके। बाकी जगहों में हवा होती है। पानी उन परमाणुओं के चारों तरफ़ रहता है। ज़मीन में पानी का प्रवाह भूतलाकर्षण (Surface tension) और गुरुत्वाकर्षण (Gravitation) के नियमों द्वारा होता है। भूतलाकर्षण का प्रधान कर्तव्य ज़मीन की सब से ऊपर की सतह के सब परमाणुओं में बराबर-बराबर परिमाण में पानी को क़ायम रखना है। यह दो प्रकार से होता है। हम कह चुके हैं कि प्रत्येक परमाणु के चारों तरफ़ पानी की एक झिल्ली (film) सी रहती है और जल से भरे इन परमाणुओं के बीच में भी एक ऐसा स्थान रहता है जिनमें हवा रहती है। तो भी इन परमाणुओं के चारों तरफ के पानी से परस्पर संबंध रहता है। अब सब परमाणुओं में बराबर-बराबर पानी क़ायम रखने का पहला तरीक़ा यह है। जब सब से ऊपर की सतह के एक परमाणु के चारों ओर से पानी सूखकर उड़ जाता है तो उसी सतह के पड़ोस के परमाणुओं का पानी खिंचकर इस प्रकार उस सूखे परमाणु के चारों ओर हो जाता है कि उस सतह के सभी परमाणुओं में फिर से बराबर-बराबर परिमाण में पानी हो

जावे। दूसरा तरीक़ा यह है कि जिस तरह एक ही सतह के परमाणुओं को चारों ओर के पानी में आपस में संबंध है उसी प्रकार नीचे ऊपर की सतह के हर एक परमाणु के चारों ओर के पानी में आपस में संबंध है। इससे जब ऊपर की सतह के परमाणुओं के चारों तरफ़ का पानी सूखकर उड़ने लगता है तो उनमें नीचे के परमाणुओं से इस प्रकार पानी खिंचने लगता है कि सभी सतहों के सभी परमाणुओं में बराबर पानी हो जावे।

किन्तु ज़मीन में पानी के प्रवाह का आधार केवल भूतलाकर्षण ही नहीं है। दूसरा आधार गुरुत्वाकर्षण है। भूतलाकर्षण तो पानी को चारों ओर प्रवाहित करता है। पर गुरुत्वाकर्षण केवल नीचे की ओर ही उसे खींचता है। इससे पानी के प्रत्यक्ष प्रवाह का आधार इन्हीं दो शक्तियों के समत्व (equilibrium) पर निर्भर है। इस समत्व का यह परिणाम होता है कि हम जैसे-जैसे धरातल के नीचे जाते हैं वैसे-वैसे गुरुत्वाकर्षण की शक्ति बढ़ती जाती है और अधिक पानी मिलता जाता है। वैसे-वैसे नीचे के परमाणु के चारों ओर के पानी की झिल्ली (film) मोटी होती जाती है, और इस तरह के जलयुक्त परमाणु के बीच का अन्तर कम होता जाता है यहाँ तक कि थोड़ा और नीचे जाने से वह अन्तर एक दम लोप हो जाता है। इस अवस्था को बहुधा पानी की सतह (water-table) कहते हैं।

इस प्रकार प्रकृति-जगत् में ऊपर तो मिट्टी रहती है बीच में दूसरी तह (sub-soil) और सबसे नीचे चट्टानें होती हैं। और यदि ये चट्टानें बिल्कुल ठोस नहीं हैं—जैसा कि सिंधु और गंगा के दोआब (plain) में है तो फिर उसकी अवस्था वैसी ही होती है जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं। ऐसी अवस्थाओं में पानी की तह—वितल (subsoil) से कुछ पास रहती है। और इसके और ऊपर की सतह में जो पानी रहता है, इन दोनों में समत्व स्थापित हो जाता है। किन्तु यह समत्व

की अवस्था बहुत कम होती है और इसमें बहुत कम बाधाएँ होती हैं। मिट्टी की सतह का सम्पर्क हवा से रहता है और हवा का संबंध गति से रहता है, जिससे ज़मीन के ऊपरी परमाणुओं का पानी भाप बनकर उड़ जाया करता है। इसका नतीजा यह होता है कि गुरुत्वाकर्षण के नियम के ख़िलाफ़ नीचे का पानी ऊपर की ओर खिंचता जाता है। परंतु यदि ज़मीन के ऊपर ही पानी का परिमाण बढ़ जावे तो उनके परमाणुओं के चारों ओर ज़्यादा पानी हो जाता है, जो नीचे की ओर गुरुत्वाकर्षण के अनुसार खिंचता जाता है। नीचे की ओर इस प्रवाह को रिसना (percolation) कहते हैं। शायद हमें यह भ्रम हो कि यह पानी दो परमाणुओं के बीच के स्थान से नीचे बह जाता हो पर वास्तव में ऐसा नहीं होता है। वह मिट्टी के परमाणुओं के चारों तरफ़ की पानी की झिल्ली (film) के द्वारा ही नीचे उतरता है। मिट्टी की ऐसी बहुत कम अवस्था होती है जब कि उसमें सिर्फ़ पानी-पानी ही रह जावे। दो परमाणुओं के बीच अक्सर ख़ाली जगह होती है जिसमें हवा होती है और पानी उन परमाणुओं के चारों ओर भरा होता है। अब अगर पानी ऐसी मिट्टी पर गिरेगा तो वह ऊपर की सतह में भर जावेगा जिससे कि नीचे की सतहों की हवा भीतर ही बन्द रह जावेगी और यह बन्द हवा ऊपर के उस पानी को नीचे के परमाणुओं के चारों ओर के पानी तक, जिनकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, न आने देगी।

साधारण अवस्था में नीचे की ओर तथा सभी अवस्था में ऊपर की ओर पानी का प्रवाह भूतलाकर्षण पर निर्भर रहता है। पानी को नीचे की ओर प्रवाहित करने में उसे गुरुत्वाकर्षण से सहायता मिलती है। पर उसी पानी का जब ऊपर प्रवाह होने लगता है तो उस गुरुत्वाकर्षण से उसका विरोध होता है। इससे पानी नीचे की ओर तो किसी भी गहराई तक गिर सकता है पर पानी की ऊपर चढ़ने की शक्ति नियमित ही रहेगी। यदि मिट्टी के परमाणु बहुत बड़े और बराबर के न हुए तो

वे एक दूसरे से बहुत ज्यादा पास-पास न रहेंगे। उनकी आकर्षण शक्ति कमज़ोर पड़ जावेगी। हम देख चुके हैं कि जब मिट्टी के परमाणु छोटे होते हैं तब उस मिट्टी का क्षेत्रफल बढ़ जाता है तथा उसके परमाणु आपस में एक दूसरे से ख़ूब मिल जाते हैं। ऐसी मिट्टी में भूतलाकर्षण बड़े महत्व का काम करता है अथवा वह पानी को पानी की सतह (water-table) से बहुत ऊपर उठाता है। इससे कुछ हद तक मिट्टी के कणों के बारीक होने से उसके पानी की गति को सहायता मिलती है पर यदि मिट्टी के कण और भी महीन हों तो हमें एक और शक्ति भिन्न-भिन्न परमाणुओं में काम करती हुई मालूम होती है। इस मिट्टी के परमाणुओं के महीन होने की भी हद होती है जिस हद से आगे बढ़ने से उस मिट्टी के जल के प्रवाह में रुकावट पहुँचती है। पर यह अवस्था बहुत कम आती है। अब आगे ज़रा यह विचार करना चाहिए कि प्रकृतिजगत् में मिट्टी के भीतर के पानी की कितनी गति है। इस बात का केवल साधारण ज्ञानमात्र हो सकता है क्योंकि जिन बातों पर यह गति निर्भर है वे भी भिन्न-भिन्न मिट्टी और अवस्थाओं में बदलती जाती हैं।

जिन बातों पर हम अब तक विचार कर चुके हैं उनके सिवाय मिट्टी के भीतर पानी का प्रवाह बहुत कुछ उस मिट्टी की सतह की प्रकृति तथा उसकी जल-विषयक अवस्थाओं पर निर्भर रहता है। गरमी के दिनों के बाद ज़मीन जैसी कड़ी रहती है, यदि ऊपर की ज़मीन भी वैसी कड़ी, ठोस और बहुत नीचे तक सूखी हुई हो तो जब बरसात का पहिला पानी गिरेगा, तब वह ऊपर की सतह ही पर ख़ूब फैल जावेगा, जिससे ज़मीन के अंदर की हवा नीचे ही बन्द हो जावेगी और पानी नीचे न प्रवेश कर सकेगा जहाँ कि वह परमाणुओं के चारों ओर के पानी से मिल सकता और पहले-पहल ऊपर की सतह से परमाणुओं के चारों तरफ़ ही झिल्ली (film) बना पावेगा।

इस अवस्था में जब तक कि ऊपर की सतह के परमाणुओं के पानी की झिल्ली नीचे के परमाणुओं के पानी की झिल्ली से न मिल जावे तब तक पानी के नीचे की ओर बहुत धीरे-धीरे प्रवेश होगा। पर जैसे ही लगातार सभी परमाणुओं के चारों ओर पानी हो जावेगा वैसे ही उसमें उसका शीघ्र प्रवेश होने लगेगा। ऊपर के कथन से हमें यह पता लग जाता है कि मिट्टी में पानी के क़ायम रखने में जुताई का कितना प्रभाव पड़ता है। जिस फ़सल के लिए अधिक या लगातार पानी की ज़रूरत पड़ती है उसके लिए खेत की इस प्रकार जुताई होनी चाहिए ताकि उसकी मिट्टी ख़ूब महीन हो जावे। पर जिस खेत में हम ऐसी फ़सल बोते हैं जिसके लिए अधिक व लगातार पानी की ज़रूरत नहीं होती उस खेत का साधारण जुताई से ही काम निकल जाता है और हमें यह भी पता लग जाता है कि जब ख़ूब वर्षा हो रही है तो फिर मिट्टी को महीन करने के लिए ज़्यादा जुताई की ज़रूरत नहीं रहती और न उस खेत को ज़्यादा गहराई तक जोतने की ज़रूरत पड़ती है क्योंकि लगातार पानी गिरने से ज़मीन के ऊपर की सतह से और नीचे की पानी की सतह (water-table) से उचित संबंध क़ायम हो जाता है। दूसरे यह कि यदि यह संबंध क़ायम न भी हो तो भी कुछ हानि नहीं होती, क्योंकि लगातार वर्षा होने से ऊपर की उस मिट्टी को पानी मिलता ही रहता है। इसी प्रकार उस स्थान में वहाँ की मिट्टी को महीन करने के लिए अधिक जुताई की ज़रूरत नहीं पड़ती। पर जो ज़मीन सूखी है और जहाँ कम वर्षा होती है वहाँ ज़्यादा जुताई की ज़रूरत होती है ताकि ऊपर की सतह के पानी से नीचे की पानी की सतह से सम्बन्ध क़ायम हो जावे और ऊपर का पानी नीचे की सतहों में सरलता से प्रवेश कर सके। इसलिये जुताई का केवल यही उद्देश्य नहीं है कि मिट्टी खुल जावे, उसमें बीज गिरा दिया जावे और उस पौधे की जड़ ज़मीन को पकड़ ले, वरन् उसका उद्देश पानी को प्रवाहित करते रहना भी है।

और जुताई का परिमाण फ़सल-फ़सल की प्रकृति, ऋतु और स्थान-स्थान की आबहवा के ऊपर निर्भर है।

भूमि और वनस्पति-भोजन से उसका संबंध

पौधों को मिट्टी में मिले हुए पानी द्वारा भोजन मिलता है। जैसे जानवरों का भोजन कार्बनिक (organic substance) का होता है वैसे ही पौधों का भोजन अकार्बनिक पदार्थ (inorganic substance) का होता है। कुछ ऐसे तत्व हैं जो कि पौधों को पैदा करने के लिए बहुत ज़रूरी हैं और जिन्हें पौधे अपनी जड़ों द्वारा खींचते हैं। इसलिए यह विश्वास दृढ़ करने के लिए कि अमुक पौधा बहुत अच्छा होगा किसान को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह जिस मिट्टी में अपनी फ़सल उत्पन्न करना चाहता है उसमें वे तत्व उपस्थित हैं या नहीं। इन आवश्यक तत्वों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। पहले वे जो हवा और पानी से प्राप्त होते हैं, जैसे कार्बन (carbon), ओषजन (oxygen) उद्जन (hydrogen), और दूसरे वे जो मिट्टी से प्राप्त होते हैं, जैसे नोषजन (nitrogen). हरनि (chlorine), गंधक (sulphur), पोटेसियम (potassium), खटिक (calcium), मगनीसम (magnesium), और लोहा इत्यादि।

इस तरह पौधा मिट्टी से सदैव यह आवश्यक तत्व खींचता रहता है और यदि उपज को क़ायम रखना है तो जिस मिट्टी से ये आवश्यक तत्व एक बार किसी फ़सल द्वारा खींच लिए जाते हैं, उन्हें उस मिट्टी में भर देना चाहिए। पर पौधे इन तत्वों का तभी उपयोग कर सकते हैं जब कि वे घुल सकने लायक़ हों और उस मिट्टी के पानी के साथ द्रव पदार्थ होकर पौधों तक पहुँच सकें। इससे हम वनस्पति भोजन को घुलनशील और न घुलनेवाले (soluble and insoluble) पदार्थों में बाँट देते हैं। इसलिए मिट्टी की पूरी जाँच करके देख लेना चाहिए कि उसमें के

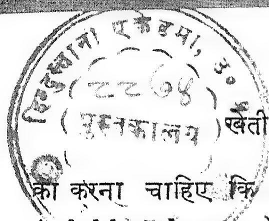
वे तत्व न घुलनेवाले (insoluble) हैं या घुलनशील (soluble) । यदि घुलनशील न हों तो उन्हें वैसा बनाने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि न घुलनेवाले पदार्थ से पौधों को भोजन नहीं मिल सकता ।

हम यह कह चुके हैं कि एक बार फ़सल बोने से, उस फ़सल के द्वारा मिट्टी के वे आवश्यक तत्व जो वनस्पतियों के भोजन हैं मिट्टी से निकल जाते हैं और उस मिट्टी में उन तत्वों की कमी हो जाती है । यही नहीं, अन्य उपायों से भी मिट्टी से वे तत्व निकल जाते हैं । पहाड़ी ज़मीन में पानी गिर कर नीचे समाता है फिर झरने के रूप में वही प्रकट होता है । इन झरनों द्वारा वे तत्व जो द्रव बनकर वनस्पति को भोजन पहुँचाते हैं, बाहर निकल कर नदियों में बह जाते हैं । समतल ज़मीन में भी बहुधा पानी नीचे प्रवेश कर पानी की सतह (water-table) को ऊपर उठा देता है जिससे पानी ऊपर से प्रवाहित होकर उन तत्वों को साथ लेते हुए नदी में जा मिलता है । इसके सिवा साल में एक ऐसा समय भी आता है जब कि ख़ास कर गंगा के मैदानों में पानी ऊपर को फूट पड़ता है और अपने साथ उन तत्वों को बहा ले जाता है । इसलिए पौधा अपने विस्तार के लिए केवल उसी भोजन पर निर्भर नहीं रहता जो उसे उसकी जड़ की पहुँच में मिल जावे । वह तो काफ़ी भी नहीं होता । पानी जब ऊपर को चढ़ता है—जैसा कि हम कह आये हैं तो उसके साथ वे तत्व भी ऊपर पहुँच कर और पौधों की जड़ों की पहुँच में आकर उन्हें भोजन पहुँचाते हैं ।

वनस्पति भोजन खाद पर कहाँ तक निर्भर है यदि हम इसकी जाँच करें तो पता लगेगा कि वनस्पति को पुष्ट करने के लिए मिट्टी से बहुत कम काम निकलता है । पर साथ ही ऐसा भी कहीं-कहीं देखा गया है कि बग़ैर खाद डाली हुई मिट्टी में कोई फ़सल पैदा न हो सकी हो । मिट्टी में अगर कोई तत्व बरसों तक न मिलाया जावे तो भी उसमें किसी न किसी प्रकार की किसी भी परिमाण में फ़सल ज़रूर पैदा होगी । इससे

सिद्ध होता है कि मिट्टी में ऐसे तत्वों को फिर से भर देने के उपाय उपस्थित हैं। बहुधा यह क्रिया आँधी के आने से होती है! हमें मालूम है कि आँधी से बड़ी-बड़ी चट्टानें टूट-टूट कर कुछ काल में चकनाचूर हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त ज़मीन को अधिक तादाद में धूप, मेह और आँधी के झकोरे नए तत्व देते हैं और मेह के साथ के कार्बन द्विओषिद (carbon dioxide) से पौधों की जड़े नीचे मिट्टी में बड़ी वेगवान् हो जाती हैं। और इस प्रकार कुछ खनिज पदार्थ वहाँ इकट्ठा होकर वनस्पति-भोजन बन जाते हैं।

अब हम यह जाँच कर देखेंगे कि किसी भी पौधे के लिए कितने वनस्पति भोजन की ज़रूरत होती है या उसे कितना मिला करता है। यह पता लगा है कि यदि औसत दर्जे की खेती हुई तो एक एकड़ में गेहूँ की खेती करने पर उस फ़सल द्वारा उस ज़मीन का बीस पौंड स्फुरिकाम्ल (phosphoric acid) और छत्तीस पौंड पोटाश (Potash) खिंच जाता है। एक एकड़ ज़मीन की नौ इंच गहराई का वज़न लगभग पचास लाख पौंड होता है। और जिस मिट्टी में प्रति सैकड़ा स्फुरिकाम्ल (phosphoric acid) या एक प्रति सैकड़ा पोटाश (potash) हो तो इतने वज़न की ज़मीन में इन दोनों में से कोई भी एक पदार्थ लगभग अढ़ाई हज़ार पौंड होगा। इन तत्वों का प्रतिशत परिमाण फ़सल-फ़सल के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। पर एक प्रतिशत ही औसत परिमाण है। इससे इतनी ज़मीन में एक सौ पच्चीस वर्ष तक फ़सल पैदा करने के लायक काफ़ी स्फुरिकाम्ल (phosporic acid) होगा। इस ऊपर की नौ इंच ज़मीन पर मेह, आँधी और धूप की गति भी चलती रहती है। उस जमीन के पौधे अपने भोजन के लिए उस नौ इंच ज़मीन पर ही निर्भर नहीं रहते। इसलिए उस फ़सल के लिए अटूट परिमाण में स्फुर (Phosphorus) मिल जाता है। इसलिए इस बात का डर नहीं रहा कि उसमें ऐसे तत्व कम हैं, पर विचार तो इस बात



का करना चाहिए कि उसमें से किस परिमाण में वे तत्व पदार्थ (soluble substance) बनकर उन पौधों तक पहुँचते हैं और कितने उन पौधों द्वारा खिंच जाते हैं।

जिस दर से ये तत्व द्रव (soluble) हो जाते हैं वह बहुत सी बातों पर निर्भर है। मुख्यतः ये सब रासायनिक क्रियायें हैं और ये रासायनिक क्रियायें अपनी गति के लिए उन शक्तियों पर निर्भर रहती हैं जो उन्हें संचालन करती हैं। इन सारी रासायनिक क्रियाओं में एक समानता होती है जिस पर उनकी गति का वेग निर्भर रहता है। इस प्रकार जो ज़मीन हवा, धूप और मेह के सामने खुली पड़ी रहती है उसमें ये तत्व जल्दी द्रव-रूप (soluble form) में आ जाते हैं। जुताई से मिट्टी के कण महीन हो जाते हैं जिससे हवा के ओषजन (oxygen) से उस रासायनिक क्रिया को अत्यन्त सहायता मिलती है। जितनी अधिक ज़मीन में हवा का प्रवेश हो सकेगा उतना ही अधिक उसमें उस क्रिया का संचालन होगा। रासायनिक क्रिया की वृद्धि गरमी से भी होती है। इसलिए ठंढे स्थानों की अपेक्षा गर्म स्थानों में ठंडी ऋतु की अपेक्षा गर्म ऋतु में वे तत्व अधिक शीघ्रता से द्रव (soluble) पदार्थ बनने लगते हैं।

ज़मीन में द्रव (soluble) खनिज पदार्थों के ह्रास को रोकना एक ऐसी समस्या है जिसका गूढ़ संबंध शोषण (absorption) से है। हम यह कह चुके हैं कि ज़मीन के द्रव खनिज पदार्थ उसके पानी के साथ बह जाते हैं। यह कथन एक अंश मात्र में ही ठीक है। उदाहरण के लिए हम मिट्टी का एक टुकड़ा लेते हैं, उसमें किसी नमक का पानी अगर छोड़ें तो जो पानी उस मिट्टी के नीचे गिर जाता है उसकी जाँच करने से यह पता लगेगा कि उसमें नमक की वह मात्रा नहीं रह गई जो पहले थी। कुछ मात्रा मिट्टी में मिल जाती है। यह उस मिट्टी और नमक के क़िस्म पर निर्भर है। ज़मीन में कुछ ऐसे पदार्थ हैं जैसे

कि चिकनी मिट्टी (clay) और ह्यूमस (humus) जो उसकी नमक को सोख लेने (absortion) की शक्ति को बढ़ाते हैं।

ऊपर के कथनों से यह प्रकट हो जाता है कि जुताई से वनस्पति भोजन का क्या सम्बन्ध है। मिट्टी के परमाणुओं को महीन करने से वे अधिक परिमाण में धूप, मेह और हवा के सामने आ जाते हैं और दृढ़ (insoluble) वनस्पति-भोजन द्रव (soluble) बन जाते हैं। दूसरे यह कि मिट्टी को उलट-पुलट करने से नीचे की मिट्टी ऊपर और दृढ़ है उसके मेह आदि के सामने आ जाने से वनस्पति भोजन की तादाद बढ़ जाती है। यदि जुताई उचित समय में और उचित रीति से हुई तो मिट्टी का उपजाऊपन काफ़ी समय तक रक्खा जा सकता है।

यह विदित ही हो गया कि नोषजन (Nitrogen) एक गुणकारी वनस्पति भोजन है। यह भी सच है कि नोषजन (Nitrogen) का उपयोग वनस्पति नोषेत (Nitrate) के रूप में ही कर सकता है। नोषेत (Nitrate) उन नमकों में से एक है जो मिट्टी द्वारा बहुत कम सोख लिया जाता है। इससे वह मिट्टी से बहुत सरलता के साथ उड़ जाता है। मिट्टी की जाँच करने से यह पता लगता है कि मिट्टी का कुल नोषजन (Ntrogen) जैसे-जैसे मिट्टी की सतह से दूर होता जाता है वैसे-वैसे कम होता जाता है। हम यह भी साफ़ देखते हैं कि नोषजन (Nitrogen) भिन्न-भिन्न ऋतुओं में मिट्टी में पृथक्-पृथक् परिमाण में नोषेत (Nitrate) के रूप में रहता है। ऐसी ज़मीन में जिसमें हाल ही में खेती हुई हो ऐसी एक एकड़ ज़मीन की दो फ़ीट मिट्टी से केवल आठ पौंड नोषजन (Nitrogen) निकलेगा। पर वही ज़मीन अगर कुछ दिन तक बिना कोई फ़सल बोये पड़ी रही हो तो उसके एक एकड़ की दो फ़ीट मिट्टी से दो सौ तिहत्तर पौंड नोषजन (Nitrogen) मिलेगा। इस ज़मीन की दो अवस्थाओं के नोषजन के परिणाम के इस बड़े अंतर के समझाने के लिए केवल यह कह कर नहीं टाल दिया जा

सकता कि जो नोषजन पहले दृढ (insoluble) पदार्थ था वही अब द्रव (soluble) हो गया है। यहाँ पर एक दूसरी शक्ति भी काम करती है।

नोषजन चूँकि ज़मीन की ऊपरी सतह में रहता है इससे उस शक्ति का यहाँ पर संचालन होता रहता है। मिट्टी की ऊपरी सतह को हमेशा आर्गनिक-पदार्थ (Organic substance) मिलता रहता है। यह आर्गनिक पदार्थ (Organic substance) या तो उन वृक्षों के सूखे पत्ते हैं जो कभी वहाँ पर हरे-भरे मौजूद थे या उन पौधों की जड़ें हैं जिन की फ़सल कट गई है या जङ्गली जानवरों की विष्ठा हैं या गाय घोड़े के गोबर व लीद हैं या खली आदि की तरह कृत्रिम खाद हैं या हरी फ़सल के ऊपर से जोत देने से यह पदार्थ बन जाता है। ये कार्बनिक पदार्थ जिन में बहुत नोषजन होता है बहुधा खेत में पड़े सड़ कर अंत में ह्यूमस (Humus) नामक पदार्थ बन जाते हैं। इस ह्यूमस से मिट्टी का ऊपरी रंग काला सा हो जाता है। मिट्टी की ऊपरी सतह में या ख़ास कर ढीली मिट्टी में कीटाणु (Bacteria) नामक जो कई प्रकार के जीवजंतु होते हैं उन्हीं सब से वे कार्बनिक पदार्थ सड़ जाते हैं और वे सड़ कर बहुत-सा नोषेत बनाते हैं। इस नतीजे की यहाँ जाँच करने की जरूरत नहीं, पर हम यदि इस कथन को मान लें तो हमें यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि नोषेत (Nitrate) की उत्पत्ति मिट्टी की उन तमाम बातों पर निर्भर रहती है जिनका संबंध उस मिट्टी के जीव-जंतुओं से है। ये जीव-जंतु चेतन जगत् की चीजें हैं और इनके जीवन के लिए भूमि में एक विशेष गुण की ज़रूरत है। इससे भूमि इन जीव-जंतुओं की क्रियायों के लिए एक विस्तृत क्षेत्र है जिसमें बहुत सी रासायनिक क्रियाएँ होती रहती हैं। इन रासायनिक क्रियाओं में वे भी हैं जो ज़मीन के नोषजन (Nitrogen) पदार्थ को नोषेत (Nitrate) में बदलने में सहायक होती हैं। इसलिए भूमि की आन्तरिक अवस्था को

उस विशेष हालत में रखना बहुत आवश्यक है जिससे कि ये कीटाणु खूब अच्छी तरह रह सकें। ज़मीन की यह आन्तरिक अवस्था कृषि-कला पर निर्भर है। इसलिए नोपजन (Nitrogen) को द्रवरूप (soluble form) में बदलने में कृषि-कला का प्रभाव बहुत कुछ होता है।

चौथा अध्याय

पौधा और उसका ज़मीन के ऊपर और अन्दर की जल-वायु से संबंध

हम पीछे कह चुके हैं कि वनस्पति अचल होते हैं। वे एक जगह से दूसरी जगह जानेवाले नहीं होते और उनमें जो बढ़ने का गुण है—जैसा कि जानवरों में भी है—उसी से वे भी जीवधारी माने जाते हैं। बढ़ने का अर्थ यहाँ एक मिश्रित पदार्थ का बन जाना और रासायनिक शक्ति का संचालन है। इस संचालन के लिए शक्ति की आवश्यकता है और यह शक्ति अन्य रासायनिक पदार्थों के नाश से उत्पन्न होती है। यह नाशकारी परिवर्तन जिसका ऊपरी रूप श्वास का आना जाना है तभी तक जारी रह सकता है जब तक कि घर्षण के लिए काफ़ी सामग्री हो। जानवरों के संबंध में घर्षण की सामग्री भोजन के उपयोग से तैयार होती है जिसमें बहुत से ऐसे मिश्रित पदार्थ हैं जो उन जीव-जंतुओं द्वारा नाश कर दिये जाते हैं। वनस्पति-जगत् में घर्षण की सामग्री साधारण रासायनिक क्रियाओं से प्राप्त होती है जिसका संचालन सूर्य की किरणों से होता है। इस प्रकार का घर्षण केवल पौधों में होता है जिनका भोजन उन्हीं पदार्थों में होता है जो उस घर्षण की सामग्रियाँ हैं। वनस्पति जिस भोजन से अच्छी तरह से बढ़ सकता है उसकी खपत तभी पूरी हो सकती है जब कि पानी, जिसे पौधों की जड़ें पीती हैं, उन आवश्यक नमकों को देने के लिए काफ़ी हो जो वनस्पति-जीवन के लिए आवश्यक हैं। इसलिये पुष्ट पौधों की उपज करने में मिट्टी के उस पानी पर अधिकार करना बहुत ज़रूरी है जिनमें हमेशा कई तरह के नमक मिले रहते हैं।

जुताई का बड़ा भारी महत्व इस बात में है कि उससे कुछ हद तक मिट्टी की पानी को सोखने की ताक़त पर असर पड़ता है। साथ ही पौधों का एक दूसरा पहलू भी है जिसका हमें यहाँ पर विचार कर लेना चाहिए। हम पीछे कह चुके हैं कि पौधों के दो भाग होते हैं, एक तो जड़ जो भूमि में गड़ी रहती हैं दूसरे पिंड-शाखा और पत्तियाँ जो ऊपर हवा में होती हैं। इन ऊपरी भागों के द्वारा कार्बन (Carbon) नाम की हवा पौधों को प्राप्त होती है जिससे कि उन पौधों के अंग पुष्ट होते हैं। ऊपर वायु में हमें कार्बन द्वि अम्लेद (Carbon dioxide) मिलता है और पत्तों के नीचे के भाग में स्टोमेटा (Stomata) होता है। इन स्टोमेटा (Stomata) द्वारा कार्बन द्वि अम्लेद (Carbon dioxide) पत्तों के भीतर तक प्रवेश करता है और वहाँ पर्णहरिण (Chlorofil) के प्रभाव से प्रकाश की ज्योति में माड़ी (starch) के रूप में परिणत हो जाता है। यह माड़ी (starch) आगे चलकर शक्कर बन जाती है, और इस शक्कर के रूप में पौधों के सारे अंगों को भोजन पहुँचता है और उससे उपयोगी पौधों को जीवन मिलता है। इससे हम देख सकते हैं कि कार्बन द्वि अम्लेद (Carbon dioxide) के पौधों तक पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि स्टोमेटा (Stomata) खुले रहें, और कार्बन द्वि अम्लेद (Carbon dioxide) को माड़ी (starch) के रूप में बदल जाने के लिए प्रकाश की ज़रूरत है। पौधे अपनी जड़ों द्वारा जो पानी पीते हैं और जो पानी उन पौधों के सब हिस्सों में फैल जाता है उसके भाप बनाने के लिए भी स्टोमेटा की आवश्यकता होती है। पौधों में उनके ठोस पदार्थों की अपेक्षा पानी का अंश कई सौ गुना अधिक होता है तो भी इस पानी के उनके भीतर उचित संचालन की विशेष आवश्यकता है। कहीं ऐसा न हो जावे कि जिससे ज्याद: परिमाण में पानी भाप बनकर उड़ जावे। इस संचालन का काम स्टोमेटा करता है। पौधों से पानी के भाप बन जाने की मात्रा गरमी पर तथा हवा में

मिले हुए जलकणों के परिमाण पर निर्भर रहती है। जब कभी सूखी या गरम हवा में जितना पानी पौधों की जड़ें खींचती हैं उससे ज्यादा उनकी पत्तियों से उड़ जाता है तब स्टोमेटा बंद हो जाते हैं। स्टोमेटा के इस बंद हो जाने से पत्तों की हवा का प्रवेश तथा उस हवा में मिली हुई कार्बन द्वि अम्लेद (Carbon dioxide) के परिमाण का प्रवेश रुक जाता है। परिणाम यह होता है कि माड़ी (starch) का बनना भी रुक जाता है। इस प्रकार से हवा में मिले हुए पानी का पौधों पर सीधा प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार से चाहे जड़ों को काफ़ी तादाद में पानी मिलता भी हो क्योंकि गर्म और सूखे मई मास में—जैसा कि बहुधा मैदानों में होता है—पौधों की बढ़ती में बाधा पहुंचती है। इस विषय का अच्छा उदाहरण गन्ना है। वह मार्च में बोया जाता है तथा गरमी के दिनों में उसमें खूब सिंचाई होती है। पर उस पर कोई ख़ास असर नहीं पड़ता, परंतु बरसात के पानी पड़ते ही मानो उसे अमृत मिल जाता है।

पौधों के ऊपर हवा में मिले हुए जल-कणों का ऊपर लिखे हुये तरीक़े से असर होता है, पर किसान को हवा के इसी एक पहलू से मत-लब नहीं रहता। हम देख चुके हैं कि भूमि के कणों के चारों तरफ पानी रहता है व इस पानी का भूमि के कणों के बीच की हवा से संबंध रहता है और भाप का दोनों स्थानों की हवा में आना-जाना चलता रहता है। भाप के इस आवागमन का वेग ज़मीन के ऊपर की हवा के सूखेपन और गर्मी पर तथा भूमिकणों के चारों ओर के पानी के उड़ जाने पर नीची सतहों से जिस वेग से पानी उन्हीं स्थानों में आ जाता है उस वेग पर निर्भर रहता है। पत्तों की तरह संभव है कि भूमिकणों के चारों ओर के पानी के सूखने का वेग उसके स्थानों में नीची सतहों में से पानी आ जाने के वेग से अधिक हो जावे। ऐसी अवस्था में भूमि की ऊपरी सतह एकदम सूखी पड़ जावेगी क्योंकि पत्तों के स्टोमेटा (stomata) की

तरह भूमि में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो ऐसी अवस्था आ जाने पर भूमिकणों के चारों ओर के पानी को भाप बनने से रोक सके। खेती में पौधों के संबंध में हवा के जलयुक्त होने के ऐसे अनेक पहलू हैं पर इसमें भी जो अधिक मार्के का पहलू है उससे और आवहवा से जो घनिष्ट संबंध है उसे हमें नहीं भूल जाना चाहिए। हवा के जलकण यद्यपि भूमि तथा पौधों से प्राप्त होते हैं पर उनका मुख्य उद्‌गम स्थान समुद्र है। हवा में कितने जलकण भाप के रूप में समा सकते हैं यह उसकी गर्मी पर निर्भर है। इससे समुद्रों के ऊपर की गर्म हवा में अधिक जलकण रहेंगे, यहाँ से हवा उठकर उन जलकणों को भूमि के ऊपर ले जाती है और उसका संयोग ठंडी हवा से होता है जिसमें जल ग्रहण करने की कम ताक़त होती है। अधिक परिमाण में समुद्री हवा के साथ में जो जल-कण जाते हैं उन्हीं से मेघ तय्यार होता है। इससे किसी भी स्थान की आवहवा और वहाँ की खेती इस समुद्री हवा के उड़ान के रुख पर निर्भर है। हम अब यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि यदि किसान यह ज़ान ले कि अब की हवा किधर से किस दिशा की ओर उड़ेगी तो उसकी खेती पर क्या असर होगा। हमारा आकाशसंबंधी (meteorological) समस्यायों का ज्ञान इतना बढ़ा-चढ़ा नहीं है जिससे कि किसान हवा के प्रवाह के रुखकी ठीक-ठीक पहले से ही घोषणा कर सके। हवा के रुख की पहिचान किसान के लिए बड़े महत्व का विषय है। इससे हम यहाँ के उस वायुप्रवाह के रुख के संबंध की चर्चा करेंगे जो कि ऋतुओं से है। हवा के जलकणों का विचार करते हुए हमने कह ही दिया है कि ऊपर कहे हुए नतीजे के पैदा करने में गर्मी एक मुख्य कारण है। इसके सिवा पौधों के श्वास के आवागमन और पाचन के वेग के संचालन और गर्मी के बीच घनिष्ट संबंध है। पृथ्वी की गर्मी तीन बातों पर निर्भर है यथा भूगर्भ से निकली हुई गर्मी, सूखे पत्ते, हरे पत्ते, हर पेड़ आदि पदार्थों से प्राप्त हुई गरमी और सूर्यद्वारा प्राप्त हुई गर्मी। व्यावहारिक

विचार से सूर्य की गर्मी सब से ज्यादा महत्व की है। उस गर्मी से जो अक्षांश (Latitude) पर निर्भर रहती है हमारे उपर्युक्त कथन का समर्थन होता है। सूर्य से पैदा हुई गर्मी में जो चढ़ाव उतार होता है उसको भूगर्भ से मिली हुई गर्मी संभाल कर रखती है और सूखे पत्ते आदि पदार्थों से जो गर्मी पैदा होती है वह यद्यपि बहुत गर्मी देती है पर खेती की साधारण दशाओं में उसका बहुत कम असर होता है। लकड़ी के जलाने से जो गर्मी पैदा होती है वही उसके हवा आदि के संयोग से सड़ कर पैदा होती है। इन दोनों उपायों से वह ठोस पदार्थ-लकड़ी—छोटे-छोटे रासायनिक पदार्थ कार्बन द्वि अक्षेत (Carbon-dioxide) पानी आदि बन जाते हैं। जो काम लकड़ी के जलाने से कुछ मिनटों में हो जाता है वही काम उसके सड़ने से महीनों और वर्षों के बाद होता है। दोनों अवस्थाओं में समानता तो तब प्रकट होती है जब ऐसे पदार्थ गड्ढे आदि ऐसे स्थानों में रख दिये जावें जहाँ कि वे सरलतापूर्वक सड़ सकें। इस प्रकार से जो गर्मी पैदा होगी वह उन सड़ती हुई वस्तुओं में आग सुलगा देने में समर्थ होगी।

किसी समय या किसी स्थान में भूमि या हवा में जो गर्मी होगी उसका परिमाण सूर्य द्वारा प्राप्त हुई शक्तियों पर अनेक प्रभाव पड़ते हैं; उन्हीं के फलस्वरूप होगा। सूर्य की किरणें पृथ्वी पर पहुँचने के पहले वायु-मंडल से होकर आती हैं। इससे वायु उन किरणों की कुछ शक्ति को अपने में ग्रहण कर लेती है जिससे उसमें गर्मी आ जाती है। इस प्रकार वायु जो सूर्य की किरणों की गर्मी को ग्रहण कर लेती है, उसका परिमाण वायु के जलकणों के परिमाण पर निर्भर रहता है। किसी भी अन्य पदार्थ की अपेक्षा पानी को गर्म करने में अधिक गर्मी की आवश्यकता होती है। इससे सूखी हवा को गर्म करने के लिए सूर्य की किरणें उसमें से निकलते हुए, कम गर्मी छोड़ जावेंगी। यदि जलकणयुक्त हवा को भी उतना ही गर्म करना है तो उससे अधिक सूर्य की गरमी

उस जलकणयुक्त हवा में रह जावेगी।

फिर पृथ्वी पर गिरती हुई सूर्य-किरण की कितनी शक्ति बीच में ही गायब हो जाती है, इस पर भी गर्मी निर्भर रहेगी। भूमि के रंग और उसकी गर्मी प्रवाहित करने की शक्ति पर सूर्य किरणों की शक्ति का वायु मंडल में लुप्त होना निर्भर रहेगा। इस लुप्त हुई शक्ति का वास्तविक गर्मी पर कितना प्रभाव पड़ता है, यह भूमि की गर्मी ग्रहण कर लेने की शक्ति पर निर्भर रहेगा। और इस भूमि की गर्मी ग्रहण करने की शक्ति में भूमि-भूमि के अनुसार अंतर होता है। यह अंतर भिन्न-भिन्न भूमि में पृथक्-पृथक् परिमाण में पानी रहने पर निर्भर रहता है। वायु-मंडल की तरह जिस भूमि में अधिक पानी रहेगा उसे गर्म करने में अधिक गर्मी की आवश्यकता होगी।

हमने यहाँ गर्मी को वायु मंडल की उस अवस्था का रूप मानकर विचार किया है जिसका असर मुख्यतः पौधों के ऊपरी भाग पर पड़ता है। अब हम यह विचार करेंगे कि वायु-मंडल की गर्मी पर भूमि की गर्मी का क्या प्रभाव पड़ता है। वायु-मंडल की अपेक्षा वास्तव में भूमि या उस पर उत्पन्न हुए पौधे ही गर्मी को निगल जाते हैं। वायु के जल-कण की तरह ऋतु के फेरे से आबहवा का भिन्न-भिन्न असर पड़ता है। पर इसके सिवा उस आबहवा में दिन प्रतिदिन अंतर पड़ता रहता है जिसका कि खेती के काम पर कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ता। इसे भी हमें ध्यान में रखना आवश्यक है।

भारत में केवल नदियों से इतना ही लाभ नहीं होता कि उनके द्वारा ज़रूरत से ज्यादा पानी बाहर बहा दिया जावे। नदियाँ भूमि में हवा भी पहुँचाती हैं और विशेष कर उसे ओषजन (Oxygen) और नोषजन (Nitrogen) भी वायु-मंडल से लाकर देती हैं। बरसात के दिनों में वितल (Subsoil) में पानी की तह बहुत ऊपर उठी रहती है। उसके बाद नदी नीचे से पानी खींचने लगती है और अपने साथ उसे बहाकर

ले जाती है। जब भीतर पानी की सतह नीची हो जाती है तो उसकी जगह में बाहर से हवा भरने लगती है। इसलिए जैसे ज़मीन के ऊपर से नदी पानी को खींच ले जाती है वैसे ही अब ज़मीन के भीतर से भी पानी को खींचकर ले जाती है। जमीन में हवा भर देने से किसान को क्या लाभ होता है, यह उत्तरी बिहार के हिस्सों में देखा जाता है। जब वहाँ कभी-कभी बाढ़ आती है और नदी ज़रूरत से ज्यादा गिरे हुए पानी को बहा नहीं सकती, जब किसी जमीन में तलातल पानी भरा रहता है तो उसमें फिर हवा नहीं समा सकती, तब कुछ समय के बाद उस जमीन के भीतर हवा की कमी हो जाती है और उसमें के रासायनिक तत्वों और फ़सल का नुक़सान होता है। हवा की जितनी कमी होती है उतना ही फ़सलों को धक्का पहुंचता है।

जमीन में हवा के सामने की आवश्यकता लोगों पर अब प्रकट होने लगी है। इसके ठीक वही फ़ायदे हैं जो किसी कमरे में ताजी हवा के भर जाने से होते हैं। हमें मालूम है कि मिट्टी कोई ठोस पदार्थ नहीं है पर उसके छोटे-छोटे परमाणु होते हैं और जिन दो परमाणुओं के बीच में हवा का खाली स्थान होता है, जुताई का उन खाली स्थानों के क्षेत्रफल का बढ़ाना भी एक उद्देश्य है। उन ख़ाली स्थानों दों चीजें होती हैं, पानी और हवा। पानी तो परमाणुओं के चारों तरफ़ होता है और उसके बीच-बीच में हवा होती है। इस पानी के अन्दर बड़ा भारी प्राणि-वैज्ञानिक परिवर्तन (Biological change) होता रहता है। यह दो प्रकार से होता है। पहले तो पौधों की जड़ें हमेशा अपना भोजन और पानी खींचती रहती हैं और इनके साथ-साथ जीवन-मूल प्रक्रिया (Protoplasmic activity) सम्बन्धी क्रियायें भी होती रहती हैं जिसमें नोषजन (Nitrogen) को तो जड़ें निगलती रहती हैं और कार्बन द्वि अक्षेत (Carbon dioxide) तैयार होता रहता है। इससे जड़ों का काम निरंतर श्वास का लेते रहना है। इस काम के लिए ऊपर से

उसमें ओषजन ज़रूर जाती रहनी चाहिए और जरूरत से ज्यादा कार्बन द्वि अम्लेत को बाहर ज़रूर निकलते रहना चाहिए। दूसरे मिट्टी के भीतर आर्गनिक-पदार्थ (Organic sobstance) को सड़ाने वाले कीटाणु (Bacteria) द्वारा हलचल होती रहती है। ये जीव-जंतु सदैव जीते रहते हैं और वनस्पति की तरह साँस लेते रहते हैं। ओषजन (Oxygen) के लिए उनकी पौधों के साथ प्रतिद्वन्द्विता होती रहती है और ये कार्बन द्वि अम्लेत को अधिक तादाद में पैदा करते रहते हैं। यदि ज़मीन में काफ़ी हवा हुई तो ज़मीन के इन जंतुओं द्वारा आर्गनिक पदार्थ (Organic substance) के तोड़े जाते रहने से कोई हानि नहीं होती। पर यहाँ हवा की कमी होने पर जो नीचे तक ख़मीर (Fermentation) उठता है उससे बड़ी हानि होती है। तब वहाँ एक दूसरे प्रकार के जंतु प्रकट हो जाते हैं। नीचे के तत्वों में जो कुछ ओषजन (Oxygen) रह जाता है उसी को खाना शुरू कर देते हैं और नोषजन (Nitrogen) अलग होकर हवा में उड़ जाती है और मिट्टी से अलग हो जाती है। इससे ज़मीन में हवा की कमी होने से फ़सल को बड़ा भारी घाटा सहना पड़ता है।

बरसात के दिनों में ज़मीन के भीतर हवा के आने-जाने में रुकावट का नतीजा साफ़ प्रकट होता है। इससे ज़मीन के भीतर वनस्पति के लिए लाभकारी नोषेत (Nitrate) नामक पदार्थ सत्यानाश हो जाता है और मिट्टी के गुण भी बरबाद हो जाते हैं। इसके बाद जाड़े के दिनों में खेत में अच्छी फ़सल से पचास फ़ीसदी कम फ़सल होती है। इसका एक ही सरल उपाय हो सकता है। खेत की ज़मीन एकदम समतल कर दी जावे जिससे कि खेत का हर हिस्सा बराबर-बराबर पानी सोखे और ज़रूरत से ज़्यादा पानी निकाल दिया जावे। यह ध्यान में रहे कि वह पास के दूसरे खेतों में न जाने पावे नहीं तो वहाँ भी वैसा उपद्रव होगा।

हवा से ओषजन (Oxygen) लेने के सिवा ज़मीन को उससे दूसरा लाभ भी होता है। अरहर, चना, उरद, मूँग, मटर आदि कुछ पौधों की जड़ों में एक प्रकार की गाँठें होती हैं। उन गाँठों में कीटाणु (Bacteria) होते हैं। ये कीटाणु हवा के नोषजन (Nitrogen) को वनस्पति भोजन के रूप में बदलते रहते हैं। इससे खेती में बड़ा फ़ायदा होता है। नोषजन (Nitrogen) से इस प्रकार वनस्पति भोजन बनाना केवल कीटाणुओं (Bacteria) का ही काम नहीं है। गर्म देशों में अगर ज़मीन में काफ़ी हवा हुई और पानी और आर्गनिक पदार्थ भी उसमें रहे तो भी नोषजन (Nitrogen) से वनस्पति भोजन तैयार हो जाता है। भारत की खेती के इतिहास को देखने से मालूम होता है कि इस प्रकार नोषजन से वनस्पति-भोजन बन जाने पर खेती को कितना लाभ पहुँचता है। रुहेलखंड में वर्षों से बिना खाद के गन्ने की खेती हो रही है; पर उसकी उपज में कुछ कमी नहीं हुई। 'आईन-ए-अकबरी' के लिखे अनुसार अभी भी उसी परिमाण में वहाँ की उपज पाई जाती है। ज़मीन की हवा के नोषजन (Nitrogen) से जो वनस्पति भोजन बन जाता है और उससे जो लाभ पहुँचता है, यह उसी का उदाहरण है।

ज़मीन के भीतर हवा रहने से जो फ़ायदे होते हैं उनका साक्षी स्वयं पौधा है। उत्तर बिहार जैसे मैदानों में जहाँ हवा बड़ी मुश्किल से नीचे प्रवेश कर सकती है, वहाँ जड़ें सतह के पास ही पास रहती हैं, अधिक नीचे प्रवेश नहीं कर सकतीं। पर प्रायद्वीप की काली ज़मीन में, जहाँ गर्मी में बहुत सी ज़मीन फट जाती है और जिसकी ऊपरी सतह एकदम सूख जाती है, वहाँ जड़ें बहुत नीचे तक फैलती हैं क्योंकि पानी सतह के बहुत नीचे रहता है और उसमें हवा अच्छी तरह से प्रवेश कर सकती है। काली ज़मीन पर बोये हुए अलसी और अफ़ीम के पौधों की जड़ें गहराई तक फैली रहती हैं।

भारत में ऐसी बहुत कम ज़मीन मिलेगी जिसमें प्रकृति द्वारा ही खूब हवा भर दी गई हो। इससे खेतों की बराबर जुताई करने की बड़ी आवश्यकता है। अभी तक यहाँ की जुताई के तरीक़े कच्चे ही रहे हैं। ज़मीन में हवा के रहने से जो फ़ायदा होता है उसका तथा और पौधों की जड़ों को मज़बूत बनाने की ओर ध्यान रखते हुए जुताई के तरीक़ों और जुताई के यंत्रों में काफ़ी उन्नति करने की बड़ी आवश्यकता है।

इसके सिवा बरसात के दिनों में ज़मीन में किस वेग से और किस तादाद से पानी जाता है उसका भी विचार कर लेना चाहिए। पानी ज़मीन में सरलता से कैसे प्रवेश करे इसका भी उपाय खोज निकालने की बड़ी आवश्यकता है। फिर जहाँ-जहाँ जिस परिमाण में हवा होती है वहाँ-वहाँ उस परिमाण में अनाज भी पैदा होता है। चीज़ तो वही पैदा होती है पर ज़मीन में हवा रहने या न रहने से उनकी उत्तमता में ज़रूर अंतर पड़ जाता है। तिरहुत के परगना सरहसा में, रायबरेली के ज़िले में या बिलोचिस्तान की पुस्तंग की घाटी में, जहाँ की ज़मीनों में औसत से ज़्यादा हवा होती है, खूब बढ़िया तम्बाकू पैदा होती है। उत्तर-प्रदेश में गोरखपुर की कड़ी ज़मीन की अपेक्षा मेरठ ज़िले के गन्ने बड़े अच्छे होते हैं।

पाँचवाँ अध्याय

किसान का प्रकृति पर वश

हमने संक्षेप में अब तक इस बात पर विचार किया है कि पौधों का उसके आस-पास की अवस्थाओं से क्या संबंध रहता है। हमने यह भी देख लिया है कि ऐसी अवस्थायें दो प्रकार की होती हैं—एक तो वे जिन पर मनुष्य का अधिकार हो सकता है और दूसरी वे जिन पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं होता। अब हम खेती की परिभाषा कर सकते हैं—खेती मनुष्यों के उन कामों का नाम है जिनके द्वारा वह पौधों के चारों ओर की अवस्थाओं को अपने अधिकार में रख सके और उन अवस्थाओं को अपनी फ़सल के योग्य बना सके। ये अवस्थायें इतनी ज्यादा हैं और आपस में एक दूसरे से इस प्रकार मिली हुई हैं कि उन सबका विस्तारपूर्वक वर्णन करना कठिन है तो भी उनमें से दो चार मुख्य मुख्य उदाहरण देते हैं—यथा गर्मी, मिट्टी का पानी, खनिज या नोषजन (Nitrogen) वाले वनस्पति भोजन, भूमि की आन्तरिक अवस्था जिसका प्रभाव जड़ों पर पड़ता है, हवा में पानी का होना, प्रकाश आदि जिनका असर पौधों के ऊपरी हिस्से पर पड़ता है। पौधों की बढ़ती में इन सभी अवस्थाओं का प्रभाव पड़ता है। यहाँ पर हम पौधों की भौतिक (Physical) अवस्थाओं पर विचार करेंगे। पौधों के चारों ओर की अवस्थाओं में उनके चारों ओर के वनस्पति और जीव-जंतु भी आ जाते हैं जो उन पौधों के साथ प्रतिद्वंद्विता करते हैं जैसा कि हम पीछे लिख चुके हैं। प्रतिद्वंद्विता के माने यहाँ भोजन के लिए प्रतिद्वन्दिता है। इस प्रतिद्वन्दिता का उस पौधे की रासायनिक क्रांति पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता।

पौधों में और उसके चारों ओर की अवस्थाओं में जो क्रांति होती है उसे समझने के लिए एक छोटा सा उदाहरण लेते हैं। मान लीजिए कि किसी जोती हुई ज़मीन में, जो बीज बोने के लिए तैयार की गई है, कुछ बीज बो दें। पर बीजों को उसमें बखेर देने के बदले उन सब बीजों को एक टीन के डब्बे में रखकर गाड़ दें। इस प्रकार उन बीजों में अंकुर नहीं फूटेंगे। जो बीज ज़मीन में बखेर कर बोये जाते हैं उनकी अवस्था में और इस टीन के डब्बे में भर कर बोये हुए बीजों की अवस्था में अंतर यह है कि टीन के डब्बे वाले बीजों में उस मिट्टी का पानी उन बीजों तक पहुँच नहीं पाता। वहाँ गर्मी तो ठीक है, हवा में ओपजन (oxygen) है, पर उसमें पानी नहीं है। इस पानी के न रहने से ही उन बीजों में अंकुर न निकल सके और इस एक ही अवस्था के न रहने से उन बीजों में से पौधे न निकल सके।

उदाहरण के लिए दूसरे प्रकार के पौधे लेते हैं। मटर को ही लीजिये। मटर के कुछ बीजों को एक बोतल में पानी भर कर उतनी गर्मी में रख दें जितनी गर्मी में मटर के पौधे शीघ्र निकल आते हैं। पर इस अवस्था में वे बीज केवल सड़ जावेंगे। यहाँ उचित गर्मी भी है और पानी भी मिल रहा है पर चूँकि बीज बोतल में बंद थे इससे उन्हें वह ओपजन (Oxygen) न मिल सका जो उन्हें हवा के द्वारा मिल जाता। इससे यहाँ ओपजन के अभाव से बीजों में से अंकुर न निकल सके। अब एक तीसरा उदाहरण और लीजिए। रेतीली मिट्टी भरे दो घड़े लीजिए और उन दोनों में मटर के बीज बो दीजिए। इस घड़े को तो ६०° डिगरी फैरेनहाइट की गर्मी में रक्खें और दूसरे को पानी जमने के कुछ डिगरी ऊपर रखें। पहली दशा में तो शीघ्र अंकुर फूटने लगेंगे क्योंकि वहाँ सभी अवस्थायें उपस्थित हैं पर दूसरे में ज़रा भी अंकुर न फूटेंगे। इन दोनों में यहाँ केवल गर्मी का अंतर है। जहाँ उचित मात्रा में ताप नहीं पहुँच सकता वहाँ के बीजों से अंकुर नहीं फूट सकता।

ऊपर हमने ऐसे तीन सरल उदाहरण दिये हैं जिससे यह मालूम होता है कि पौधों के उत्पन्न करने के अनेक कारणों में से एक के अभाव से उनकी उत्पत्ति कैसे रुक जाती है। इसी प्रकार हमें ध्यान में रखना चाहिए कि पौधों के चारों ओर की अवस्थाओं में कई ऐसी बातें हैं जिनमें से किसी भी एक के अभाव से अन्य बातों के होते हुए भी पौधों की उत्पत्ति में रुकावट पहुँचती है। ऊपर के उदाहरण तो ऐसे थे जिनमें एक अवस्था का बिल्कुल अभाव बतलाया गया था। पर यदि किसी पौधे के चारों ओर उसकी उत्पत्ति के लिए सारी अवस्थायें भी मौजूद हों और उनमें से कोई भी एक ज़रूरत से कम मात्रा में हो तो फिर और दूसरी अवस्थाओं में चाहे कितनी उन्नति की जावे तो भी केवल एक ही अवस्था के अधूरेपन से पौधा न लग पावेगा। पौधा तो तभी फूल फल सकेगा जब कि पौधे की उत्पत्ति तथा उसके जीवन-काल में उसके चारों तरफ़ की सभी अवस्थायें लगातार उचित परिमाण में हों।

पर ऐसा समय बहुत ही कम आता है कि किसी भी पौधे की सभी लाभकारी अवस्थायें उसके चारों तरफ़ उचित मात्रा में उपस्थित हों। उत्तर प्रदेश में बिना आबपाशी वाले खेतों में गेहूँ की औसत उपज प्रति एकड़ बारह मन और आबपाशी वाले खेतों में पंद्रह मन है। इससे यह सिद्ध होता है कि बिना आबपाशी वाले खेतों में किसी अवस्था में पानी के अभाव से उपज में कुछ कमी हो गई। पता लगाने से मालूम हुआ है कि एक-एक एकड़ ज़मीन में पचहत्तर मन गेहूँ तक पैदा हुआ है। इससे जहाँ कहीं पचहत्तर मन से कम उपज होती हो वहाँ यही समझना चाहिए कि किसी बात में ज़रूर कमी रह गई है। यदि यह कमी आबहवा की वजह से है तो किसान अपनी उपज को बढ़ाने का प्रयत्न नहीं कर सकता क्योंकि आबहवा पर उसका अधिकार नहीं है। अगर वह कमी किसी ऐसी बात में रह गई हो जो मनुष्य के अधिकार में है तो ऐसी अवस्था में किसान उस कमी को पूरी करके अपनी उपज

बढ़ा सकता है। यहाँ कृषिकला का एक दूसरा पहलू हमें दिखाई पड़ा अर्थात् किसान कुछ बाधाओं को दूर कर सकता है जिनसे उसकी खेती में रुकावट पहुँचती है। इस कथन के समर्थन में कुछ उदाहरण लीजिए। गरमी के दिनों में कपास के पौधे और उसके चारों तरफ़ की अवस्थाओं में क्या उथल-पुथल होती है सो देखिये। दिन में पत्तियों के द्वारा जो सूर्य-किरणों की शक्ति खींची जाती है उसी शक्ति की सहायता से वनस्पति भोजन तैयार होता है। रात में यह नहीं हो सकता। इससे उस पौधे ने पहले से जो भोजन संचित कर रक्खा है केवल उस के सहारे वह पौधा बढ़ सकेगा। इसलिए रात को उस पौधे की बढ़ती में रुकावट का कारण प्रकाश की कमी हो गई। यद्यपि ऐसी अवस्था की कल्पना भारत जैसे देश में नहीं की जा सकती पर तो भी प्रकाश के न रहने से पौधे शीघ्र ही मर जावेंगे। प्रातःकाल सूर्योदय होते ही स्टोमेटा (Stomata) के ज़रिये कार्बन द्वि अद्येत (Carbon dioxide) आने लगता है और वनस्पति भोजन तैयार होने लगता है। पर जैसे-जैसे सूर्य ऊपर चढ़ता है वैसे-वैसे गरमी बढ़ती है। इससे स्टोमेटा (Stomata) के ज़रिये पानी सूखने लगता है। जिस परिमाण में पौधों की जड़ें पानी पीती जाती हैं इससे भी अधिक परिमाण में वह सूखने लगता है। पानी की इस हानि को रोकने के लिए स्टोमेटा (Stomata) बंद हो जाते हैं और इससे ओषजन (Oxygen) की खपत बंद हो जाती है, जिसका नतीजा यह होता है कि वनस्पति भोजन के बनने में फिर बाधा पहुँचती है। जब संध्या होने लगती है तो स्टोमेटा फिर से खुल जाते हैं और जब तक फिर अंधेरा नहीं हो जाता तब तक वनस्पति भोजन तैयार होता रहता है।

ये पौधों की बढ़ती में रुकावट डालने वाली कुछ ऐसी अवस्थाओं के उदाहरण हैं, जिन पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं रहता। केवल ये ही अवस्थायें नहीं हैं जो इस तरह से काम करती रहती हैं।

कुछ ऐसी भी अवस्थायें साथ में मौजूद हैं जिन पर मनुष्य का अधिकार है। ऊपर के उदाहरण में चौबीस घंटे के भीतर किसी एक समय में भूमि के जल-कणों के कारण पौधों की बाढ़ में रुकावट पहुँचती है। पर हमें यह मालूम है कि किसी हद तक भूमि के इन जलकणों पर मनुष्य का अधिकार हो सकता है। बहुधा मिट्टी में कुछ वनस्पति भोजन मिला देने से उपज बढ़ जाती है। इस अवस्था में उपज उस वनस्पति भोजन की मात्रा पर, चाहे वह नोषजन (Nitrogen) हो या स्फुरस (Phosphorus) हो या चाहे कुछ और हो, निर्भर रहता है। इससे प्रत्येक सफल किसान का यह कर्त्तव्य है कि जिन-जिन कारणों से पौधों की बाढ़ में रुकावट पैदा होती है उन सब का ज्ञान प्राप्त करले और उनकी पूर्ति करने का प्रयत्न करे।

ऊपर के उदाहरण में दिन में सूर्य के ऊपर चढ़ने में जो पौधों की बाढ़ में बाधा पहुँचती है वह भूमि के जलकणों के सूख जाने से होती है। गेहूँ के दो खेतों को, जिनमें से एक में तो आबपाशी हुई हो और एक में न हुई हो, लीजिए। जब हम भूमि के जलकणों के प्रभाव का पता लगा लेंगे तो हमें मालूम होगा कि आबपाशी से वे भूमि-कण जो पौधों की बाढ़ में रुकावट डालते थे, हटकर दूर हो जाते हैं। इससे नतीजा यह होता है कि वहाँ की फ़सल खूब तैयार होती है। यहाँ उस रुकावट का थोड़ी देर तक ही असर रहेगा और उसके दूर होते ही अच्छी फ़सल निकल आवेगी।

अब हम गेहूँ की जगह नील की खेती का उदाहरण लेते हैं और यह मान लेते हैं कि उसके खेत में खूब पानी भरा हुआ है। यहाँ पानी भरे रहने के कारण नीची सतहों के भूमि की कणों के बीच की हवा कम हो जाती है और ओषजन (Oxygen) की खपत कम हो जाती है, जिसकी नील की फ़सल को बड़ी ज़रूरत होती है। यहाँ हवा की कमी ही पौधों की बाढ़ के रुकावट का कारण हुई और जब तक वह हद से

ज़्यादा पानी अलग न कर दिया जावे तब तक फ़सल कभी तैयार न होगी। डन्डा सड़कर गिर जावेगा। उस फ़सल की मृत्यु के आने के पहले अगर उस खेत में हवा का प्रवेश करा दिया जावे तो पौधा ठीक हो जावेगा। और अगर न कराया जावे तो वह कमज़ोर ही रहेगा या मर ही जावेगा। इस प्रकार पौधों से और उसके चारों तरफ़ की अवस्थाओं से घनिष्ट सम्बन्ध है। उन अवस्थाओं के हेर-फेर होने से वे पौधे मर जावें या कमज़ोर हो जावें तो आश्चर्य्य की बात नहीं। इस प्रकार उन अवस्थाओं के उलट फेर को और उसके बाद फ़सल के बाहरी रूप को देखकर हम यह कह सकते हैं कि फ़सल कमज़ोर है या सड़ गई।

ऊपर हमने जितने उदाहरण दिये हैं उन सबसे यह पता लग जाता है कि फ़सल के स्वास्थ्य की दशा या उसके रोग की दशा के रूप में अधिक अन्तर नहीं होता। इसीसे किसान को चाहिए कि वह सदैव फ़सल में थोड़ा अन्तर आते ही उसकी वास्तविक दशा को समझ ले और शीघ्र उपाय करके उसे अधिक ख़राब होने से बचाये। जिस प्रकार से मनुष्य के शरीर में रोग की दशा बात, पित्त, कफ़ तीनों में से किसी एक के बढ़ने या घटने से प्रकट होती है उसी प्रकार भूमि के पौधों के लिए लाभकारी किसी भी तत्व के दूसरे लाभकारी तत्वों की अपेक्षा घट जाने से या बढ़ जाने से उसमें की फ़सल के लिए रोग की दशा उत्पन्न हो जाती है।

ये बीमारियाँ जिनका अभी वर्णन हो चुका है, जीव वैज्ञानिक (Physiological) हैं। यानी भूमि के भीतर तत्वों के समुचित रूप से कार्य्य न करने से होती हैं। इसके सिवा दूसरे प्रकार की बीमारियाँ भी होती हैं। पौधों पर कई प्रकार के कीड़ों (fungi) का हमला होता है जो उसके भीतर प्रवेश कर या पत्तों में बैठकर उसे सत्यानाश कर देते हैं। यहाँ अब हम वनस्पति और उसके चारों तरफ़ की एक दूसरी अवस्था की अर्थात् जन्तु-जगत् के संबंध की चर्चा करेंगे। जब फ़सल पर टिड्डी

आदि का हमला होता है तब तो उन दोनों पदार्थों—फ़सल और टिड्डी—में बड़ा भारी झगड़ा होता है और टिड्डी आदि पतंगों को वहाँ से हटाये बिना काम नहीं चलता। पर दूसरी अवस्थाओं में—ख़ासकर जब फ़सल पर कीड़ों (fungi) से पैदा हुई बीमारी का धावा होता है—तो एक साधारण बात से ही यह हल हो जाता है कि दोनों में से कौन जीतेगा। गिरुई (wheat rust) इस बात का अच्छा उदाहरण है। यदि खेत ऐसा हुआ कि उसमें पानी भर जाता है, तो उस खेत की भीतरी हवा कम हो जावेगी। हवा के कम हो जाने से नोषजन (Nitrogen) भी कम हो जावेगा। नोषजन (Nitrogen) के कम हो जाने से पौधे कमज़ोर हो जावेंगे और वे कीड़ों (fungi) के हमले को सहन न कर सकेंगे। इससे पौधों और कीड़ों (fungi) में जो मज़बूत होगा वही एक दूसरे को मार देगा। यद्यपि पौधे टिड्डीदल से लड़कर पार नहीं पा सकते, पर कुछ ऐसी बीमारियाँ फुंगी (fungi) के समान होती हैं जिन्हें मज़बूत पौधे परास्त कर देते हैं। उस समय यदि पौधों पर इनका हमला हुआ तो दवा यह न होगी कि उन बीमारियों को दूर कर दिया जावे बल्कि उचित तो यही है कि उन पौधों को इतना मज़बूत बना दिया जावे कि जिससे वे इन छोटी-छोटी बीमारियों पर विजय पा लें।

हम अब तक खेती के काम की ओर पूरी तरह दृष्टिपात करते रहे हैं। हमें अब यह मालूम हो चुका है कि पौधों के चारों ओर की अवस्थाओं में से प्रत्येक का एक-एक दर्जा होता है और यह भी मालूम हो चुका है कि हर एक जाति के पौधों के बढ़ने के लिए इन सब अवस्थाओं का एक ख़ास संग्रह होता है जिसको सर्वोत्तम अवस्था (Optimum) कहते हैं। हमने यह भी सीख लिया है कि इन्हीं अवस्थाओं के अनुसार फ़सल का चुनाव करना चाहिए। हमने यह भी जान लिया है कि जो अवस्थाएँ हमारे वश की हैं उन्हें इस तरह अपने

काम में लावें कि उनसे अधिक से अधिक फ़ायदा हो सके। हम यह भी देख चुके हैं कि पौधों के चारों ओर की अवस्थाएँ किन-किन बातों पर निर्भर रहती हैं। इन्हीं बातों का ज्ञान प्राप्त कर लेने से सारी किसानी सफल या असफल हो सकती है।

———

छठवाँ अध्याय

खेती में किसान का कर्त्तव्य

हम पीछे कह चुके हैं कि आबहवा में समय पर और स्थान-स्थान पर अन्तर पड़ता रहता है। इस अन्तर को ध्यान में रखना किसान के लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक किसान को यह बात विदित है कि उत्तर-प्रदेश में बरसात के शुरू में कपास का बोना ठीक है और अक्तूबर में बोना बिल्कुल व्यर्थ है। इसी प्रकार वह कभी भी अच्छी आबपाशी वाली भूमि में चना, और साधारण रेतीली भूमि में गन्ना न बोवेगा। इस प्रकार पौधों को दो अवस्थाओं का मुक़ाबला करना पड़ता। मुख्य अवस्था ऋतु और आबहवा संबंधी है जो आकाश-संबंधी (meteorological) अवस्था पर निर्भर है। दूसरी अवस्था स्थान संबंधी है जो भूमि की आन्तरिक और रासायनिक अवस्था का परिणाम है। इन दोनों अवस्थाओं में विशेष रूप से कोई अंत नहीं देखा जा सकता तो भी यह अंतर साफ़ प्रकट है। अब पौधों और आबहवा के संबंध का पता लगाकर हम यह पूरा पूरा जानने का प्रयत्न करेंगे कि पौधों की बढ़ती में क्या-क्या रुकावटें होती हैं।

हमें अब आबहवा का पूरा अभिप्राय समझ लेना चाहिए। आबहवा का प्रधान गुण परिवर्तन है। वर्षाकाल से शीतकाल में, शीतकाल से ग्रीष्म काल में, और ग्रीष्मकाल से वर्षाकाल में सदैव इसी प्रकार परिवर्तन होता रहता है। ऋतुओं में स्थान के अनुसार कोई विशेष विभिन्नता नहीं होती। एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने से केवल क्रमागत परिवर्तन होता हुआ मालूम पड़ता है। बंगाल में गंगा के द्वारा पंजाब जाने से मई और जून के महीने में गर्मी क्रमशः कुछ अधिक और हवा में कुछ-कुछ

सूखापन मालूम पड़ता है और दिसंबर तथा फ़रवरी तक जाड़े में क्रमशः शीत बढ़ती हुई मालूम पड़ती है। पर यह परिवर्तन केवल क्रमशः होता है। इस प्रकार कलकत्ता और लाहौर की आबहवा में अंतर मालूम होने लगता है। पर इन दोनों स्थानों के माध्यमिक स्थानों में—यथा, कानपुर, इलाहाबाद, में—कोई ख़ास परिवर्तन नहीं दिखाई देता। आबहवा की इस एक अवस्था की तुलना अगर हम भूमि के बहुरूपीपन से करें तो यह मालूम होगा कि बहुरूपीपन भूमि का ख़ास गुण है। थोड़ी ही दूर में भूमि की आन्तरिक और रासायनिक परिस्थिति एकदम दूसरी हो जाती है।

यह हम बता चुके हैं कि प्रत्येक पौधे को अच्छी तरह उगने के लिए अनेक अवस्थाओं के सर्वोत्तम मेल (optimum) की ज़रूरत होती है। अवस्थाएँ जैसे-जैसे बदलती जाती हैं वैसे-वैसे वहाँ के पौधों की बाढ़ कम होती जाती है। अंत में जब हम इस सर्वोत्तम अवस्था (optimum) से बहुत दूर निकल जाते हैं तो वहाँ वह पौधा बिल्कुल पैदा ही नहीं हो सकता। ऊपर इस उच्चतम अवस्था (optimum) के विषय में तथा उसके फ़सल की ऊपज के संबंध में जो बातें कही गई हैं उन्हें हम वास्तविक रूप से कृषि-संसार में देखते हैं। उदाहरण के लिए गेहूँ की फ़सल लीजिए। पंजाब के पूर्व से गेहूँ की खेती का महत्त्व कम होता है और बंगाल में आकर एकदम ग़ायब हो जाता है। उत्तर प्रदेश में कपास के विषय में भी यही बात देखने में आती है। मथुरा में ख़रीफ़ में कपास एक मुख्य फ़सल है। जैसे-जैसे उसके पूर्व की ओर जाने लगते हैं वैसे-वैसे वह घटने लगती है और पूर्वी ज़िलों में आकर वह एकदम ख़तम हो जाती है। यहाँ यह कहने का तात्पर्य्य नहीं कि इन अवस्थाओं में फ़सल के रक़बे पर केवल एक आबहवा का ही असर होता है, पर सारांश यह है कि आबहवा का इस पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है।

अब तक हमने फ़सल के मुख्य-मुख्य प्रकार तथा धान, गेहूँ इत्यादि एक फ़सल को एक मानकर विचार किया है। पर इन फ़सलों के भी छोटे

छोटे उपविभाग होते हैं। इन प्रत्येक उपविभागों में प्रत्येक की कुछ विशेषताएँ होती हैं जिन पर ज़मीन और उसके चारों ओर की आब-हवाओं का भी असर पड़ता है। और ज़मीन और आबहवा की वे ख़ास अवस्थाएँ जो गेहूँ के उपविभागों पर प्रभाव डालती हैं इन विभागों की सर्वोत्तम दशाएँ (optimum conditions) कही जा सकती हैं। नतीजा इसका यह होता है कि एक ख़ास सीमा (area) के अंदर एक फ़सल हो सकती है। इसी वजह से हम भारतवर्ष में हर फ़सल के लिए एक ख़ास सीमा पाते हैं जहाँ वह फ़सल बहुत अच्छी तरह से पैदा हो सकती है। गेहूँ की सीमाएँ (zones) पंजाब से लेकर बिहार तक है जिनमें कि गेहूँ की किसी न किसी क़िस्म के लिए सर्वोत्तम अवस्था (optimum condition) पाई जाती है। इसी तरह चावल के भी उप-विभाग हैं। इस प्रकार फ़सल के प्रत्येक भाग के उप-विभाग होते हैं और प्रत्येक उपविभाग की भिन्न-भिन्न सर्वोत्तम (optimum) अव-स्थाएँ और उनकी सीमाएँ होती हैं। इस प्रकार किसान को चाहिए कि बुद्धिमानी के साथ फ़सल के उपविभागों को बोने के लिए चुने जैसी कि सर्वोत्तम (optimum) अवस्था उसके खेत में मौजूद हो। पर इस बुद्धिमानी के साथ चुनाव करने पर भी उस फ़सल के लिए रक़बा बढ़ाया नहीं जा सकता। इससे किसान के लिए यह जान लेना परमावश्यक है कि आबहवा से ही यह पता लग सकता है कि कहाँ किस फ़सल की अच्छी उपज हो सकती है। और व्यावहारिक दृष्टि से आबहवा की सबसे अधिक विशेषता यह है कि उस पर मनुष्य का अधिकार नहीं रह सकता। और यही अवस्थाएँ हैं जो एक फ़सल की सीमा नियत कर देतीं हैं, जिसके भीतर कृषि-कर्म चल सकता है।

ज़मीन का उपजाऊपन तथा उसपर मनुष्य का अधिकार

खेती के काम के लिए भमि में कुछ रासायनिक और यंत्र संबंधी

(mechanical) योग्यता की आवश्यकता है । उसकी यंत्रसंबंधी (mechanical) आन्तरिक अवस्था ऐसी हो कि पौधों की जड़ें उसमें सरलता पूर्वक प्रवेश कर सकें, और उसमें स्थिर भाव से मज़बूत जमी रह सकें । उसके भीतर से पानी का आवागमन अधिक स्वतंत्र और शीघ्र न हो जैसे कि रेतीली ज़मीन में होता है । नहीं तो जितनी बार उसमें से पानी निकलता जावेगा उतनी ही बार उसमें से उसी के साथ-साथ वनस्पति भोजन बहकर निकल जावेगा । पर साथ ही वह इतनी ठोस भी न हो कि पानी उससे से बिल्कुल निकल ही न सके । क्योंकि मिट्टी में से होकर जो सदैव ताज़ा पानी और उस पानी के साथ-साथ हवा आती रहती है वे दोनों खेती के लिए बहुत आवश्यक हैं । वे उन खनिज पदार्थों और हवा को वनस्पति भोजन बना देते हैं जो उनके संयोग के बिना बेकार पड़े रहते हैं या कभी-कभी वनस्पति के लिए हानिकारक हो जाते हैं । ताज़े पानी और हवा का संयोग होना ऐसा है मानो स्वयं प्रकृति ही उस भूमि की जुताई कर रही हो और बिना किसी दूसरी सहायता के ही वे उस मिट्टी को बहुत उपजाऊ बना देते हैं, जिनका कि वे स्वयं निर्माण करते हैं, यदि वह ज़मीन लहर के थपेड़ों से और मूसलाधार जलधारा से बचकर कहीं बनी रही । पर मिट्टी को इस प्रकार तैयार करने में मनुष्य द्वारा भी बहुत सी कृत्रिम सहायता मिलती है । ज़मीन को जोतकर वह प्रकृति से इस काम में सहायता देता है कि प्रकृति उस मिट्टी को इस योग्य बना दे कि उसमें पौधे उग सकें और उसमें से हवा और पानी सरलता से आ-जा सकें । उसका ज़मीन में खाद डालने का भी यही उद्देश्य रहता है । क्योंकि खाद डालने से खेत के रासायनिक गुण बढ़ जाते हैं । उसमें की मिट्टी हलकी हो जाती है और उसमें पौधों की जड़ें शीघ्र प्रवेश कर सकती हैं । इससे रेतीली ज़मीन कुछ ठोस और मज़बूत हो जाती है तथा उसकी आन्तरिक और रासायनिक अवस्था भी सुधर जाती है ।

रासायनिक दृष्टिकोण से ज़मीन में वे जड़ पदार्थ (inorganic substances) अवश्य होने चाहिएँ जो पौधों के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। इसमें तथा मिट्टी के रासायनिक गुणों में थोड़े से परिश्रम से मनुष्य बहुत उन्नति कर सकता है। यथा बंजर ज़मीन में भी कुछ आवश्यक पदार्थ डाल कर उसे उपजाऊ बना सकता है।

इन सब उपायों से ज़मीन का उपजाऊपन मनुष्य के वश में आ सकता है। वह उस ज़मीन की प्रकृति के अनुसार उसमें इस प्रकार अनाज बो सकता है जिसकी फ़सल कट जाने के बाद उसकी दूसरी फ़सल के लिए—जिसे कि वह अब बोना चाहता है—वह ज़मीन आसानी से तैयार की जा सके। वह अपनी ज़मीन में से बेकार चीज़ें निकाल कर या उसमें आवश्यक चीज़ें और अच्छी मिट्टी मिला कर उसकी प्रकृति को सदैव के लिए बदल सकता है।

मनुष्य का भूमि के जलकणों पर भी बड़ा अधिकार रहता है। इससे इसका भी विचार कर लेना आवश्यक है। इस अध्याय में हम अभी तक जितनी बातें कह चुके हैं उन सब का नाम काश्तकारी या किसानी है।

पौधों की जड़ों का उनके ऊपर के बाल या रेशे द्वारा भूमि के टुकड़ों और उनके चारों तरफ़ के पानी से संयोग होता है। इन्हीं बालों या रेशों द्वारा भूमि के भीतर का पानी और उसमें के द्रव (Soluble) पदार्थ और नमक उन जड़ों के भीतर पहुँचते हैं। भूमि के भीतर का पानी दौड़-दौड़ कर उसी ओर जाता है जिधर कि पौधों की बालवाली जड़ें होती हैं। जितने अधिक परिमाण में उस मिट्टी में पानी होगा उतनी ही सरलता से उसमें की जड़ों में पानी पहुँचेगा। ये जड़ें सदैव श्वास लेती रहती हैं और उनके द्वारा कई मिश्रित आर्गनिक (Organic substance) पदार्थों में ओषजन (Oxygen) के द्वारा आपस में घर्षण होता रहता है। बहुधा यह ओषजन (Oxygen) उस पानी में मिला हुआ पाया जाता है जिसे कि जड़ें पीती हैं और भूमि के भीतर

जिस परिमाण में पानी का हवा से सम्पर्क रहेगा उसी पर इस ओषजन (Oxygen) का परिमाण निर्भर रहेगा। इसलिए उस मिट्टी के भीतर बहुत पानी की आवश्यकता है। पर बहुत अधिक भी न हो; नहीं तो भूमि के भीतर जो हवा है उसमें से ओषजन (Oxygen) की मात्रा कम हो जावेगी जिससे पौधों की जड़ों को साँस लेने में रुकावट पड़ेगी। यहाँ तक कि पौधे ख़राब होने लगेंगे। यद्यपि पौधे-पौधे में अंतर होता है पर बहुधा पौधों के लिए अधिक पानी वाली मिट्टी की आवश्यकता होती है जिससे पानी दौड़-दौड़ कर पौधों की जड़ों तक पहुँच सके।

यह किसानी का एक मुख्य कार्य्य है। यद्यपि यही सबों में मुख्य कार्य्य नहीं है और इस कार्य्य को करने की प्रणाली उस स्थान की आब-हवा पर निर्भर रहेगी। कहीं पानी अधिक और कहीं कम बरसता है। भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न उपायों से काम लेना पड़ता है। किसानी का कोई ख़ास दर्जा नहीं मान लिया जा सकता और इस बात का हमें अनुभव करना चाहिए। गर्म देशों में अभी हाल ही में खेती के वैज्ञानिक उपायों का आविष्कार हुआ है, पर हमारे हाथों में जो किताबें आती हैं वे ठंढे देश के अनुभवों के आधार पर लिखी गई हैं। ये ऐसे देश हैं जहाँ गर्मी कम होती है और साधारण पानी गिरता है और वहाँ भाप बनकर बहुत कम पानी उड़ जाया करता है। वहाँ मुख्य सवाल आब-पाशी करने का नहीं परंतु ज़रूरत से ज्यादा पानी को खींच कर निकाल देने का रहता है। इसके विपरीत भारत के किसी-किसी भागों में पानी कम गिरता है और गर्मी ज्यादा पड़ती है। यहाँ पानी बहुत ज्यादा भाप बन अधिक परिमाण में उड़ जाता है। इससे यहाँ तो यह सवाल रहता है कि पानी को कैसे इकट्ठा करें और इस थोड़े से पानी से अधिक लाभ कैसे उठावें।

अब हम यह विचार करेंगे कि किसानी के सर्व साधारण कार्य्य अर्थात् जुताई से पौधों की बढ़ती में कौन-सा लाभ होता है। जुताई के

पहले मिट्टी के बहुत से छोटे-मोटे टुकड़े होते हैं जो आपस में मिले रहते हैं। इन सब मिट्टी के टुकड़ों में पानी फैला रहता है। यह पानी ऊपर की मिट्टी तक पहुँचता रहता है जिसका संसर्ग हवा से रहता है। ऊपरी सतह का वह पानी सूखने लगता है और नीचे से फिर ऊपर की ओर दूसरा पानी खिंचने लगता है। सूखे वायु-मंडल में नम वायु-मंडल की अपेक्षा अधिक परिमाण में भाप बनेगी और रात की अपेक्षा दिन में अधिक भाप बनेगी क्योंकि दिन में वायुमंडल में जलकणों का कम परिमाण होता है। पर रात को इसकी क्षति की कुछ-कुछ पूर्ति होती जावेगी। अंत में वह अवस्था पहुँच जावेगी जब कि यह क्षति पूरी न हो पावेगी। मिट्टी के पानी की मात्रा बहुत कम हो जावेगी, ज़मीन की ऊपरी सतह बिल्कुल सूखी हो जावेगी और ऊपर-नीचे पानी का संबंध टूट जावेगा। पर जब नीचे की ज़मीन का वायुमंडल से संबंध टूट जावेगा तो फिर उसके अंदर का पानी भाप बन कर नहीं उड़ेगा। पर ऐसा होते-होते कभी-कभी यहाँ तक हो जाता है कि मिट्टी की तीनों तहें सूख जाती हैं और जब तक पौधों की जड़ें बहुत नीचे न जा सकेंगी तब तक उन्हें पानी न मिल सकेगा।

ऊपर हमने जिस तरीके का वर्णन किया है उसके दो रहस्य हैं। एक तो यह कि जब ज़मीन की ऊपरी सतह से पानी भाप बनकर उड़ जाता है तो नीचे की सतहों का पानी ऊपर खिंचता आता है। दूसरी यह कि ज़मीन की ऊपरी सतह और नीचे की सतहों के पानी में एक श्रेणीबद्ध संबंध है। जब हम उस श्रेणी को तोड़ देते हैं तो जहाँ तक मिट्टी उथल-पुथल हो जाती है वह सूखी पड़ जाती है तथा फिर नीची सतहों का पानी उस पर चढ़ नहीं पाता। वह श्रेणी इस प्रकार गोड़ने से टूट जाती है। अगर यह गोड़ने का काम ठीक समय में हो गया तो नीची सतहों में काफ़ी पानी बचाया जा सकता है। इस अवस्था में यद्यपि ऊपरी सतह सूखी मालूम होगी तो भी उन पौधों को काफ़ी पानी मिल जावेगा जिनकी जड़ें नीची सतह तक चली जाती हैं, जहाँ पानी रहता है।

किसान का, विशेषकर भारत ऐसे देश में जहाँ कि कम वर्षा होती है, यही पहला काम है। यदि यह काम अच्छी तरह से और उचित अवस्था में किया गया तो उससे एक बड़ा भारी फ़ायदा होगा। पहले भूमि के जलकण जितने व्यर्थ नष्ट हो जाते थे उतने न हो पावेंगे। जुताई से पौधों के लिए भोजन अवश्य ही तैयार हो जाता है।

जुताई का यह असर होता है। उसका असर और भी बढ़ सकता है यदि हल से उलटे हुए ढेले बिल्कुल बारीक हो जावें। मिट्टी की यह बुकनी उसके लिए एक कम्बल का काम देती है क्योंकि वह वायुमंडल को नीचे के जलयुक्त सतहों से मिलने नहीं देती। जब एक बार फ़सल बो दी गई तो फिर हल का बहुत कम उपयोग किया जाता है। उसे तो तभी काम में लाते हैं जब एक फ़सल के बाद और दूसरी फ़सल के पहले खेत ख़ाली रहता है। तब तो उससे बहुत काम लिए जाते हैं। पहले तो वह ज़मीन को खोद कर उसे ऊँची-नीची कर देता है, जिसमें पानी का बहाव ज़रा मुश्किल से हो पर पहले की अपेक्षा उसमें कुछ सरलता से पानी प्रवेश कर सकता है। इसके बाद जब बरसात का पानी उस खेत की मिट्टी को मिलाकर एक कर देता है तब हल से वह मिट्टी फिर खोद दी जाती है जिससे मिट्टी बिल्कुल महीन हो जाती है। मिट्टी को महीन करने में पाटा या पटेला चला देने से और भी सहायता मिलती है। इस क्रिया का काम सिर्फ़ भूमि के जलकणों पर कब्ज़ा करना ही नहीं है बल्कि ज़मीन खुल जाने से उसके टुकड़ों का संयोग हवा और सूर्य की रोशनी से हो जाता है जिसके प्रभाव से रासायनिक क्रियायें होती हैं। ज़मीन को कीटाणु (bacteria) के पैदा होने का स्थान भी समझ लेना चाहिए। जब ज़मीन में उचित परिमाण में पानी और हवा का आवागमन रहता है तो कीटाणु (bacteria) उचित रूप से वहाँ पैदा होते हैं। और ज़मीन के इस हवा और पानी का जुताई से संबंध रहता है। इससे कीटाणु-(bacteria) जगत् का ज़मीन की जुताई से घनिष्ट संबंध है।

जब फ़सल खड़ी रहती है तो उसमें आसानी से हल का उपयोग नहीं किया जा सकता। इससे उस समय में दूसरे औज़ारों से काम लेते हैं। पर दोनों प्रकार के औज़ारों के उपयोग का एक ही उद्देश्य रहता है अर्थात् मिट्टी को महीन करना और पौधों की जड़ों को पानी पहुँचाना।

सातवाँ अध्याय

हिन्दुस्तान की ज़मीनें

पिछले अध्याय में हमने यह बताने का प्रयत्न किया है कि कृषि संबंधी ज़रूरी समस्याओं पर मनुष्य का अधिकार कहाँ तक हो सकता है। अब हम यह विचार करेंगे कि भारत में किसानों को उन पर अधिकार करने में कहाँ तक सफलता मिली है। उस अधिकार के परिणाम पर विचार करने से पहले यहाँ की भूमि, परिश्रम और मूलधन की अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेना अत्यंत आवश्यक है।

भारत में मुख्य-मुख्य चार प्रकार की ज़मीने हैं। पहली लाल ज़मीन होती है। दूसरी काली-कपास ज़मीन या रेगर ज़मीन कहलाती है। तीसरी गंगवार (alluvial) ज़मीन कहलाती है क्योंकि यह मिट्टी बहती हुई नदी की धारा के साथ आकर किसी स्थान में जम जाती है और चौथी लैटराइट (laterite) ज़मीन कहलाती है।

लाल ज़मीन (crystaline soil) का आगे चलकर जो वर्णन किया जायगा वह विन्ध्या के नीचे सारे प्रायद्वीप में पाई जाती है। यह ज़मीन सारे मद्रास प्रांत में, मैसूर रियासत में और बंबई के दक्षिणोत्तर में पाई जाती है। यह हैदराबाद के पूर्वी हिस्सों में भी बढ़ चली है तथा मध्यप्रदेश से उड़ीसा प्रांत, छोटा नागपूर और बंगाल के दक्षिण तक फैली है। यह बुन्देलखंड और राजपूताने की कुछ रियासतों में पाई जाती है। इसका रंग गाढ़ा लाल, भूरा या काला होता है। इस ज़मीन की गहराई और उपजाऊपन भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न होता है और इसका तत्व भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। आमतौर से यह ज़मीन

ऊँची जगहों में कम उपजाऊ, कम गहरी, पथरीली और हलके लाल रंग की होती है। नीचे हिस्सों में अधिक उपजाऊ,गहरी और गहरे काले रंग की होती है। जहाँ इस ज़मीन की गहराई काफ़ी होती है वहाँ पर पानी अगर काफ़ी परिमाण में मिल जावे तो ख़ूब अच्छी फ़सल पैदा हो सकती है। बहुधा ऐसी ज़मीन में नोषजन (Nitrogen) स्फुरिक अम्ल (Phosphoric acid) और ह्यूमस (Humus) की कमी होती है। पर पोटास (Potash) और चूना काफ़ी होता है।

काली-कपास की ज़मींन या रेंगर ज़मीन दक्षिण की सारी ऊँची सम भूमि (Tableland) में पाई जाती है और मद्रास प्रान्त के बिलारी करनल, कड़ापा, कोयमबटोर और टिनावेली जिलों में फैली हुई है। यह ज़मीन लगभग दो लाख वर्गमील में फैली है और बम्बई प्रांत के हर एक हिस्सों में, सारे बरार में और मध्य प्रदेश तथा हैदराबाद रियासत के पश्चिमी हिस्सों में पाई जाती है। इन सारी जगहों की ज़मीन एक दूसरी जगह से आपस में अपने गुणों और उपजाऊपन में बहुत ही विभिन्न है। पहाड़ी के ऊपर और चढ़ाई में कम उपजाऊ और कम गहरी है। केवल उन्हीं जगहों में यह ज़मीन साधारण तरह से उपजाऊ है जहाँ-जहाँ की वर्षा ख़ूब अच्छी होती है। मैदान और पहाड़ी के बीच ऊँची-नीची ज़मीन में गहरी और गहरे काले रंग की ज़मीन पाई जाती है, जिसकी लगातार ऊपर के बहते हुए पानी से लाई हुई मिट्टी से तरक्क़ी होती रहती है। इस श्रेणी की ज़मीन जो कि घाटियों में पाई जाती है, बहुत गहरी और बहुत उपजाऊ होती है। ज्यादातर नदी की धारा से मिट्टी लाकर जमाई हुई ज़मीन होती है। इस ज़मीन का सबसे अच्छा नमूना सूरत और भड़ौंच ज़िले में पाया जाता है। मद्रास की रेगर ज़मीन सारे स्थानों में एक ही साथ लगातार नहीं फैली है।

मद्रास और दक्षिण की दोनों जगहों की ज़मीनों में कुछ समान गुण हैं। रेगर ज़मीन बहुत बढ़िया दानेदार और काली होती है। इसमें चूना

(Calcium) और मगनीसियम कर्बनेत (Magnesiumcarbonate) काफ़ी परिमाण में होते हैं। यह बहुधा गीली और चिकनी होती है। एक अच्छी मूसलाधार वर्षा के थोड़े दिनों बाद ही खेती के लायक़ हो जाती है। गीली ज़मीन सूखने पर सिकुड़ जाती है और उसमें बहुत सी दरारें पड़ जाती हैं। उसके काले रंग होने का कारण, जो कि पहले उसमें ह्यूमस (humus) का मिला होना समझा जाता था, असल में उसके कणों में लोहे का मिला रहना है।

पीने के बहाव से बही हुई मिट्टी की ज़मीन (alluvial soils)—भारत में सब से अधिक पाई जाती है और खेती के लिए सब से अधिक काम की है। प्रायद्वीप के दोनों किनारों में यह ज़मीन कम या ज्यादा चौड़ाई में पाई जाती है। ज्यादातर यह ज़मीन गोदावरी, कृष्णा और कावेरी नदी के मुहाने में और उसके आसपास फैली हुई है। इसमें प्रायः नहर की मदद से चावल, गन्ने, आदि की उपज होती है। इसमें स्फुरिक अम्ल पोटास (Phosphoric acid) नोषजन (Nitrogen) व ह्यूमस (humus) बहुत कम तथा चूना और पोटास (Potash) काफ़ी परिमाण में पाये जाते हैं। यह ज़मीन ब्रह्मदेश में भी पाई जाती है पर भारत में सिंध और गंगा का मैदान ही सबसे बड़ी जगह है जिसमें ऐसी ज़मीन ख़ूब पाई जाती है। यह क्षेत्र सिंधु नदी के कछार से लेकर गंगा के कछार तक फैला हुआ है और इसका क्षेत्रफल तीन लाख वर्ग-मील है। इस सिंधु-गंगा के मैदान में सिंध का कुछ हिस्सा, उत्तर राजपूताना, पंजाब का ज्यादा हिस्सा, उत्तरप्रदेश बिहार, बंगाल और आसाम का आधा भाग आ जाता है जिसका क्षेत्रफल तीन लाख वर्गमील है, जिसकी चौड़ाई पश्चिम में तीन सौ मील से लेकर पूर्व में नब्बे मील तक है। इस ज़मीन की गहराई सोलह सौ फ़ीट से अधिक है और ज्यादातर इसकी मिट्टी हिमालय से आती है।

यों तो देखने में उत्तरी भारत की सारी ज़मीन एक दिखलाई पड़ती

है पर असल में उसकी मिट्टी अपनी-अपनी जगह के अनुसार एक दूसरे से भिन्न होती है। कहीं तो कुछ रेतीली, कहीं कुछ दुमट (loamy) और कहीं-कहीं तो ज़मीन बहुत कड़ी होती है। ऐसी बही हुई गंगावार ज़मीन में खेती करने से बहुत फ़ायदा होता है। क्योंकि साधारण पानी से ही उसकी उपज-शक्ति बहुत अच्छी हो जाती है, इसमें नोषजन तो कम होता है परन्तु पोटाश (Potash) और स्फुरिक अम्ल (Phosphoric acid) काफ़ी होते हैं। चूना तो इसमें बेठिकाने होता है! बिहार के तिरहुत ज़िले में तो काफ़ी चूना होता है पर उसी के पड़ोस के गाँवों के खेतों में बहुत कम होता है।

लेटराइट भूमि (laterite soil) भारत तथा कुछ दूसरे देशों में एक विशेष प्रकार की ज़मीन होती है। यह ज़मीन मध्यभारत की पहाड़ी के शिरों पर और उच्च समभूमि पर और प्रायद्वीप के पूर्वी और पश्चिमी घाटों में पाई जाती है। यह आसाम तथा ब्रह्मदेश में भी पाई जाती है। यह ज़मीन चिकनी मिट्टी की एक चट्टान है जिसमें पानी प्रवेश कर सकता है। वह ऐसे देशों में पाई जाती है जो गर्म हों और जहाँ बहुत पानी बरसता हो। इन चट्टानों और उसकी मिट्टी में खार शैलेत (silicates of alkalies) बहुत कम होता है। ऐसी ज़मीन जो ऊँची जगहों में पाई जाती है, बहुत पतली और पथरीली होती है और उसमें पानी बहुत कम ठहर सकता है। इससे खेती के लिए यह ज़्यादा काम में नहीं आती। घाटी में और नीचे की सतह में जो ज़मीन पाई जाती है वह काले रंग की होती है और उसमें दुमट (loam) अधिक पाई जाती है। इसमें पानी देर तक ठहर सकता है और अच्छी खेती होती है। बहुधा इन ज़मीनों में पोटाश (Potash) स्फुरिक अम्ल (phosphoric acid) और चूना बहुत कम होता है। पर ह्यूमस (humus) भारत की किसी दूसरी ज़मीन की अपेक्षा इसमें सब से अधिक होता है। इस ज़मीन में तेज़ाब ज़्यादा होता है। खाद के उपयोग करने के सिवा इस ज़मीन

को अधिक उपजाऊ बनाने के लिए इसके तेज़ाब को कम करना बहुत ज़रूरी है।

इन चारों प्रकार की ज़मीनों में से, जिनका ऊपर वर्णन हो चुका है, प्रत्येक में तीन प्रकार की मिट्टी होती है—पहली चिकनी मिट्टी, दूसरी मटियार और तीसरी बलुई मिट्टी। प्रत्येक ज़मीन में अनेकों परमाणु होते हैं। भिन्न-भिन्न ज़मीनों में इन परमाणुओं का आकार भिन्न-भिन्न होता है। ज़मीन का चिकनी, बलुई आदि मिट्टियों में विभाजित होना इन्हीं परमाणुओं के आकार पर निर्भर है। जिस ज़मीन में परमाणु का आकार बहुत छोटा होता है, परमाणु एक दूसरे से सटे हुए रहते हैं, और इनमें से किसी भी दो परमाणुओं के बीच में बहुत कम स्थान होता है, तो ऐसी ज़मीन को चिकनी मिट्टी कहते हैं।*इन ज़मीनों में पानी बहुत मुश्किल से प्रवेश करता है और बहुधा उसके ऊपर ही रह जाता है। पर जो कुछ भी पानी इसके भीतर प्रवेश कर जाता है वह देर तक उसके भीतर बना रहता है। ये जमीनें अधिकतर बिहार और बंगाल में पाई जाती हैं। बहुधा इन पर धान और जूट की खेती अच्छी तरह हो सकती है।

जब मिट्टी के परमाणु काफ़ी बड़े होते हैं और किसी भी दो परमाणुओं के बीच की जगह काफ़ी होती है तो उस मिट्टी को बलुई या रेतीली कहते हैं। उसमें से पानी बड़ी सरलता से पार कर उनके नीचे की मिट्टी में पहुँच जाता है। नतीजा यह होता है कि इस रेतीली ज़मीन में पानी अधिक देर तक नहीं ठहर सकता और उसमें बराबर सींचने की ज़रूरत होती है। ऐसी ज़मीन में बहुत कम पैदावार होती है। उसमें बाजरा, ज्वार आदि साधारण अनाज ही बोये जा सकते हैं। दुमट या मटियारी ज़मीन उसे कहते हैं जिसके मिट्टी के परमाणु न तो चिकनी मिट्टी के परमाणुओं के समान छोटे होते हैं और न बलुई मिट्टी के परमाणुओं के बरा-

*चिकनी मिट्टी को उत्तर-प्रदेश के पूर्वी भाग में चपई कहते हैं।

बर बड़े होते हैं। किसान लोग इस ज़मीन को सब ज़मीनों से अच्छी समझते हैं क्योंकि इसमें लगभग हर प्रकार की फ़सल पैदा हो सकती है। गेहूँ, कपास, जौ, गन्ना आदि के लिए यह ज़मीन ख़ास तौर से उपयोगी होती है।

अर्थशास्त्र के विद्वान् ज़मीन शब्द में ख़ास ज़मीन के सिवा आबपाशी, आबहवा, प्रकाश आदि जिनका असर खेती के ऊपर पड़ता है, इनको भी शामिल करते हैं। इससे अब हम भारतवर्ष के खेतों में पानी मिलने के उपायों का वर्णन करेंगे। हमारे देश में खेतों को पानी के लिए सबसे ज्यादा भरोसा वर्षा का रहता है। वर्षा की ही कमी या अधिकता के कारण उपज अच्छी या ख़राब होती है। साथ में जो नक़शा दिया जा रहा है उससे पता चल जाता है कि कहाँ-कहाँ कितना-कितना पानी बरसता है, और साथ ही उससे यह भी पता लग जाता है कि नहरों से कहाँ-कहाँ आबपाशी होती है। इस नक़्शे से यह साफ़ प्रकट होता है कि इस देश में एक स्थान की वर्षा दूसरे स्थान से बिल्कुल ही दूसरी है। जिस जगह में तीस इंच से अधिक पानी गिरता है उसके विषय में यह कहा जा सकता है, यदि वहाँ उचित समयों में या उचित स्थानों में पानी गिरा तो फिर वहाँ कृत्रिम उपायों से आबपाशी करने की ज़रूरत न होगी पर जहाँ तीस और बीस इंच के भीतर पानी गिरता है वहाँ-वहाँ कृत्रिम उपायों से आबपाशी करके पानी की ज़रूरत पूरी करनी होगी। जहाँ बीस इंच से भी कम पानी गिरता है वहाँ यदि वास्तव में हमें खेती करनी है तो एकदम से कृत्रिम उपायों से आबपाशी करनी होगी। राजस्थान, मध्यभारत और दक्खिन में ऐसी भी कुछ जगहें हैं जिनमें वर्षा कम होती है और वहाँ खेती प्रकृति देवी की कृपा पर ही निर्भर रहती है। वर्षा की कमी कृत्रिम उपायों द्वारा ही दूर की जा सकती है। भारत में कृत्रिम उपायों द्वारा आबपाशी निम्नलिखित चार उपायों से होती है :—

(१) सदैव बहती हुई नदी की धारा को बाँध से रोककर उसके पानी

को उस ज़मीन में ले जाते हैं जहाँ कि आबपाशी करनी होती है। इसी सिद्धांत पर उत्तरी भारत की नहरें बनाई गई हैं।

(२) बिना बाँध बनाये नदी के पानी को नहरों के द्वारा सीधा ले जाकर भी काम निकालते हैं। ऐसी नहरों में तब तक पानी नहीं आता जब तक उस नदी का पानी बाढ़ के कारण या उत्तरी देश में बर्फ़ के पिघलने के कारण काफ़ी ऊँची सतह तक नहीं आ जाता। इससे ऐसी नहरों को बाढ़ वाली नहर कहते हैं।

(३) घाटी में बरसात के दिनों में बाँध बनाकर पानी भर लेते हैं फिर उस पानी को नहरों के द्वारा खेतों में पहुँचाते हैं।

(४) पम्प या मोट द्वारा कुएँ से पानी निकाल कर आबपाशी करते हैं।

आगे दी हुई तालिका से पता लग जाता है कि किस-किस राज्य में कितने-कितने रक़बे की किन-किन कृत्रिम उपायों से आबपाशी हो रही है, आबपाशी के किये गये रक़बे में से जो कि १९५४-५५ में करीब पाँच करोड़ ४७ लाख एकड़ था, दो करोड़ २४ लाख एकड़ नहरों द्वारा, एक करोड़ ६४ लाख एकड़ कुंए द्वारा, ९८ लाख एकड़ तालाब द्वारा और करीब ६० लाख एकड़ अन्य उपायों द्वारा सींचा गया था। इस तालिका में हम यह भी देखते हैं कि सन १९५४-५५ में कुल जितने रक़बे में खेती की गई थी, जो कि करीब ३१ करोड़ ४९ लाख एकड़ होती थी, उनमें से केवल ५ करोड़ ४७ लाख एकड़ की आबपाशी कृत्रिम उपायों से की गई थी, बाक़ी की ज़मीन बिल्कुल वर्षा के भरोसे पड़ी रही। आगे दी हुई तालिका संख्या १ भारत की आबपाशी की दशा बतलाती है:—

तालिका संख्या १—भारत में १९५४-१९५५ में आबपाशी हुई जमीन का रकबा (लाख एकड़ में)

	राज्य (सन् १९५७ के पहिले के)	कितने खेत पर खेती की गई ?	नहर सरकारी से आबपाशी	नहर गैर सरकारी से आबपाशी	तालाब से आबपाशी	कुएँ से आबपाशी	अन्य जरिए से आबपाशी	कुल आबपाशी का रकबा	खेती की जमीन का प्रतिशत-कितने भाग में आबपाशी हुई
१	आन्ध्र	१६२	२८	१	१५	४	२	५०	३०.६
२	आसाम	५०	२	८	—	—	७	१७	३३.४
३	बिहार	१९८	७	३	८	५	१९	४२	२१.१
४	बम्बई	४३२	५	१	२	१६	१	२५	५.६
५	मध्यप्रदेश	३१०	९	—	७	२	१	१९	६.२
६	मद्रास	१६६	१९	—	२०	१२	१	५२	३१.९
७	उड़ीसा	१३८	५	१	७	१	६	२०	१३.९
८	पंजाब और पेप्सू	१८०	४९	१	—	२६	१	७७	४२.६
९	उत्तर प्रदेश	४१७	४४	—	१०	६०	७	१२१	२९.४

१०	पश्चिमी बंगाल	११६	४	१०	६	—	६	२६	२३'२
११	हैदराबाद	२६५	३	—	११	६	१	२१	६'८
१२	मध्य-भारत और विंध्यप्रदेश	१६६	२	—	१	५	—	८	४'६
१३	मैसूर	७६	३	—	६	१	१	११	१४'४
१४	राजस्थान	२५८	८	—	१	१६	१	२६	११'३
१५	सौराष्ट्र	८२	—	—	—	४	—	४	५'४
१६	ट्रावनकोर-कोचीन	२८	४	१	१	—	४	१०	२३'६
१७	जम्मू काश्मीर	१७	२	४	—	—	१	७	३६'८
१८	हिमांचल प्रदेश	७	—	—	—	—	१	१	१४'१
१९	भारत के शेष भाग	४५	—	१	—	३	—	४	११'५
	संपूर्ण भारत	३१४६	१६४	३१	६८	१६४	६०	५४७	१७'५

इस तालिका से अब हमें यह पता लग सकता है कि खेती की सारी ज़मीनों को अगर हम प्रकृति के भरोसे बहुत कम रखना चाहते हैं तो हमें आबपाशी करने के कृत्रिम उपायों की ख़ूब उन्नति करनी चाहिये। हिमालय की तराई, तराई के पास के ज़िले, पूर्वीय बंगाल, आसाम, और अरब समुद्र तथा पश्चिमीय घाट के बीच के किनारों के सिवा जहाँ कि वर्षा अधिक होती है और जहाँ कृत्रिम आबपाशी के बिना खेती अच्छी तरह से हो सकती है, बाक़ी जगहों के लिए आबपाशी के कृत्रिम उपायों की उन्नति करने की बड़ी भारी ज़रूरत है।

यहाँ पर यह कह देना भी उचित होगा कि सन्० १६५४-५५ में ५ करोड़ ४२ लाख एकड़, जमीन ऐसी बेकार पड़ी हुई पाई गई जिसमें खेती हो सकती है। इतनी जमीन के बेकार रहने का प्रधान कारण आबपाशी के कृत्रिम उपायों की कमी ही है। इसके अतिरिक्त ८ करोड़ ५७ लाख एकड़ जमीन ऊसर है या खेती के लिये अनुपयुक्त है। यह जमीन ऐसे है कि इसके दोषों को दूर कर देने से यह खेती के लायक़ हो सकती है।

ऐसी जमीन पाँच प्रकार की होती है। एक तो वह जो कि पानी न होने के कारण खेती के काम नहीं आ सकती। ऐसी ज़मीन बहुधा राजपूताना, पंजाब के दक्षिण-पश्चिम में और सिन्ध में पाई जाती है। दूसरी दलदल है जो कि हमेशा पानी से तर होने के कारण खेती के काम में नहीं आ सकती। ऐसी ज़मीन अधिकतर हिमालय की तराई में पाई जाती है। तीसरी वह ज़मीन है जिसे बीहड़ (Ravine land) या खड्ड कहते हैं। यह बहुधा जमुना, चम्बल और सोन के किनारे पर पाई जाती है। चौथी वह रेही ज़मीन है जो कि उत्तर-प्रदेश व पंजाब में बहुधा पाई जाती है। पाँचवीं वह ज़मीन है जो कि उड़ीसा और मध्य प्रदेश में पाई जाती है, और जिसमें कोयला, लोहा इत्यादि बहुधा पाये जाते हैं। इन पाँच प्रकार की ज़मीनों में से पहले चार

प्रकार की ज़मीनें ऐसी हैं जो खेती के लायक़ बनाई जा सकती हैं। केवल इनके दोषों को दूर कर देने की ही आवश्यकता है और वे दोष भी ऐसे हैं जो सरलता से दूर किये जा सकते हैं जैसा कि हम आगे चलकर वर्णन करेंगे।

———

आठवाँ अध्याय

खेती में काम करनेवाले

परिश्रम—लगभग प्रत्येक भारतीय किसान अपनी खेती में खुद व अपने बाल बच्चों के द्वारा ही परिश्रम करता है। पर प्रत्येक गाँव में कुछ ऐसे भी किसान होते हैं जो मज़दूर रखकर खेती करते हैं, और कुछ ऐसे भी होते हैं जो कि मौके-मौके पर और विशेषकर जब कि शीघ्र ही खेती का काम पूरा कर देना चाहते हैं, मज़दूर रखते हैं, भारतीय किसान अपने काम में एक हद तक पूरा-पूरा निपुण कहा जा सकता है। वह मेंहनती, सच्चा और देशी कृषिकला में निपुण होता है। पर उसमें नवीनता के अनुकरण करने का साहस व बुद्धि नहीं होती, क्योंकि नवीन उपायों द्वारा किसी को सफलता पाते हुए उसे देखने का मौक़ा नहीं मिला है। परन्तु लोगों का यह ख़याल कि वह हितकर नवीन उपायों को ग्रहण नहीं करेगा, बिलकुल ग़लत है। जहाँ कहीं उसे भली-भांति यह बताया गया है कि अमुक यंत्र से व अमुक उपाय से अधिक लाभ हो सकता है, वहाँ ही उसने उन नवीन उपायों और यंत्रों को स्वीकार कर लिया है। अन्य व्यावहारिक चतुर पुरुषों की तरह वह केवल बात करने वालों पर विश्वास नहीं करता। अपने पुराने उपायों व पुराने हथियारों को छोड़ देने के पहिले, जिनके उपयोगी होने का उसे अच्छी तरह ज्ञान हो गया है और जिन्हें उसके पिता व पितामह अच्छी तरह से चलाते रहे हैं, और नये उपायों को ग्रहण करने के पहले उनकी योग्यता की वह जाँच-पड़ताल कर लेना चाहता है। यह भी असत्य है कि वह अपनी गई गुज़री हालत में ही रहना पसंद करता है व उसे सुधारना

नहीं चाहता। जब कभी भी उसे अपनी अवस्था सुधारने का अवसर मिला है, उसने उससे लाभ उठाया है। पंजाब में किसानों के रहन-सहन से हमारे उपर्युक्त कथन का समर्थन होता है। वहाँ हजारों किसान अच्छे बीज व बढ़िया औज़ारों इत्यादि से खेती करते हैं और इससे उनकी आर्थिक अवस्था की उन्नति हो गई है। उनके रहन-सहन की प्रथा भी ऊँचे दर्जे की हो गई है। हमारे किसानों में न तो परिश्रम करने की योग्यता की कमी है और न वे किसानी के अच्छे उपायों का अवलम्बन करके अपनी दशा सुधारने से ही मुँह मोड़ते हैं और न वे ऐसे विरक्त हैं कि संसार में रहते हुये अच्छे भोजन, अच्छे कपड़े व अच्छे घरों में रहने का इरादा न रखते हों। भारतीय किसान में यदि किसी बात की कमी है तो केवल दो बातों की। पहले तो यह कि वह उन उपायों को जानता नहीं है जिनसे कि अपनी खेती और उसके साथ अपनी दशा की उन्नति करले, और दूसरे यह कि उन उपायों को पाने के लिये उसके पास साधन नहीं हैं।

भारत में सन् १९५१ की मनुष्य गणना के अनुसार किसानों की संख्या २४ करोड़ ९१ लाख है, जिसमें से ५ करोड़ ८५ लाख पुरुष, १ करोड़ २६ लाख स्त्रियाँ खास खेत में परिश्रम करने वाले हैं, बाकी के १७ करोड़ ८० लाख व्यक्ति उन पर निर्भर रहने वाले हैं। ४ करोड़ ४८ लाख खेती करने वाले मजदूर हैं इनमें से खेत पर खास काम करने वाले १ करोड़ १० लाख पुरुष और ३८ लाख स्त्रियाँ हैं; बाकी के ३ करोड़ इन पर निर्भर रहने वाले हैं। नीचे दी हुई तालिका संख्या २ से यह पता लगता है कि भारत के भिन्न-भिन्न भागों में सन् १९५१ में कितने साधारण किसान व कितने खासकर खेत पर काम करने वाले मजदूर थे :—

तालिका संख्या २

(सन् १९५१ में भारत के भिन्न भागों में साधारण किसान और खेत में मजदूरी करने वालों की संख्या)

	भारत का भाग	साधारण किसान	खास खेत में मज़-दूरी करनेवाले
१.	उत्तर भारत—उत्तरप्रदेश	४६६ लाख	३६ लाख
२.	पूर्व भारत—आसाम बिहार उड़ीसा पश्चिमी बंगाल	६८१ „	१३८ „
३.	दक्षिणी भारत— मद्रास ट्रावनकोर और कोचीन	४८६ „	१२६ „
४.	पश्चिम भारत— बम्बई और सौराष्ट्र	२४३ „	३४ „
५.	मध्यदेश—मध्य प्रदेश मध्य भारत और हैदराबाद	३८३ „	९२ „
६.	उत्तर-पश्चिम भारत— राजस्थान पंजाब पटियाला जम्मू-काश्मीर	२२६ „	१९ „
	सम्पूर्ण भारत	२४९१ „	४४८ „

जब हम एक ओर भारत के सारे किसानों को और दूसरी ओर खेती के काम आने वाली सारी ज़मीन को देखते हैं तो एक बहुत ही मार्के की बात दिखाई पड़ती है। भारत में खेती के काम में आने वाली ज़मीनं लगभग ३५ करोड़ एकड़ है और लगभग २५ करोड़ किसान हैं। इन किसानों में लगभग ७ करोड़ किसान ऐसे हैं जो ख़ुद किसानी करते हैं। बाक़ी के लगभग १८ करोड़ ऐसे हैं जो कि उन ७ करोड़ किसानों पर निर्भर रहते हैं। इसका तात्पर्य यह होता है कि प्रति किसान पीछे—ऐसे किसान जो ख़ुद किसानी करते हैं—पाँच एकड़ ज़मीन है। साधारण तौर से एक भारतीय-किसान-कुटुम्ब में उन पर निर्भर रहने वाले भी सम्मिलित हैं। और यदि इन निर्भर रहने वालों को भी किसानों की संख्या में जोड़ दें तो प्रति किसान पीछे केवल १.४ एकड़ ज़मीन मालूम होती है।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है भारत में औसतन एक किसान कुटुम्ब के पास ५ एकड़ भूमि है। बम्बई में यह अनुपात ११.८ एकड़, पंजाब में १० एकड़, उत्तरप्रदेश में ६ एकड़, बंगाल में ४.५ एकड़, मद्रास में ४.४ तथा हैदराबाद में १२ एकड़ है। यह ध्यान रखने योग्य बात है कि अधिकांश किसान कुटुम्बों के पास औसत से बहुत कम भूमि है। मद्रास, बिहार और पश्चिम बंगाल में १९४९-५० में एक कृषिश्रम-सम्बन्धी जांच की गई थी। उसके अनुसार इन राज्यों में अधिकांश किसानों के पास २ एकड़ से कम भूमि थी। इससे स्पष्ट है कि हमारे भारतवर्ष में बहुधा किसान के पास छोटी सी ज़मीन ही होती है। इस कारण अपने परिवार के सब व्यक्तियों की सम्पूर्ण शक्ति का उपयोग भारतीय किसान नहीं कर पाते। इससे भारतीय किसानों की गरीबी की हालत झलक पड़ती है। दो एकड़ ज़मीन पर खेती करने के लिए पूरे साल के ३६५ दिनों में से बहुत ही थोड़े दिनों की दरकार होती है। खेत के जोतने व बोने के दिनों में तो किसान कठिन परिश्रम करता ही

रहता है व फ़सल काटने के दिनों में भी उसे पूरी मेहनत करनी पड़ती है, पर साल के बाक़ी दिनों में वह बेकार बैठा रहता है। यही उसकी ग़रीबी का कारण है। दूसरे देशों में जहाँ कि प्रति किसान पीछे भारत की अपेक्षा अधिक ज़मीन होती है, वहाँ किसान को क़रीब-क़रीब पूरे साल भर तक काम में किसी न किसी तरह लगा ही रहना पड़ता है। इस प्रकार भारतीय किसान के साल में बहुत से दिन बेकारी में बीत जाते हैं, क्योंकि किसानों के पास सिवा किसानी के कोई दूसरा रोज़गार भी नहीं है। इसका यही फल होता है कि भारतीय किसानों की बहुत सी श्रमशक्ति नाहक़ ही बर्बाद हो जाती है।

ऊपर के कथन से हमें यह मालूम हो गया है कि भारतवर्ष में कुल खेती करने वाले कितने हैं और औसतन प्रति किसान के पास खेती के लिए कितनी एकड़ ज़मीन है। अब हम खेती करने वालों की शारीरिक व मानसिक शक्ति का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे। १६२६ में समस्त भारतवर्ष के डाक्टरी अन्वेषकों की एक सभा हुई थी। अन्यान्य प्रस्तावों के साथ-साथ उस सभा में निम्नलिखित प्रस्ताव पास हुआ था। "इस सभा का यह विश्वास है कि भारतवर्ष में प्रति वर्ष ऐसी बीमारी से मर जाने वालों की संख्या, जिसको हम रोक सकते हैं, औसतन पचास से साठ लाख तक है। ऐसी बीमारी के कारण प्रत्येक खेती-बारी में काम करने वालों की दो हफ्ते से लेकर तीन हफ्ते तक की श्रमशक्ति की हानि प्रति वर्ष होती है। ऐसी बीमारी से प्रत्येक खेती बारी में काम करने वाले की श्रमशक्ति में प्रति वर्ष औसतन बीस फ़ीसदी ह्रास होती है, और प्रति वर्ष इसी कारण से कमाने-खाने की उम्र में पहुँचने के पहिले पचास फ़ीसदी बच्चे मर जाते हैं। यदि उनकी भली भाँति देख-रेख की जावे तो ये ८०-६० फ़ीसदी की संख्या में जी सकते हैं। इस सभा का यह विश्वास है कि ऊपर दिये हुए अंक अतिशयोक्ति नहीं किन्तु यथार्थ अंक से कुछ कम भी नहीं हैं।" पर उन्हीं अंकों को सत्य मानते हुए यह

कहा जा सकता है कि ऐसी बीमारी के कारण भारतवर्ष के सैकड़ों रुपये बर्बाद हो जाते हैं। इस हानि के सिवाय लाखों मनुष्यों को इससे बहुत कष्ट भी होता है।

भारत की मनुष्य गणना से मालूम होता है कि भारतवर्ष के कृषि कर्म से जनसाधारण की तन्दुरुस्ती का जो संबंध है वह प्रकट ही है! भारतवर्ष के सभी हिस्सों में विशेषकर बंगाल, बिहार, उड़ीसा और उत्तर-प्रदेश में हज़ारों मनुष्य भादों-क्वार के महीने में मलेरिया बुख़ार से ग्रस्त होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि एक तो हज़ारों की संख्या में मर जाते हैं और दूसरे हज़ारों काम करने वालों की ताक़त घट जाती है। और यही महीने ऐसे हैं जब कि खेतों में काम करने वालों में खूब बल होना चाहिये। क्योंकि इन्हीं महीनों में ख़रीफ फ़सल की कटाई आदि और रबी के लिए खेत की जोताई व बीज की बोवाई होती है। इसके सिवाय हुक-वर्म रोग (hook-worm) जो कि ज़्यादातर मद्रास में पाया जाता है और काला-आज़ार जो कि बंगाल, बिहार, उड़ीसा और उत्तर-प्रदेश के पूर्वी जिलों में बहुत फैला हुआ है, किसानों की श्रमशक्ति को घटा देता है। रोगों के इस निरंतर आक्रमण का परिणाम यह होता है कि मनुष्य की शक्ति क्षीण हो जाती है और रोज़गार के उचित संचालन के लिए जितने परिश्रम और निपुणता की आवश्यकता है उनसे वह वंचित रह जाते हैं। यहाँ पर यह कह देना सहज नहीं है कि मनुष्यों के स्वास्थ्य का खेती की उपज शक्ति पर कितना प्रभाव पड़ता है। पर इससे कोई इनकार नहीं कर सकता कि वास्तव में उसका उस उपज-शक्ति पर बड़ा असर होता है।

भारतवर्ष में जीवन की अन्य परिस्थितियों की तरह इस विषय में भी दुर्भाग्य का चक्र चल रहा है। आयुर्वेद-विशारदों की राय है कि भारतवर्ष के लोग कम मेहनती होते हैं क्योंकि उन्हें उचित परिमाण में भोजन और वस्त्र नहीं मिलता। जनता को उचित परिमाण में भोजन और वस्त्र

न मिलने का कारण है यहाँ की खेती का अन्य देशों की अपेक्षा कम लाभदायक होना और यहाँ की ज़मीन इसलिए कम लाभदायक होती है क्योंकि उस पर उचित परिमाण में परिश्रम नहीं किया जाता, और यहाँ की ज़मीन में काम करने वाले रोग से पीड़ित होने के कारण दुर्बल होते हैं। इससे वे ज़रूरत के मुताबिक़ परिश्रम नहीं कर सकते। खेती की अपेक्षा किसी भी दूसरे रोज़गार में किसान के लिए शिक्षा व उन्नतिशील विचार रखने की अधिक आवश्यकता नहीं है। उद्योग-धन्धों में यदि मज़दूर अपढ़ है पर अपने धंधे में निपुण है तो, चूँकि वह एक अनुभवी और शिक्षित व्यवसायी के आदेशानुसार काम करता है, उस उद्योग-धंधे में कुल मिलाकर कोई भारी नुक़सान नहीं होता। पर खेतीबारी में तो स्वयं किसान प्रबंधकर्ता, मज़दूर व व्यवसायी होता है। उसका काम किसी दूसरे की अक़्ल पर निर्भर नहीं रह सकता। इससे किसान के लिए शिक्षा की बड़ी आवश्यकता है। इस दृष्टिकोण से देखने से ग्रामीणों की शिक्षा का प्रश्न बहुत गम्भीर है। सन् १६५१ की मनुष्यगणना के अनुसार भारत में पुरुषों में पढ़े-लिखे लोग २४.६ फ़ीसदी थे और पढ़ी-लिखी स्त्रियों की संख्या ७.६ फ़ीसदी थीं। सब उम्र के व दोनों वर्ग के शिक्षित मनुष्यों की संख्या १६.६ फी सदी थी। इन अंकों से यह प्रकट है कि शिक्षित मनुष्यों की संख्या बहुत ही कम है। ऐसी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये कृषि संबंधी जाँच कमेटी ने कहा है कि हिन्दुस्तान में ग्रामीणों की उन्नति करने में उनका अशिक्षित होना ही एक महान् व भयंकर बाधा है। हिंदुस्तान के उन अस्सी फ़ीसदी लोगों के निरक्षर होने के कारण वे किताब में लिखी हुई अनेक लाभकारी बातों से लाभ नहीं उठा सकते। भारत की ग़रीबी के कारणों का यों तो एक दूसरे से संबंध इस प्रकार का है कि एक के कारण दूसरा उत्पन्न होता है, दूसरे के कारण तीसरा। इसी तरह पहले के कारण का भी कोई कारण है। पर यथार्थ में इस ग़रीबी का मूल कारण शिक्षा का अभाव

ही है। यहाँ शिक्षा का अर्थ केवल अक्षरज्ञान से ही नहीं है। शिक्षा के अंतर्गत वे सभी बातें आती हैं जिससे मनुष्य का मनुष्य के विषय में तथा अन्य सभी सांसारिक विषयों में साधारण ज्ञान बढ़ता है व उचित रूप से काम करने की योग्यता आती है। पर केवल अक्षर-ज्ञान के अभाव का प्रभाव बड़ा ख़राब व शोचनीय पड़ता है। एक तो अक्षर-ज्ञान के बिना मुश्किल से बढ़ पाता है, इसके सिवाय जनता में अक्षरज्ञान न होने से साधारण ज्ञान बहुत वे सुधारकों के गंभीर, विचारपूर्ण व सुमधुर व्याख्यानों से तथा अन्वेषकों के निरंतर परिश्रम करने पर जो अन्वेषण हुए हैं अपने, लाभ नहीं उठा सकते। फिर अक्षरज्ञान के बिना साधारण ज्ञान न बढ़ा पाने से उनके विचार बहुत संकुचित रह जाते हैं व उन्नति की आशा या किसी प्रकार की महत्वाकांक्षा तो उनमें ज़रा भी नहीं रह जाती और उनके विचार तथा रहन-सहन का दर्जा बहुत नीचे रहता है जिससे उनकी श्रमशक्ति बहुत घट जाती है क्योंकि विचार और रहन-सहन के दर्जे से तथा श्रमशक्ति से घना संबंध है।

———

नवाँ अध्याय

खेती का मूलधन

किसी भी व्यापार में मूलधन दो प्रकार का होता है—पहला स्थायी मूलधन, व दूसरा अस्थायी मूलधन। किसान के स्थायी मूलधन उसके खेती के औज़ार, बैल, भैंस, बैलगाड़ी इत्यादि हैं। उसके अस्थायी मूल धन खाद, बीज, मज़दूरों की मज़दूरी—यदि किसान किराये पर मज़दूर रखता है—इत्यादि हैं। स्थायी मूलधन सजीव व निर्जीव दो भागों में बँटे हुए हैं। सजीव स्थायी मूलधन उसके बैल व भैंस इत्यादि हैं। निर्जीव स्थायी मूलधन में हल, हल जोतने का जुआ व जोत गाड़ी इत्यादि आते हैं। पाटा व पटेला भी निर्जीव स्थायी मूलधन हैं।

खेती के औज़ार

भारतीय किसान के खेती के औज़ार बहुत ही मामूली व सस्ते होते हैं। वे लोग बहुधा निम्न-लिखित औज़ार काम में लाते हैं। हल जैसा कि पुस्तक के अंत में चित्र संख्या १ में दिया गया है। यही हल लगभग सारे भारतवर्ष में काम में आता है। पर भिन्न-भिन्न स्थानों के हल एक दूसरे से आकार व प्रकार में थोड़े से ही विभिन्न होते हैं। जहाँ की ज़मीन चिकनी व मटियार होती है वहाँ बहुधा मज़बूत व वज़नी हल काम में लाये जाते हैं। जहाँ की ज़मीन रेतीली होती है वहाँ बहुधा हलके हल काम में लाये जाते हैं। हलों की आपस की विभिन्नता ख़ासकर उनके लोहों में पाई जाती है जिसे कहीं-कहीं फल, फार इत्यादि भिन्न-भिन्न नामों में पुकारते हैं। भारत के किसी-किसी हिस्से में, ख़ासकर राजपूताने की रेतीली ज़मीनों में, ऐसे हल काम में लाये जाते हैं जिनका फल या

फार लकड़ी का ही होता है। बहुधा ऐसे हल बीज बोने के और क्यारी बनाने के काम में भी लाये जाते हैं।

जुआ भी लकड़ी का बना हुआ होता है, जैसा कि पुस्तक के अन्त में चित्र संख्या २ में दिया हुआ है। यह वह वस्तु है जो हल चलाते समय व पटेला चलाते समय या कुँए से मोट द्वारा पानी खींचते समय बैल के गले के ऊपर डाल कर उन्हें जोता जाता है। जिस चमड़े की या डोरी की पट्टी से उसे बैल के गले में बाँधते हैं उसे जोत या जोती कहते हैं। बैल को सम्हालने के लिए उनकी नाक से बंधी हुई जो डोरी बैलों के हाँकने वाले के हाँथों में होती है उसे रास कहते हैं।

पाटा या पटेला या हेंगा खेती का वह सामान है जिसे खेत को जोत लेने के बाद उसकी ज़मीन को बराबर करने और मिट्टी के ढेलों को बराबर-बराबर चारों तरफ़ तोड़ देने के लिए उसमें बैल जोत कर खेत के चारों तरफ़ चला देते हैं। भारत की खेती या खेतिहारों की सादगी का यह पटेला एक अच्छा उदाहरण है। यह पटेला लकड़ी का एक चौड़ा पट कुछ मोटा लगभग दस फ़ुट लम्बा टुकड़ा होता है। इस लकड़ी के ऊपर दो खूंटे गड़े रहते हैं जिनके सहारे रस्सी बाँध कर उनमें बैल को जोत देते हैं।

चोंगा या नाई नाम की वस्तु भी खेती के काम में आती है। यह बहुधा बेंत की बनी हुई एक नली होती है जो हल की मूठ के पास बँधी रहती है। हल तो ज़मीन से कोंड बनाता जाता है और यह नाई उन क्यारियों में बीज डालती जाती है। नाई के ऊपर का हिस्सा उस कुप्पी की तरह होता है जिसके द्वारा लालटेन में तेल डाला जाता है। इसी कुप्पी के आकार वाले नाई के मुँह में एक आदमी बीज छोड़ता जाता है।

पुर वा चरसा चमड़े का एक बड़ा भारी थैला होता है। इसे कई जगहों में मोट भी कहते हैं। इसे कुएँ में डाल कर इसके द्वारा पानी

निकाला जाता है जो खेतों में जाता है। (चित्र संख्या ३ देखिये) मोट भी बैल द्वारा खींचे जाते हैं। मोट की रस्सी जो बैल के गले के जुए में बँधी रहती है एक गिर्री या गड़ारी के ऊपर से होकर आती है। (चित्र संख्या ४ देखिये)।

खुरपी या खुरपा गोड़ने या निराने के काम आता है। हँसिया फ़सल काटने के काम आता है। पंचावरा या कलारी भी एक ऐसा हथियार है जो आदमी के हाथ के पंजे की तरह बना रहता है। इसकी उगलियाँ जो कि लकड़ी या लोहे की बनी होती हैं, मुड़ी हुई रहती हैं जो दाँय चलाते समय पयाल को बटोरने के काम आता है।

इनके अतिरिक्त कुदाल है जो खोदने के काम में आता है।

इन सब के सिवाय टोकरियाँ, फावड़े, गँडासे वगैरह भी कुछ छोटे-मोटे औज़ार होते हैं। यही खेती की सारी सामग्रियाँ हैं।

ये औज़ार भारत में खेती के काम के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं। ये अत्यंत ही सादे होते हैं व ऐसी वस्तुओं के बनाये जाते हैं जो कि लगभग सभी जगहों में सरलता से मिल जायँ व टूट-फूट जाने पर सरलता से सुधर जाँय। इनमें न तो दाम ही अधिक लगते हैं और न एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में ही भारी होते हैं। भारत के एक साधारण हल का दाम केवल दस रुपये तक होता है। जुआ, जोत और रास में भी पाँच रुपये से अधिक नहीं लगते। पाटा या पटेला तो केवल दो ढाई रुपये में ही आ जाता है। चोंगा या नाई में बहुत लगा तो एक रुपया। मोट में दस-बीस रुपये से अधिक नहीं लगता। मोट की डोरी भी दस-बीस रुपये के भीतर आ जाती है। गिर्री में एक रुपये से अधिक नहीं लगता। खुरपी एक रुपया, हँसिया बारह आना, कुदाल दो रुपया, फावड़ा लगभग तीन रुपया, पंचावरा दो रुपया—बस यही यहाँ के खेती के औज़ारों के दाम हैं (देखिये चित्र संख्या ५)। इस प्रकार साधारण तौर से भारतीय किसानों के पास निर्जीव स्थायी मूल-

धन, यदि प्रत्येक किसान के पास एक ही एक औज़ार हो, तो पचास और अस्सी रुपये के बीच होता है।

खेती के स्थायी मूलधन का दूसरा हिस्सा सजीव स्थायी मूलधन है। एक भारतीय किसान के पास बहुधा एक जोड़ बैल या एक जोड़ भैंसे होते हैं। यदि इनमें से वह अधिक रख ले तो यह उसकी मर्ज़ी है। एक ज्वारे से (एक जोड़ बैल से) बहुधा दस से पंद्रह एकड़ ज़मीन पर खेती हो सकती है। एक मामूली बैल एक सौ पचास रुपये में और अच्छा बैल तीन सौ रुपये तक में आ सकता है। एक मामूली भैंसा अस्सी रुपये में व एक अच्छा भैंसा एक सौ पचास रुपये में आ जाता है। किसान लोग इससे अधिकतर काम लेना पसंद नहीं करते क्योंकि भैंसे से काम बैल की अपेक्षा धीरे होता है। ग़रीब किसान ही बहुधा भैंसे से खेती करते हैं जिनके पास चार-छः बीघे से अधिक ज़मीन नहीं होती। सम्पूर्ण भारत में खेती का कुल रक़बा लगभग ३५, करोड़ एकड़ है व सन् १९५६ में ३ वर्ष से अधिक उमर के काम करने वाले बैल और भैंसों की संख्या क्रमशः ६ करोड़ ४२ लाख तथा ६३, लाख है। इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि एक जोड़ बैल या भैंसे से लगभग दस एकड़ ज़मीन पर खेती होती है।

सिंचाई के भिन्न-भिन्न उपायों से भी स्थान-स्थान के बैल व भैंसों की फ़ी जोड़ी पीछे खेती के रक़बे में अन्तर हो जाता है। बैलों की ताक़त या उनके शरीर की बनावट से भी इस बात पर असर पड़ता है कि एक जोड़ बैल से कितनी एकड़ जमीन जोती जा सकती है। इससे यह समझना हमारे लिये कठिन न होगा कि जहाँ की ज़मीन चिकनी व कड़ी है वहाँ की अपेक्षा जहाँ ज़मीन रेतीली व फुसफुसी है वहाँ प्रति ज्वारे पीछे अधिक खेती हो सकती है।

जिस ज़मीन पर गेहूँ व कपास जैसी फ़सल की खेती होती है, जहाँ जुताई और सिंचाई की बार-बार ज़रूरत पड़ती है वहाँ बैल की एक

जोड़ी से कम ज़मीन पर ही खेती हो सकती है। ऐसे ही जहाँ सिंचाई का काम बैल द्वारा कुँए से होता है वहाँ की अपेक्षा जहाँ सिंचाई नहर या तालाब से होती है वहाँ एक जोड़ बैल से कुछ अधिक ज़मीन पर खेती हो सकती है। और जहाँ पर मज़बूत बैल पाये जाते हैं वहाँ पर ऐसे बैलों की एक जोड़ी से अधिक खेती हो सकती है। पर जहाँ पर कमज़ोर बैल पाये जाते हैं वहाँ प्रति जोड़ पीछे उससे कम ही खेती होगी।

यह आम शिकायत है कि भारतवर्ष में ढोरों की हालत ख़राब होती जा रही है और बैल की अच्छी जोड़ पाने की कठिनाइयाँ हाल से ही होने लगी हैं। इसका कुछ कारण तो यह है कि खेती का काम बढ़ता जा रहा है और बैलों की माँग भी बढ़ती जा रही है, किन्तु इसका मुख्य कारण तो यह है कि बैलों को काफ़ी चारा नहीं मिलता व नसल भी अच्छी नहीं होती। भारत में ऐसे बहुत से अच्छी नसल के बैल हैं जो कि ख़ासे अच्छे नसल के हैं और उनकी पैदाइश की ओर चारे की ख़ास परवाह की जावे तो अब भी यहाँ अच्छे बैल होने लगें। उत्तर प्रदेश में कोसी और पवार जाति के बैल होते हैं। पंजाब के हरियाना और शाही-वाल बैल प्रसिद्ध हैं। मध्यभारत के मालवी, गुजरात के ककरेज, काठि-यावाड़ के गिर, मध्यप्रदेश के गावलाव और मद्रास के अंगोल और कंगयाग, भारत के प्रसिद्ध बैलों में से हैं जो कि सारे देश में ज़रा सुप्रबन्ध के साथ फैला दिये जा सकते हैं।

अस्थायी मूलधन

जिस अस्थायी मूलधन का उपयोग किसान अपनी खेती में करता है वह तीन वस्तुओं का होता है—खाद, बीज, और मज़दूर आदि को देने के लिये कुछ नक़द रुपये। भारत में ऐसे बहुत कम किसान हैं जो कि अपनी ज़रूरत का सारा स्थायी मूलधन अपने आप लगाते हैं। अभी तक इस बात की जाँच-पड़ताल करने की कोई कोशिश नहीं की गई है। भारत में फ़ी सदी कितने किसान अपना ही अस्थायी मूलधन लगाते हैं

पर बहुत से स्थानों के किसानों को देखने से तो यही कहना पड़ता है कि उनकी संख्या बहुत ही कम है। हाँ, खाद के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। अधिकतर किसान अपनी ही खाद का उपयोग करते हैं।

खाद

भारत में कई प्रकार की खादें होती हैं जिनको कि किसान अपनी खेती के काम में लाता है, जैसे गाय-भैंस का गोबर, खली, जानवरों की हड्डी, लौनी, इत्यादि। इन सब में गोबर का सबसे अधिक उपयोग होता है। दूसरी खादें किसी ख़ास फ़सल के काम आती हैं। गाय, बैल आदि के गोबर जो गौशाला से बाहर निकाल कर या घर के लीपने से बचा हुआ गोबर गाँव के किसी घूर में जमा कर दिया जाता है और वहीं कुछ दिनों के बाद सड़कर खाद बन जाता है। हम लोग तो इस कूड़े-कर्कट का महत्व समझते नहीं। क्योंकि यह गोबर ख़ासतौर से खाद बनाने की नीयत से तो किसी गड्ढे में प्रबंध के साथ रक्खा नहीं जाता। प्रति दिन गाँव का लगभग प्रत्येक गृहस्थ अपनी गौशाला और घर की सफ़ाई करने के बाद उन सब गोबरों को गाँव के किसी एक जगह में इकट्ठा करते जाते हैं। उसी घूर में और भी तरह-तरह के कूड़े फेंके जाते हैं जब तक कि वह किसान उस खाद को अपने खेत में नहीं ले जाता। और अंत में यह गोबर की बनी हुई खाद हमारी फ़सल को उसके कट जाने तक, भोजन देती रहती है। किसी एक गाँव से जो गोबर निकलता है वह सबका सब सीधा खाद नहीं बना दिया जाता। साल के आठ महीने तक तो बहुधा उसके कंडे बनाकर जला दिये जाते हैं। केवल चार महीने बरसात के गोबर घूरों में फेंके जाते हैं जो कि खाद बन कर खेती के काम आते हैं।

आदमियों की विष्टा भी बड़ी अच्छी खाद होती है; पर भारतीय किसान को इससे एकदम नफ़रत हो जाने से उसे एक बहुत ही लाभदायक खाद से वंचित रहना पड़ता है। गाँव के लोग अकसर खेतों में ही

दिशा कर्म कर आते हैं और वही उस ज़मीन पर फैल कर मिल जाती है। पर चूंकि वह ज़मीन के ऊपर ही रह जाती है इससे उसके खाद का गुण बहुत कुछ उड़ जाता है। इसके सिवाय वह आस-पास की हवा को बिगाड़ कर नुकसान पहुँचाती है और एक ऐसे प्रकार के कीड़े उत्पन्न करती है जो उन खेतों में नंगे पैर चलने वालों के पैर के द्वारा प्रवेश कर उनको आँखों तक पहुँच जाते हैं। फिर वहाँ एक से अनेक होकर मनुष्य शरीर को बहुत हानि पहुँचाते हैं। इस बीमारी को हुकवर्म (hook-worm) नाम से पुकारते हैं।

भारत में खली को खाद के काम में अवश्य लाते हैं पर उससे पूरा-पूरा फ़ायदा नहीं उठाया जाता है। खली का दो प्रकार से दुरुपयोग हो जाता है। एक तो बड़ी भारी तादाद में तिलहन विदेशों को भेज दी जाती है।

भारत के निर्यात संबंधी अंकों से यह पता लगता है कि औसत से १८ फी सदी तेलहन की उपज देश से बाहर भेज दी जाती है और इससे यहाँ की खेती को कितनी हानि होती है इसका भी अनुमान हम लगा सकते हैं। जो कुछ तेलहन देश में बच भी जाती है उसमें से ज़्यादातर ढोरों को खिला दी जाती है और इससे ज़मीन को कोई फायदा नहीं होने पाता क्योंकि ढोरों का वह खली वाला गोबर भी कंडा बना-कर जला दिया जाता है।

भारत में पहिले मरे हुए जानवरों को या उनके अस्थिपंजर को बाहर के खेतों में फेंक देते थे जो कुछ काल बाद आपही आप सड़-गलकर मिट्टी में मिल जाते थे। गाँवों में अब भी यही किया जाता है। किन्तु गत तीस वर्षों से जानवरों की हड्डियाँ भी विदेशों को भेज दी जाती हैं जिनसे कि वहाँ तरह-तरह की चीजें बनाई जाती हैं व जो वहाँ खाद का भी काम देती हैं। खली की तरह हड्डियों को भी विदेशों में भेज देने से भारत के खेतों की उपज को बड़ा घाटा पड़ता है।

बीज

बीज और फुटकर खर्च के रुपयों के लिए किसानों को महाजनों और साहूकारों का आश्रय लेना पड़ता है। किसानों को हम बहुधा यह कहते सुनते हैं कि "जैसा बोयेगा वैसा काटेगा" पर वास्तव में अपने खेतों में बीज बोने की क्रिया की ओर वे लोग बहुत ही कम ध्यान देते हैं। यह सच है कि किसान यदि धनवान् हुआ तो आगामी वर्ष बोने के लिए वह बहुत बढ़िया बीज रख छोड़ता है। पर ऐसे धनी किसान बहुत कम हैं और बहुतेरे किसान बीज के लिए महाजनों और साहूकारों पर ही निर्भर रहते हैं। पाश्चात्य देश का किसान दो बात तो ज़रूर करता है। एक तो यह कि जब फ़सल खड़ी रहती है तो उस फ़सल के सिवाय जो कुछ दूसरी फ़सल उस खेत में उगी रहती है वह उसको उखाड़ कर फेंक देता है ताकि उसकी फ़सल के साथ कुछ और न मिलने पावे, और दूसरे यह कि फ़सल काटने के पहिले उस खेत में उस फ़सल के अच्छे दानेदार पौधों को अलग काट करके रख लेता है। भारतीय किसान बीज इकट्ठे करने में इन बातों पर ध्यान नहीं देते।

बीज के चुनाव की अपेक्षा भारतीय किसान उसे रखने में अधिक होशियारी दिखाते हैं। गेहूँ, जौ, चना इत्यादि अनाजों के बीज जो कि फ़ी बीघा तीस सेर से एक मन तक डाले जाते हैं अकसर भसेरों में रक्खे जाते हैं। बीज को घुन से बचाने के लिए उसके साथ राख व हींग मिला देते हैं। ख़ासकर उरद में हींग और ज्वार में राख मिला कर रखते हैं। साहूकार या महाजन भी जो किसानों को बीज उधार देता है, बीज के नाम से कहीं अनाज अलग नहीं रखता। वह अपने सभी अनाज को एक ही में रखता है। गेहूँ, जौ और चना ऐसे अनाजों को वह एक ही खत्ती में भर देता है। उनके पास ढेरों अनाज होता है, इसी से एक जाति के सभी अनाजों को एक साथ रख देता है। ज्वार व बाजरा भसेरों

में या कुठीलों में रक्खे जाते हैं। उरद, मूँग, सरसों इत्यादि मटकों में रक्खे जाते हैं। ज़मीन में अनाज रखने के लिये एक गढ़्ढा खोद दिया जाता है। कभी-कभी उसमें ईंट व चूना लगाकर उसे पक्का भी बना देते हैं, उसी को खत्ती कहते हैं। खत्ती अगर कच्ची हुई तो भूसा या पयाल उस पर बिछाकर और दीवालों में लगाकर उसमें अनाज रखते हैं। खत्ती उन्हीं जगहों में बनाई जाती हैं जहाँ पानी का सतह काफ़ी नीची होती है और जहाँ अधिक पानी नहीं गिरता। इसी से ये खत्ती, मध्य प्रदेश, पंजाब, राजपूताना, मध्य भारत, पश्चिमीय उत्तर प्रदेश और बम्बई में पाई जाती हैं। पूर्वी उत्तर-प्रदेश, आसाम, बिहार, बंगाल और बर्मा में खत्ती नहीं बना सकते हैं। खत्ती से लाभ यह होता है कि उसमें ढेरों अनाज रख दिया जा सकता है। पर उसमें ऐब यह है कि उसमें पानी या हवा जल्दी प्रवेश कर सकती है और बहुधा चूहा भी उसमें जाने के लिये अपना राह बना लेता है और अनाज को बहुत नुक़सान पहुँचाता है।

भसेरा भी एक कच्ची या पक्की कोठरी है जिसकी दीवारों में चारों तरफ़ भूसा लगा रहता है। पक्का भसेरा बड़े-बड़े महाजनों के यहाँ होता है। साधारण गाँवों में कच्चा भसेरा ही पाया जाता है।

मिट्टी के चार दीवारें कहीं बनाकर तैय्यार करते हैं। एक कोठी आठ-दस फुट के क़रीब ऊँची या कभी इससे कुछ बड़ी या कभी इससे कुछ छोटी भी होती है। इसके भीतर अनाज भरकर ऊपर को मिट्टी से बन्द कर देते हैं। अनाज जमा करने के इन सब देसी उपायों में मिट्टी के पके हुए मटकों में रखना सब से अधिक प्रचलित है। इस प्रकार के अनेका-नेक उपायों से रखने पर भी धान सुरक्षित नहीं रहते और उनमें अकसर घुन, सुड़ी या और तरह के कीड़े लग जाते हैं।

साहूकार और महाजन

भारत के प्रत्येक भाग में कुछ ऐसे लोग भी रहते हैं जिनका मुख्य

रोज़गार ग़रीब किसानों को रुपया या अनाज उधार देना है। उत्तरप्रदेश और पंजाब में ऐसे लोगों को साहूकार, पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में महाजन, और मध्यप्रदेश में धनी कहते हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रांतों में उनको भिन्न-भिन्न नाम से पुकारते हैं। साहूकारी प्रथा के अनुसार साहूकार और किसान का परस्पर एक दूसरे के प्रति कुछ कर्तव्य व एक दूसरे पर कुछ-कुछ अधिकार भी होता है। साहूकार का कर्तव्य किसानों को ज़रूरत के अनुसार उपज के काम के लिये या साधारण काम के लिये रुपये या अनाज उधार देना है। और किसान के ऊपर उसका यह हक होता है कि जब तक उसका ऋण न दिया जावे तब तक के लिए वह किसान की फ़सल पर क़ब्ज़ा कर सकता है। किसान का कर्तव्य यह है कि वह अपने साहूकार से ही लेन-देन करे, दूसरे से नहीं और सरकार का लगान चुका देने के बाद अपने महाजन का सारा चुकता कर दे, तब फिर दूसरे काम के लिये अपनी फ़सल पर हाथ लगावे। किसान का साहूकार के ऊपर यह हक़ भी है कि वह अपनी ज़रूरत के अनुसार अपने साहूकार से रुपये या अनाज उधार ले ले। हम ऊपर कह चुके हैं कि साहूकार दो प्रकार से उधार दे सकता है—रुपये या अनाज तथा अन्य वस्तुएँ। जब साहूकार अनाज उधार देता है तो फिर फ़सल के बाद अपने अनाज के साथ उस परिमाण का आधा या चौथाई अनाज ब्याज के रूप में उस किसान से और लेता है। और जब रुपये उधार देता है तो स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न दर से वह ब्याज भी लेता है अथवा अपने मूल और उसके ब्याज के पैसे से वह उस किसान की फ़सल ख़रीद लेता है। जब उसने फ़सल को ख़रीदा तो बाज़ार भाव से फ़ी रुपया पीछे सेर आधा सेर अधिक लेता है। ब्याज का दर बहुधा एक महीने के लिये दो रुपये सैकड़ा होता है।

साहूकार और किसान का हिसाब साल में दो दफ़े होता है। एक तो ख़रीफ़ की फ़सल के बाद दिवाली के आस-पास, दूसरा रबी के फ़सल

के बाद जेठ के दशहरे के आस-पास। साहूकार हिसाब करते समय कुछ और किसानों के सामने अपने किसान को पिछले छ महीने का सारा लेन-देन दिन और तारीख़ के अनुसार सुनाता है फिर उससे क़बूल कराकर बाक़ी का हिसाब चुकता करा लेता है। अगर चुकता करने से कुछ लेन-देन बच रहा तो फिर अगले छ महीने के लिये नये खाते में डाल देता है।

ऊपर कहे हुये अनुसार की साहूकारी लगभग सारे भारतवर्ष में चलती ही है। पर उपज के दाम के बढ़ जाने के कारण आजकल इस प्रथा में कुछ हेर-फेर व व्यभिचार होने लगा है। एक बात बहुधा यह देखने में आती है कि साहूकार जब अनाज उधार देता है तो खाते में किसान के नाम अनाज न लिखकर, बाज़ार भाव से उस अनाज का फ़ी रुपया सेर आध सेर कम दाम लगाकर रुपया ही खतिया लेता है, और फिर उस रुपये पर प्रतिमास दो रुपया सैकड़ा के हिसाब से ब्याज भी लगाता है। फिर मूलधन और सूद को मिलाकर फ़सल के बाद बाज़ार भाव से फ़ी रुपया सेर आध सेर अधिक लगाकर किसान की फ़सल को खरीद लेता है। यह व्यभिचार पुराने साहूकारों में नहीं पाया जाता है। यह तो नये साहूकार ही करते हैं। सब साहूकारों में यह एक बात बराबर पाई जाती है कि जो साहूकार अनाज वापस लेता है उसमें की अच्छी-अच्छी चीज़ें बाज़ार में जाकर बेंच आता है और मामूली चीज़ों को फिर किसानों को उधार में दे देता है।

कभी-कभी छोटे-छोटे व नये-नये साहूकारों में एक और बात भी पाई जाती है कि उनके पास तौलने के तीन-तीन बाट होते हैं। हल्के बाट से तौलकर वह किसानों को देता है और भारी बाट से तौल कर उनसे लेता है, पर जब कोई सरकारी अफ़सर जाँच के लिये आ गया तो फिर उन दोनों को छिपा कर असली बाट दिखला देता है।

दसवाँ अध्याय

हिन्दुस्तान में खेती की क्रियायें

भारत में कृषि-वर्ष को फ़सली साल कहते हैं। वह कुंआर बदी एकम से आरंभ होकर बारह महीने के बाद भादों सुदी अमावस को ख़तम होता है। बहुत से स्थानों में एक साल में दो फ़सलें होती हैं, एक ख़रीफ़ और दूसरी रबी। ख़रीफ़ जेठ से लेकर कातिक तक और रबी कातिक से लेकर बैसाख तक चलती है। ख़रीफ़ में निम्नलिखित चीज़ें बोई जाती हैं—जैसे मक्का, ज्वार, बाजरा, कपास, उरद, मूँग, रमास या बोड़ा, अरहर अंडी, तिल, सन, धान, इत्यादि। रबी में गेहूँ, जब, चना, मटर, सरसों, अलसी, इत्यादि।

भारत में वर्षा ऋतु से कृषिकर्म आरंभ हो जाते हैं। इसके पहिले किसान अपने खेतों में खाद डाल कर उन्हें तैयार रखता है। यह काम वर्षा आरंभ होने के लगभग दस या पंद्रह दिन पहले हो जाता है। बहुधा भारत के किसी-किसी हिस्से में जून के आरंभ में ही वर्षा का आरंभ हो जाता है व किसी-किसी स्थान में इससे कुछ देर बाद आरंभ होता है। खाद डालने का कोई ख़ास मार्के का ढंग नहीं होता। घूर से कसान उन्हें उठाकर अपने खेतों में कुछ समान-समान दूरी पर छोटी-छोटी ढेरियों में रख देता है। एक बार दो-तीन दिन तक अच्छी वर्षा हो जाने के बाद जब खेत में ओट आ जाती है तब वह खेत जोत दिया जाता है। फिर खाद को फावड़े से खेत में फैला देते हैं। फिर एक बार हल चलाने के बाद उस पर पाटा चला देते हैं जिससे सब ढेले फूट-फूटकर चारों तरफ़ अच्छी तरह से फैल जाते हैं। जिस खेत में फ़सल बोई जाती है उसमें

वैसे ही बीज बोने के पहले जुताई की आवश्यकता होती है। मक्का और ज्वार के खेत अक्सर दो बार जोते जाते हैं। बाजरे के लिये एक बार के हल चलने से काम निकल जाता है। कपास के खेत में बीज बोने के पहले तीन-चार बार हल चलाया जाता है। रबी के वे खेत जिनमें गेहूँ, जौ, सरसों, इत्यादि बोना होता है, ज्यादातर ख़रीफ़ की फ़सल बोने के बाद एक दो दफ़ा जोतकर छोड़ दिये जाते हैं जिससे उनमें ख़ूब पानी भरे, और कुआर कार्तिक में फिर दो तीन दफ़ा जोत कर और पाटा देकर बोये जाते हैं। बार-बार जोतने व पाटा चलाने से वह मिट्टी एक रस वाली होकर बीज को ग्रहण करने व उससे पौधा उत्पन्न करने के लायक़ हो जाती है।

इस प्रकार खेतों में खाद डालना खेती की पहिली विधि हुई। दूसरी विधि खेतों की जुताई करना है। (पुस्तक के अंत में चित्र संख्या ६ में दो ज्वारे की जुताई दिखाई गयी है। चित्र संख्या ७ में पटेला देना दिखाया गया है।)

अब तीसरी विधि उसमें बीज बोना है। बीज दो प्रकार से बोये जाते हैं। एक तो खेत को जोतकर बीजों को चारों तरफ़ हाथ से बखेर देते हैं। इसे हम छिटका या बखेरू विधि कह सकते हैं। दूसरी विधि क्यारू कही जा सकती है। खेतों को बीज बोने के पहले जोत लेते हैं पर बीज बोने के समय फिर से उस पर हल चलाते जाते हैं और साथ ही साथ कूंडों (नाई) के ज़रिये जो कि हल की मूठ के पीछे बँधी रहती है उसी हल द्वारा बनाई हुई क्यारियों में बीज छोड़ते जाते हैं। (चित्र संख्या ८ देखिये।)

ख़रीफ़ में मक्का, ज्वार, और कपास के बीज की कूंडी बना कर बोते हैं। बाजरा, उरद और मूँग के बीज को बखेर कर बोते हैं। जब ज्वार को चारे के लिए बोते हैं तो उसके बीज बखेरू विधि से बोये जाते हैं। रबी में चना, मटर और जई बखेर कर बोते हैं। बाक़ी के अनाज कूंडी

द्वारा बोये जाते हैं।

खेती में चौथा काम सिंचाई का होता है। हम जैसा कह चुके हैं, भारत में सिंचाई के कई ज़रिये हैं। पर सिंचाई का चाहे जो ज़रिया हो दो प्रकार का हो सकता है। या तो सिंचाई बहते हुए पानी से हो सकती है या नीचे के पानी को ऊपर उठा कर। बहते हुए पानी से सिंचाई, या बहती हुई नदी या नहर या तालाब से जो कि खेतों से ऊँचे स्थान में हों एक धारा काट कर व उसे खेतों में पहुँचा कर की जाती है।

नीचे से पानी को ऊपर उठा कर चरस द्वारा उन्हीं स्थानों में सिंचाई की जा सकती है जहाँ पानी या तो कुएँ से या ऐसी नदी या नाले से निकाला जाता हो जिसकी सतह खेतों से नीचा हो (चित्र संख्या ६ और १० देखिए) इनमें से प्रत्येक प्रकार की सिंचाई दो प्रकार की होती है। एक तो वह जहाँ खेत में पानी काट कर उसमें लबालब भर दिया जावे, और दूसरे वह जहाँ पानी बरहा (नाली) बनाकर खेत में ले जाया जावे, फिर एक क्यारी से दूसरी क्यारी में भर दिया जा सके। पहले प्रकार का उपाय बहुधा उन स्थानों में काम में लाया जाता है जहाँ सिंचाई अकसर नहरों द्वारा होती है। दूसरे प्रकार के उपाय उन स्थानों में काम में लाये जाते हैं जहाँ सिंचाई तालाब, कुएँ आदि से भिन्न-भिन्न उपायों से पानी उठाकर की जाती है। (चित्र संख्या ११ देखिये)।

यदि वर्षा सब समयों में यथाविधि हो तो ख़रीफ़ में भारत के उन स्थानों में, जहाँ कि प्रति वर्ष ३० इंच से अधिक पानी गिरता है आब-पाशी की ज़रूरत न होगी। जो फ़सलें रबी में बोई जाती हैं उन्हें दो तीन बार सिंचाई की ज़रूरत होती है। इससे सिंचाई केवल रबी फ़सल की बढ़ती के लिये आवश्यक है। ख़रीफ़ में सिंचाई की तभी ज़रूरत होती है जब समय बिलकुल सूखा रह जाता है। कभी-कभी यह भी होता है कि वर्षा बरसात के आरंभ में ख़ूब होती है फिर एकदम बंद हो जाती है। ऐसी हालत में भी ख़रीफ़ में सिंचाई की ज़रूरत पड़ती है। या कभी-

कभी ऐसा हो जाता है कि बरसात के आरंभ व अंत में अच्छी वर्षा होती है पर बीच में सूखा रहता है। ऐसी अवस्था में भी खरीफ़ में एक दो बार सिंचाई की ज़रूरत पड़ती है। अन्यथा ख़रीफ़ के लिये सिंचाई की बहुत ज़रूरत नहीं है।

खेती की पाँचवीं विधि निराई और गोड़ाई होती है। इसके चित्र भी अन्यत्र देखिए।

पाश्चात्य देशों में निराई व गुड़ाई, ये दो भिन्न-भिन्न काम होते हैं व दो भिन्न-भिन्न औज़ारों द्वारा किये जाते हैं। किंतु भारत में दोनों काम एक साथ खुरपी जैसे साधारण वस्तु से किये जाते हैं। इस विधि से मिट्टी इधर-उधर होकर पौधों की जड़ों के चारों तरफ़ ठीक हो जाती है व बेकार पौधे उखाड़ कर फेंक दिये जाते हैं। पौधों के चार या पाँच इंच ज़मीन के ऊपर निकल आने पर पहली गुड़ाई की जाती है। ख़रीफ़ की फसल में प्रत्येक दस-पंद्रह दिन के बाद निराई करनी पड़ती है क्योंकि पानी तो बरसात भर गिरता ही रहता है और जंगली घास-पात बार-बार पैदा होते रहते हैं, बार बार निराई किये बगैर नहीं बनता। रबी में गोड़ने और निराने का काम प्रत्येक सिंचाई के चार-पाँच दिन ही किया जाता है। निराई का काम बहुधा स्त्रियाँ करती हैं। खेती का छठवाँ काम फ़सल का काटना होता है, ख़रीफ़ की लगभग सब फ़सलें कातिक में पक कर तैयार हो जाती हैं। सबसे पहले मक्का तैयार होती है जो कि भादों में कट जाती है। कपास अगहन और पूस में तैयार हो जाती है। अरहर और अंडी रबी के फ़सल के साथ बैसाख में काटी जाती है। रबी की सब फ़सलें बैसाख के आख़िर तक कट जाती हैं। धान के दो प्रकार होते हैं—औस या धान, और अमा या जड़हन। औस तो कुआर में कट जाता है और अमा अगहन में कटता है। फ़सल काटने में अकसर हँसिया ही काम में लाया जाता है। पुरुष काटते जाते हैं और स्त्रियाँ उनके गट्ठे बाँधती जाती हैं।

कृषि-कर्म की सातवीं विधि गहना या दँवाई है। फ़सल को काट लेने के बाद उसे खलिहान में ले जाते हैं। वहाँ वह गहने दायने के पहले सूखने के लिये फैला दी जाती है। खलिहान एक खुली हुई जगह का छोटा या बड़ा अहाता होता है। फ़सल सूख जाने के बाद गोल फैला दी जाती है। उसके बीच एक खूँटा गाड़ कर उसमें एक लम्बी डोरी बाँध देते हैं। उस डोरी में आठ दस बैल एक साथ बाँधकर उस खूँटे के चारों ओर बार बार चलाते हैं। इसे दायँ चलाना कहते हैं। इससे दाने और पयाल अलग अलग हो जाते हैं। दायँ चलाते समय दो या दो से अधिक बैल और दो मजदूर काम में लाये जाते हैं। एक आदमी तो बैलों को हाँकता रहता है व दूसरा पचाँगुरा से यहाँ पड़ी हुई फसल को उलटता रहता है ताकि सभी पर दायँ चल जावे। इसका भी चित्र अन्यत्र मिलेगा।

कृषि कर्म की आठवीं व अंतिम विधि परतवाई, ओसाई या उड़ाई की होती है। दायँ चलने के बाद निकले हुए अनाज को एक आदमी सूप या डलिया में ज़मीन से अपने सिर की ऊँचाई तक ऊपर उठाकर उस सूप को हिलाता जाता है जिससे दाने तो उसके पास ही गिर जाते हैं व भूसा दूर उड़कर दानों से अलग जा गिरता है। दूसरा आदमी उसे डलिया भर भर कर उड़ाने के लिये देता जाता है जैसा कि अन्यत्र चित्र में दिया गया है। अगर हवा काफ़ी न चलती हो तो इसके लिए चार आदमी लगते हैं। दो तो ऊपर लिखे अनुसार काम करते जाते हैं व अन्य दो आदमी कपड़े वग़ैरह से झकोरे देकर हवा करते जाते हैं।

———

ग्यारहवाँ अध्याय

हिन्दुस्तान में खेती पर प्रकृति का वश

अब तक हमने यह बताने की चेष्टा की है कि खेती का मुख्य उद्देश्य यह है कि एक प्रकार के पौधों को एक स्थान में एकत्रित करके उनके जीवन के लिये वे सब सामान या ज़रिये पैदा कर दिये जाँय जिनसे कि उनकी उपज व बढ़ती अच्छी तरह से हो। साथ ही हमने यह भी दिखाने की चेष्टा की है कि भारतीय किसान किन-किन औज़ारों और किन-किन विधियों को अपनी फ़सल की प्राकृतिक अवस्थाओं के अनुसार काम में लाते हैं। अब इस अध्याय में हम यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि भारतीय किसान जिन औजारों व जिन विधियों को काम में लाते हैं वे खेती की जरूरतों को पूरा करने में कहाँ तक सफल होते हैं।

इस संबंध में हम सबसे पहले जोताई में जो औजार और जो विधियाँ काम में लाई जाती हैं उनकी जाँच करेंगे। जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं, जोताई का उद्देश्य मिट्टी की आन्तरिक अवस्था को उसमें बोई जाने वाली फ़सल के अनुसार बना देना है। यदि हम व्यवहार में यह देखें कि किसान फ़सल फ़सल के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से जोतता है तो हम भली भाँति यह कह सकते हैं कि उसे यह भी मालूम है कि भिन्न-भिन्न फ़सल के लिए उसकी जमीन की अवस्था कैसे-कैसे बदलनी चाहिए। इस प्रकार हम व्यवहार में यह देखते हैं कि जिन पौधों की जड़ें मज़बूत होती हैं और जो अधिकतर (जैसे कि बाजरा, ज्वार, मक्का इत्यादि) खरीफ़ की फ़सल में बोये जाते हैं जब पानी काफ़ी गिरता है तो किसान उन खेतों को केवल एक दो बार ही जोतता है और अधिक गहरा

जोतने की कोशिश नहीं करता। पर कपास जैसे पौधों के लिए जो ख़रीफ़ की फ़सल में बोये जाते हैं वह तीन-चार बार जोतता है, बहुत गहराई तक जोतता है और ढेलों को फोड़ देने के लिए होशियारी से पाटा या कोपट चलाता है, और मिट्टी को महीन बना देने के लिए हर तरह से कोशिश करता है, जिससे उसमें कपास की जड़ें मज़बूती से पकड़ ली जावें, पर साथ ही बरसात में उस ज़मीन में काफ़ी पानी बिंध जावे, जो बरसात ख़तम होने पर भी उसमें क़ायम रहे और जो सूखे दिनों में पौधों के काम आवे।

रबी की फ़सल में पौधे अधिकतर ऐसे बोए जाते हैं जिनकी जड़ें बारीक होती हैं, जैसे गेहूँ, जौ आदि की जड़ें। जब ये फ़सलें बोई जाती हैं तब किसान बार-बार जोताई करता है। वह गहराई तक जोताई करता है तथा बार-बार पाटा या पटेला उस पर चलाता है, ताकि मिट्टी बहुत महीन हो जावे, उसमें पौधों की जड़ें मजबूती से पकड़ लें, व उस मिट्टी में पानी ख़ूब बिंध सके। पर जब उस खेत में चना जैसी साधारण फ़सल को बोता है तो वह उसमें अधिक जोताई नहीं करता और न पाटा पटेला चला कर उस खेत की मिट्टी को महीन करने की ही परवाह करता है।

हम देखते हैं कि भारतीय किसान बीज बोने के समय भी फ़सल-फ़सल की प्रकृति के अनुसार, व जिन भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से वह उन पौधों को बोता है उसके अनुसार बीज बोने के भिन्न-भिन्न उपायों को काम में लाता है। इस प्रकार जो पौधे चारे के लिए बोये जाते हैं, जैसे ख़रीफ़ में चरी, और रबी में जई, उनके बीजों को वह बखेर कर बोता है। पर जब मक्का, ज्वार, गेंहू आदि फ़सलों को बोता है तो बड़े ध्यान से बराबर दूरी पर, बराबर खुदी हुई कूड़ों में, नाई द्वारा बोता है। और जब वह चना तथा मटर जैसे पौधों को बोता है, जो कपास या गेहूँ की तरह नाजुक नहीं होते, तो उनके बीजों को भी वह बखेर कर बोता है। पर जब चना या मटर को गेहूँ जौ आदि मुख्य फ़सल के साथ बोता

है तब तो उन्हें भी कूड़ों में नाई द्वारा बोता है।

हमारे कथन का, कि भारतीय किसान अपने खेत की व अपनी फ़सल की अवस्थाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न औज़ारों व भिन्न-भिन्न उपायों को काम में लाता है, यहाँ की सिंचाई की प्रथाओं से भी बहुत कुछ समर्थन होता है। जिन स्थानों में नहरें हैं व जहाँ काफी पानी मिल जाता है वहाँ के खेतों में वह एकदम से पानी भर देता है। इसी सिद्धांत के अनुसार किसान अपने खेतों में बरसात के दिनों में क्यारियाँ बनाने की परवाह नहीं करता; पर रबी में, ख़ास कर उन स्थानों में जहाँ कि पानी कुएँ व तालाबों से लिया जाता है, क्यारी की प्रथा बहुत प्रचलित है।

इसी प्रकार पानी को ऊपर उठाने के उपायों में स्थान-स्थान के अनुसार अंतर होता है। जिस स्थान में अधिकतर कुएँ से पानी लिया जाता है, वहाँ जहाँ कुएँ गहरे होते हैं पानी ऊपर उठाने का सब से साधारण तरीक़ा पुर चला कर पानी निकालने का है। जहाँ कुएँ कम गहरे होते हैं वहाँ ढेंकली से पानी निकालते हैं। यही नहीं, साथ में हम यह भी देखते हैं कि जिन स्थानों में ऐसे पोखर या तालाब से पानी लेना होता है जो खेतों की सतह से नीचे हों, वहाँ कलचा या दुगला प्रथा से पानी ऊपर उठा कर सिंचाई करते हैं। खेतों की सिंचाई में भी इन्हीं प्रथाओं से काम लेते हैं। जहाँ कहीं किसान को सरलतापूर्वक नदी या नहर से पानी मिल जाता है, वहाँ वह बड़ी लापरवाही से पानी लेता जाता है, और अपने खेतों को उससे मनमाना भर लेता है। पर जिन स्थानों में वह कुएँ या तालाब से पानी निकालता है वहाँ बड़ी सावधानी रखता है। ऐसी अवस्था में वह खेतों में छोटी-छोटी क्यारियाँ बना लेता है। तब तो खेत में वह मनमाना पानी नहीं भरता ज़रूरत के अनुसार एक क्यारी के बाद दूसरी क्यारी में पानी लेता जाता है। निराई और गोड़ाई साथ ही की जाती हैं, जैसा कि हम

इसके पहले कह चुके हैं। अब हम यही बताना चाहते हैं कि फ़सल फ़सल के अनुसार व समय-समय के अनुसार किसान भिन्न-भिन्न प्रकार से निराई और गोड़ाई करता है। निराई व गोड़ाई के ख़ास दो मतलब हैं। पहले तो एक फ़सल के साथ उसी खेत में दूसरे पौधों के पैदा हो जाने से दोनों में भोजन प्राप्त करने में प्रतिद्वन्द्विता हो जाती है, वह प्रतिद्वन्द्विता निराई गोड़ाई से दूर हो जाती है क्योंकि ऐसा करके दूसरे पौधे वहाँ से हटा दिए जाते हैं। दूसरे इससे मिट्टी तोड़-तोड़ कर महीन कर दी जाती है जिससे उसमें पानी के अभाव की शिकायत दूर हो जाती है। देखने से यह पाया गया है कि ख़रीफ़ में जब कि अक्सर पानी गिरता रहता है, किसान इन दूसरे पौधों को हटा देने ही की फ़िकर में रहता है और खुरपी को बहुत नीचे तक नहीं मारता। और यह भी देखा गया है कि निराई या निंदाई करने में खुरपी से वह बहुत कम काम लेता है व अपने हाथ से ही बेकार पौधों को उखाड़ता जाता है। पर रबी में खुरपी सदैव नीचे तक मारी जाती है जिससे मिट्टी महीन हो जावे। इन सब बातों से मालूम होता है कि निराई और गोड़ाई के वैज्ञानिक महत्व का ज्ञान किसान को है और वह अपने ज्ञान से पूरा फ़ायदा उठाना चाहता है।

ऊपर के कथन से हम यह कह सकते हैं कि औसतन एक भारतीय किसान को खेती की विभिन्न विधियों के वैज्ञानिक महत्व का कुछ ज्ञान अवश्य है। भिन्न-भिन्न स्थानों में खेती के एक ही काम के लिये जो भिन्न-भिन्न प्रकार के औजार व भिन्न-भिन्न विधियाँ काम में लाई जाती हैं उन सब से यही मालूम होता है कि भारतीय किसान अवस्थाभेद के अनुसार खेती-बारी के लिये अपनी शक्ति भरसक लगा देता है। कुछ लोगों का यह विचार है कि भारतीय किसान मूर्ख हैं और वंश-परंपरा के व्यवहारों का ही अनुकरण करने वाले हैं। पर इसका समर्थन नहीं किया जा सकता। पहले तो यही समझ लेना मूर्खता है कि वंश-परंपरा के सब

व्यवहार व्यर्थ और अवैज्ञानिक हैं। खेती के परंपरागत व्यवहारों के कुछ ऐसे पहलू हैं कि जिनको वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जब हम जाँच करते हैं तब हमारे मन में दृढ़तापूर्वक यही विचार उठता है कि वे व्यवहार पूर्व ही बहुत सोच-विचार करके निर्धारित किये गये होंगे। हिंदुस्तान में एक ही खेत में एक से अधिक फ़सलें जो एक ही साथ बोई जाती हैं इससे बढ़ के और कोई इस बात का उदाहरण नहीं मिलता कि वंशपरंपरा के कुछ व्यवहार अवश्य ही वैज्ञानिक सिद्धांतों पर निर्भर हैं। ख़रीफ़ के समय में हम बहुधा यह देखते हैं कि जब कभी ज्वार चारे के लिये बोई जाती है तो वह एक खेत में अकेले ही बहुत घनी बोई जाती है। एक पौधे और दूसरे पौधे के बीच बहुत कम अंतर होता है। पर जब वह मनुष्यों के खाने के लिए बोई जाती है तो वह बराबर एक दूसरे से चार-चार पाँच-पाँच फ़ीट की दूरी पर क़तार-क़तार में बोई जाती है, और ज्वार की दो क़तारों के बीच में अरहर बो दी जाती है। अरहर एक ऐसा पौधा है जिसकी जड़ों में एक प्रकार के कीटाणु (bacteria) होते हैं जो कि हवा से नोषजन (Nitrogen) लेकर ज़मीन में नोषेत (Nitrate) बना देते हैं। इस नोषेत (Nitrate) से ज्वार के दाने इस प्रकार नोषजन (Nitrogen) से भरे हुए पैदा होते हैं जो खाने में बहुत लाभदायक होते हैं। इसी प्रकार जब बाजरा मनुष्यों के खाने के लिए बोया जाता है तब बाजरा की दो क़तारों के बीच में बहुधा उर्द, मूँग, या रमास बो दी जाती है। इनकी जड़ों में भी उसी प्रकार के कीटाणु (bacteria) होते हैं जो हवा से नोषजन (Nitrogen) लेकर ज़मीन में नोषेत (Nitrate) बना कर ज्वार की तरह बाजरे के पौधों को भी लाभ पहुँचाते हैं। इसके सिवाय बाजरा एक ऐसी फ़सल है जो रेतीली ज़मीन में बोई जाती है जिससे पानी बहुत जल्द बहुत अधिक परिमाण में निकल जाता है। उर्द, मूँग और रमास के पौधे बेलें होती हैं। वे ज़मीन पर फैल कर बाजरे के दो क़तारों के

बीच की ज़मीन को अपनी हरी पत्तियों से पूरी ढक लेती हैं। इस प्रकार से एक बड़े भारी परिमाण में पानी को भादों और कुआर के गरम दिनों में ज़मीन से भाप बन कर उड़ने से बचाती हैं। जिन खेतों में कपास बोई जाती है उनमें बहुधा अरहर भी बोई हुई पाई जाती है। अरहर अपनी जड़ों के कीटाणु (bacteria) द्वारा ज्वार की तरह कपास के पौधों को भी नोषजन (Nitrogen) पहुँचाता है। इसके सिवाय वह शीत काल के पहले से भी कपास जैसे नाज़ुक व झाड़ीदार पौधों की रक्षा करता है। अक्सर यह देखने में आया है कि पूस में पाले से अरहर के पौधे तो मर जाते हैं और पास ही के कपास के पौधे बच जाते हैं। इसका कारण यही है कि अरहर कपास की अपेक्षा अधिक ऊँची और घनी होती है जिससे सरदी को अपनी तरफ़ खींच कर कपास के पौधों की रक्षा करती है। इसी प्रकार रबी में भी दो फ़सलें एक साथ बोई जाती हैं। उनका भी कुछ वैज्ञानिक अर्थ होता है। रबी में अक्सर गेहूँ और चना का, जौ और मटर का, जौ और चना का साथ पाया जाता है। यहाँ भी खाने के अनाज के पौधे और कीटाणु (bacteria) वाले पौधे का साथ होता है। ख़रीफ की तरह यहाँ भी साथवाले मुख्य फ़सल के दानों को नोषजन (Nitrogen) वाले तत्व पहुँचाना ही एक उद्देश्य है।

ऊपर के कथोपकथन से हम देखते हैं कि हिन्दुस्तान में खेती के वर्तमान तरीक़ों से यह साफ़ प्रकट होता है कि वे सब ग़लत तरीक़े नहीं हैं उनमें से बहुत से वैज्ञानिक सिद्धांतों पर निर्भर हैं व उनका एकदम से तिरस्कार नहीं कर देना चाहिये। वर्तमान तरीक़ों का दोष यह नहीं है कि वे इस अर्थ में अवैज्ञानिक हैं कि उनके सिद्धांतों में विवेक नहीं है, पर इसका अर्थ यह भी नहीं है कि हिन्दुस्तान में खेती के वर्तमान तरीक़े बहुत ही भले हैं व उनमें परिवर्तन की बिलकुल ही आवश्यकता नहीं है। कम से कम मुझे यह दृढ़ विश्वास है कि जो तरीक़े निकाले

गये थे वे बहुत ही विचार के साथ। उन दिनों में विज्ञान का जो दर्जा था उसी के अनुसार निकाले गये थे। हमारे खेती के तरीक़ों में मुख्य दोष यह है कि वह अवस्था बदल जाने के अनुसार व ज्ञान के विस्तार के अनुसार बदलते नहीं रहे हैं। वे तरीक़े समाज की उस अवस्था में निकाले गये थे जब कि प्रत्येक समुदाय सब से परे, स्वतंत्र व स्वावलंबी था, जिसमें खेती के लिये काफ़ी ज़मीन मिल सकती थी, जहाँ मनुष्य-संख्या अधिक न थी और जहाँ के खेती के तरीक़े बहुत विस्तृत थे। हमारी खेती-बारी की उन्नति करने के लिये इस बात की ज़रूरत नहीं है कि वर्षों के एकत्रित किये हुये अनुभवों को एकदम दूर कर दें जिनका कि प्रकाश हम अपने सादे औज़ारों में व खेती के सादे तरीकों में देखते हैं। पर उनमें इस प्रकार परिवर्तन कर देना चाहिये कि समाज की अवस्था, भेद व ज्ञान के विस्तार के साथ-साथ लागू हो सकें। मैं इसी से खेती के तरीकों में परिवर्तन करने के विरुद्ध नहीं हूँ। पर परिवर्तन केवल परिवर्तन के नाम के लिये ही करने के विरुद्ध अवश्य हूँ। उनमें केवल उतने ही परिवर्तन किये जावें जो समाज के आधुनिक जीवन के लिये लागू हों। अगर यह पता लगे कि खेती की प्राचीन प्रथा बिल्कुल व्यर्थ है तभी मैं इस आद्योपान्त परिवर्तन का समर्थन करूंगा।

दूसरा भाग

विषय-प्रवेश

पहले भाग में हमने हिन्दुस्तान की खेतीबारी की वर्तमान अवस्थाओं के दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया है और अन्तिम अध्याय में उन अवस्थाओं की सरसरी निगाह से जाँच करने का भी प्रयत्न किया है, और इस नतीजे पर आये हैं कि खेती की वर्तमान अवस्था सब पक्के विचारपूर्ण वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर निर्भर हैं। हम इस नतीज़े पर पहुँचे हैं कि वे वैज्ञानिक सिद्धान्त हिन्दुस्तान में वर्षों पूर्व निर्धारित किये गये हैं जब कि आधुनिक समय की अपेक्षा भूमि, परिश्रम व मूलधन की अवस्था बिल्कुल ही दूसरी थी। हमने यह भी देख लिया है कि खेती के तरीक़ों में आद्योपांत परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। उनमें केवल थोड़ा सा उलट-फेर इस प्रकार कर देने की आवश्यकता है कि वे सब वर्तमान आर्थिक अवस्था तथा आर्थिक व वैज्ञानिक ज्ञान के लिये लागू हो जावें। हमें यह विश्वास हो गया है कि खेती के वर्तमान तरीक़े बिल्कुल विवेकपूर्ण हैं। अब हम उनमें उन्नति करने के कुछ ऐसे उपायों का वर्णन करेंगे जिससे वे तरीक़े बिल्कुल नवीन उन्नतिशील तरीक़ों के दर्जे में आ जावें। ऐसा करने में हम सदैव दो बातें ध्यान में रक्खेंगे। पहले तो हमारा वही नतीजा जिस पर हम पहले भाग के आख़िरी अध्याय में पहुँचे हैं अर्थात् वर्तमान तरीक़ों में जहाँ तक सम्भव हो आद्योपान्त परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है। उन्हीं तरीक़ों के आधार पर कुछ उन्नति कर देना है। इस बात को सदैव ध्यान में रखने के दो कारण हैं। एक तो हमें विश्वास हो गया है कि हिन्दुस्तान की खेती में उन्नति करने के लिये उनमें आदि से अन्त तक परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है।

दूसरे हमारा यह विचार है कि जो बिल्कुल नई बात होगी उसे तो किसान ग्रहण करने में सम्भवतः आनाकानी करेगा, पर यदि उसके तरीक़ों में ही कुछ थोड़ा-सा उलटफेर कर दिया जावे तो उसे अधिक आपत्ति न होगी। हमें सदैव ध्यान में एक दूसरी बात भी रखनी चाहिए, वह यह है कि जो नये उन्नतिशील तरीक़े निकाले जावें वे उतने ख़र्चीले न हों जिनका इस्तेमाल यहाँ के ग़रीब किसान न कर सकें। ऐसा न करने में उनकी ग़रीबी का सदैव ध्यान रखना चाहिये। हमें भले ही यह पक्का विश्वास हो जावे कि अमुक विधि या अमुक औज़ार सब से अच्छा है, पर यदि उनमें बहुत पैसा लगता है जो किसान की शक्ति के बाहर है, तो हमारी ऐसी बातों की सिफारिश करने से कोई लाभ न होगा। इससे हम उन्हीं बातों की सिफ़ारिश करेंगे जिन्हें ग्रहण करने की आर्थिक शक्ति प्रत्येक औसत दर्जे के भारतीय किसान को हो। इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुये अब हम इस बात की ओर दृष्टिपात करेंगे कि खेती-बारी को उन्नतिशील बनाने में उनमें किस प्रकार के परिवर्तन किये जावें और इसके लिये कहाँ-कहाँ विशेष परिवर्तन की आवश्यकता है।

बारहवाँ अध्याय

खेती की ज़मीन का सुधार

हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमि के विषय में विचार करते समय हमने यह देखा है कि वर्त्तमान जन-संख्या से खेती के वर्त्तमान रक़बे की तुलना करने से प्रति किसान पीछे औसतन केवल २·०३ एकड़ ज़मीन ही है। इस पर हमने यही टीका की थी कि इतनी थोड़ी-सी ज़मीन किसान को सारे ३६५ दिन के लिये काम नहीं दे सकती और यह किसानों की ग़रीबी का एक मुख्य कारण है। अब हम यदि प्रति किसान पीछे ज़मीन की तादाद बढ़ा सकें तो उनके लिये अधिक काम बढ़ा देंगे जिससे उनकी आमदनी बढ़ जावेगी। पहले भाग के सातवें अध्याय में हम यह बता चुके हैं कि भारत में ८ करोड़ ५७ लाख एकड़ ज़मीन तो अभी ऐसी पड़ी हुई है जो खेती के लायक़ है, पर उसमें खेती नहीं होती। कारण यह है कि वह ज़मीन ऐसी जगहों में है जो मनुष्यों की आबादी से बहुत दूर हैं। यदि हम घनी आबादी से लोगों को ले जाकर ऐसी जगहों में बसा सकें जहाँ कि ये बेकार ज़मीनें पड़ी हुई हैं तो हमारी यह खेती की ज़मीन की कमी की कठिनाई कुछ हद तक दूर हो सकती है। हम जानते हैं कि ऐसा करने में बड़ी कठिनाईयाँ हैं, क्योंकि लोगों को घर-बार छोड़-कर दूर ले जाना कोई सरल बात नहीं है। पर यह जानते हुए कि पंजाब में पहले के बसे हुए ज़िलों में से लोग नहर के पास (पंजाब-नहर-उपनिवेशों में) आकर काफ़ी संख्या में बस गये हैं, हम इस विषय में एकदम निराश नहीं हो जाते व इसके लिए प्रयत्न करना उचित समझते हैं। इसकी सफलता के लिए भारत के ग़रीब किसानों को वैसा ही उत्साह दिलाना चाहिये व उनके लिये वैसे ही सुभीते कर देना चाहिये जैसे कि पंजाब में व ग्वालियर राज्य में किये गये थे।

ऊपर जिस ज़मीन की चर्चा की गई है उसके सिवाय अब जो सैकड़ों एकड़ ज़मीन खेती के लिये अयोग्य है, उसके दोषों को दूर करके भी वह खेती के काम में लाई जा सकती है। इस प्रकार खेती की ज़मीन की कमी की कठिनाई और भी दूर हो सकती है। हम सातवें अध्याय, भाग एक के अंत में कह चुके हैं कि ऐसी ज़मीन पाँच प्रकार की है यथा (१) जहाँ पानी बहुत कम गिरता है, (२) जो दलदल है व जिन पर हमेशा पानी बना रहता है, (३) बीहड़ ज़मीन, (४) रेहार ज़मीन, (५) पथरीली ज़मीन जिसमें बहुत लोहा व कोयला पाया जाता है। उसी स्थान में हम यह भी कह चुके हैं कि इनमें से पहले चार प्रकार की ऐसी ज़मीनें हैं जिनके दोषों को दूर करके खेती के लायक़ बनाया जा सकता है। अब हम यहाँ उनके एक-एक के दोषों को दूर करने के उपाय बतलाते हैं।

भारत में कुछ ऐसी ज़मीनें हैं जहाँ पानी बिलकुल न मिलने से उनमें खेती नहीं हो सकती। ऐसी ज़मीनें बहुधा पंजाब के दक्षिण-पश्चिम में, राजपूताना, मध्यभारत और दक्षिण की उच्च समभूमि में पाई जाती हैं। पंजाब में ऐसी ज़मीन हज़ारों एकड़ में सुधार करके खेती के काम में ला दी गई है और उनमें काफी फ़सल हो रही है। उनकी और उन्नति करने के लिए उन्हीं नियमों के, जहाँ-जहाँ संभव हो विस्तार करने की आवश्यकता है, यथा नहरों का विस्तार। इस प्रकार की कुछ ऐसी ज़मीनें हैं, जैसे राजपूताने के कुछ हिस्से और दक्षिण की उच्च समभूमि, जहाँ या तो ज़मीन के बेहद रेतीली होने के कारण और वहाँ बड़ी नदियों के न होने से उनमें नहरें नही बनाई जा सकतीं; या जैसी कि दक्षिण की उच्च समभूमि में पाई जाती हैं जहाँ उन ज़मीनों के पहाड़ी होने से और नदियों का उनकी सतह से बहुत नीचे होने के कारण उनमें नहरें नहीं बनाई जा सकतीं और वहाँ पर कूएँ नहीं खोदे जा सकते क्योंकि वहाँ पानी बहुत ही नीची सतह में पाया जाता है। ऐसी ज़मीन में पानी नहीं पहुँचाया जा सकता था। पर अब पानी निकालने के ऐसे उन्नति-शील यन्त्र बने

हैं जैसे ट्यूब-वेल (tube-well) इत्यादि जिन से नीची से नीची सतह से भी पानी निकालकर सिंचाई की जा सकती है। सन् १९२६ में बंबई राज्य के पूना शहर में एक कृषि-प्रदर्शिनी हुई थी। उसमें कई प्रकार की ज़मीन में छेद करने वाले यन्त्र दिखाये गए थे। ज़मीन में छेद करने वाले ऐसे यन्त्रों से बंबई में बड़ा लाभ हुआ है। इन यन्त्रों के द्वारा वहाँ की ज़मीन के भीतर की चट्टानों को फोड़कर छेद कर लिया जाता है। फिर उस छेद में पंप डालकर उसके द्वारा पानी निकाल लिया जाता है। राजपूताने के मरुस्थल में इन यन्त्रों का प्रयोग नहीं किया गया है। पर कृषि-विभाग ने अपने इन्जिनियरी उपविभाग में कई प्रकार के पंप निकाले हैं जिनसे बड़ी गहराई से पानी निकाला जा सकता है। इन ज़मीनों को इस प्रकार खेती के लायक़ बनाकर और किसान की खेती के लायक़ ज़मीनों का परिणाम बढ़ा कर उसकी बहुत कुछ बेकारी दूर कर सकते हैं।

ट्यूब-वेल से सिंचाई करना हिन्दुस्तान में और देशों की अपेक्षा एक नई बात है। ऐसे कुएँ प्रायः ग़ैर-सरकारी सम्पति ही हैं और कई स्थानों मे उनमें ग़ैर-सरकारी पैसा ही लगा है। पर सरकार इनके विषय में अब लोगों को सलाह देने लगी है और लोगों से उसका उचित मूल्य लेकर उनकी जगह में वैसे कुएँ बना देती है। मध्यप्रदेश में यह काम महकमा पब्लिक वर्क्स के हाथों में सौंप दिया गया है और दूसरे राज्यों में यह कृषि-विभाग के हाथों में सौंप दिया गया है। उत्तरप्रदेश की सरकार ने ट्यूब-वेल बनवाने में और स्थानों से अधिक सहायता की है। इस राज्य में ट्यूब-वेल के लगाने के उपरान्त जो उसके अधिकार में रह जाते हैं टूटे-फूटे का दाम और सरकार ने ज़मीन में छेद करने के यन्त्रों में जो मूल धन लगाया है, उसका ब्याज किसान देता है। उत्तरप्रदेश के कृषि विभाग के डाइरेक्टर के अनुसार पन्द्रह इंच चौड़े ट्यूब-वेल का दाम जिससे एक घंटे में ३५,००० गेलन पानी निकल सकता है इस प्रकार है :—

(१) किसान ने दिया	८००० रुपये
(२) सरकार ने लगाया (१९२६ में)	४९८७ रुपये
(३) व्यय प्रतिशत टूटे-फूटे का दाम व सरकारी मूल धन का व्याज छः प्रतिशत	९६० रुपये
कुल	१३,९४७ रुपये

इस प्रकार एक कुएँ में जिसका कुल दाम लगभग १४,००० रुपये होते हैं, सरकार अपनी ओर से लगभग ६००० रुपये लगाती है।

खेती के अयोग्य ज़मीन की दूसरी क़िस्म जिनके दोषों को दूर करके उन्हें खेती के काम में ला सकते हैं वह है जिसमें बहुधा ज़रूरत से ज़्यादा पानी बना रहता है। ऐसी ज़मीन एक बड़े भारी परिणाम में हिमालय के नीचे पाई जाती है जिसे तराई कहते हैं। पूर्वी बंगाल का सुन्दर-बन भी ऐसा ही ज़मीन का उदाहरण है। ऐसी ज़मीन को खेती के लायक़ बना देने के लिये हिन्दुस्तान में बहुत कम कोशिश की गई है। जैसे कुछ ज़मीनों में पानी की कमी के कारण खेती नहीं हो सकती और उनमें आबपाशी के ज़रिये निकाल कर उसको खेती के लायक बना सकते हैं, वैसे ही ज़्यादा पानी वाली ज़मीनों में अमेरिका की तरह यहाँ भी ऊपर की सतह में तथा ज़मीन के भीतर नालियाँ बनाकर उसमें के बेकार पानी को बाहर कर सकते हैं। इन तराइयों में जो पानी गिरता है उसमें एक बड़ा हिस्सा नदियों में बहकर समुद्र में जा मिलता है। यह पानी उन तराइयों में समा जाता है जिसके कारण उसमें खेती नहीं होती। इस प्रकार तराई की ज़मीन ख़राब तो होती ही है साथ ही पानी के नदियों में बह जाने या तराई में समा जाने के कारण नीचे के मैदान में भी उचित परिमाण में पानी नहीं पहुँच पाता जिससे मैदान पर की खेती भी घाटे में रह जाती है। इससे नदियों द्वारा बहते हुये पानी को नाली बना

कर नीचे के मैदानों की ओर ले आना चाहिये तथा तराई की ज़मीन के भीतर भी नालियाँ बनाकर उसमें के सारे बेकार पानी को बहाकर उन्हीं नालियों में मिला देना चाहिये ताकि एक तो तराई का बेकार पानी भी निकल जावे और दूसरे वही पानी नीचे के मैदानों की सिंचाई में काम आ सके।

ऐसी ज़मीनों को खेती के लायक़ बनाने के लिये ज़मीन की ऊपरी सतह में तथा उसके भीतर भी नाली बनानी ज़रूरी है। यह काम अधिक कठिन नहीं है। पूना की कृषि-प्रदर्शिनी में, जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है, इस बात का प्रयोग करके दिखलाया गया था कि ज़मीन के नीचे कैसे सुभीते से नालियाँ बना दी जा सकती हैं। प्रयोग के लिये उन्होंने इस प्रकार से प्रबन्ध किया था—ज़मीन की ऊपरी सतह से ७-८ फ़ीट की गहराई में छप्पर के छवाने के मामूली खपरों को एक दूसरे से सटा हुआ बिछाकर नाली बनाई थी। फिर इस खपरे की नाली को नरियों से इस तरह ढक दिया था कि दो नरियों के बीच में थोड़ी सी संध छूट जावे। ऊपर का सोखा हुआ पानी नीचे आकर इस बीच की जगह से बह जाता था।

जब पानी खूब ज़ोरों से गिरता रहता है तभी भारत में पानी के निकास (Drainage) का सवाल महत्व का होता है। उस समय की वर्षा ऐसी ज़ोरदार होती है कि बहुत-सा पानी खेतों पर से होकर व उसके गुणकारी तत्वों को साथ लेकर नदी की ओर बह जाता है। इसी का नाम धरती का छीजना या कटना (Soell erosion) है। कभी-कभी तो ऊपर से नदी की ओर बहता हुआ पानी बीच में भर कर इकट्ठा हो जाता है। मैदान के गंगावार (alluvial) और प्रायद्वीप की ज़मीन दोनों स्थानों में पानी के संचालन की बेहद कमी है। ज़रूरत से ज़्यादा पानी सदैव नालियों में जा मिलता है और उसे शीघ्र ही ज़मीन सोख लेती है। इस अमूल्य पानी की हानि के साथ-साथ सदैव मिट्टी धुलती

जाती है व उस ज़मीन की उपज शक्ति बह जाती है। ज़मीन की दूसरी सतह वितल(sub-soil) में कभी-कभी काफ़ी पानी नहीं होता जिससे कि कुछ दिनों तक वर्षा न होने से पौधों को उसमें का पानी मिल जाता। इससे व उसके तत्वों के बह जाने से खेत की सदैव की उपज-शक्ति कम हो जाती है। कही ज़मीन को वर्षा व पानी के बह जाने का साथ ही मुक़ाबिला करना पड़ता है जिससे किसी एक जगह पानी इकट्ठा हो जाता है, जहाँ बार-बार परन्तु धीरे धीरे पानी गिरता रहता है वहाँ की ज़मीन पर पानी भरा हुआ नहीं रहने पाता क्योंकि वह ज़मीन अच्छी तरह से सोखती जाती है, वहाँ की मिट्टी धुलकर उसमें की उपज-शक्ति बहकर बाहर नहीं जाने पाती।

पानी के ज़मीन पर से संचालन करने पर अधिकार न रहने से जो बुरा नतीजा होता है उसके कई उदाहरण हैं। जमुना के दाहिने किनारे पर हज़ारों एकड़ बढ़िया ज़मीन बरबाद हो गई है क्योंकि उसके किनारे की ज़मीन कटफट कर चारों तरफ़ बीहड़ हो गई है जिससे बरसात के दिनों में सिवाय घास के उस पर कुछ नहीं उगता। यह खड्ड, या बीहड़ ज़मीन (Ravines) पहले अच्छी उपजाऊ जगह थी किन्तु मनमाने पानी के बहाव से उसकी आज यह दशा हो गई है। प्रति वर्ष उसका विस्तार बढ़ता ही जा रहा है। पहले जिन गाँवों के चारों ओर अच्छे उपजाऊ खेत थे वहाँ भी अब उन्हीं कारणों से खड्ड पाये जाते हैं। पर इतनी अधिक तादाद में ज़मीन बर्बाद हो चुकी है कि उन सब का सुधार लेना आसान नहीं। फिर उस पर ख़र्चा भी बहुत लग जावेगा।

ऐसी बीहड़ ज़मीन का अधिक विस्तार प्रायद्वीप में—यथा मध्यभारत, ग्वालियर, मध्यप्रदेश, बम्बई में पाया जाता है। यदि केवल सतह पर के पानी में बहाव पर ही अधिकार रहता तो ज़मीन की उपज-शक्ति का इस प्रकार नाश न होता व ज़मीन को पानी सोख लेने का अवकाश मिलता। इस प्रकार पानी के सोख जाने से ज़मीन की उपज-शक्ति का

बह जाना रुक जाता। फ़सल उसमें अच्छी होती या पानी की सतह भी ऊपर उठ आती जिससे कुएँ शीतकाल व गर्मी के दिनों में भी काम देते रहते। कुछ स्थानों में तो नदी के किनारे की सारी की सारी ज़मीन की मिट्टी बह जाती है या नीचे चट्टान जैसी कड़ी ज़मीन या वितल (Sub-soil) भर रह जाती है जिसमें मुश्किल से जंगली बौने पौधे भर उगे रहते हैं। मिट्टी के तत्वों के बहाव की व उस ज़मीन को बीहड़ हो जाने से रोकने के लिये दो बातों से बड़ी सफलता मिली है। पहली बात तो ज़मीन की ऊपरी सतह में नालियाँ बनाने के साथ-साथ बीहड़ के नदी के किनारे के हिस्से में बाँध बनाना है ताकि वहाँ का ज़रूरत से ज़्यादा आया हुआ पानी उस बाँध के ऊपर से तो बह जावे पर उस पानी के साथ बहने वाले उस ज़मीन का सारा तत्व उस बाँध से रुक जावे। इन नालियों से उपर के हिस्से में पानी के बहाव का संचालन होता है। उस पानी को पक्की नालियों में बहाने से उसका वेग कम हो जाता है जिससे वह सामने की ज़मीन को काटने नहीं पाता और जो बाँध बीहड़ के नदी के तरफ़ के हिस्से में बनाये जाते हैं वे पानी के वेग को रोक लेते हैं। इससे जब पानी उस बाँध से टक्कर खाता है तो उसके साथ-साथ बहने वाली मिट्टी का सारा तत्व उस बीहड़ में जमा हो जाता है। परिणाम यह होता है कि यह बीहड़ ज़मीन कुछ समय में अच्छी तरह से भर जाती है और वह सुधर जाती है। इसके उदाहरण ग्वालियर जिले में मिलते हैं जहाँ उन बाँधों की सहायता से सुधरी हुई ज़मीन में गेहूँ की खेती हो रही है।

दूसरी प्रथा जिसमें कुछ सफलता हुई है वह यह है जिसका प्रयोग भारत सरकार के जंगल विभाग ने किया है। उसने अकसर बीहड़ में ऐसे ईंधन की लकड़ी के व फल के पेड़ लगाये हैं जिनकी जड़ें बहुत फैलने वाली होती हैं। ये जड़ें मिट्टी के अधिक बह जाने व बीहड़ के बढ़ने को सिर्फ़ रोकती ही नहीं हैं पर साथ ही उस पानी को भी उस

बीहड़ में आने से रोकती हैं जो कि बरसात में अधिक तादाद में वहाँ पहुँचता है। इस प्रकार ये जड़ें बाँध का काम देती हैं।

यह सब बातें हमारे बताने में तो सहज ही मालूम होती हैं किन्तु यहाँ के ग़रीब किसानों की शक्ति के बाहर की बातें हैं। वह तो अपनी छोटी-सी खेती पर ही इस प्रकार मस्त रहता है कि उससे अधिक हाथ फैलाने के लिये उसके पास पूँजी नहीं है। यह काम तो किसी सार्वजनिक संस्था के हाथ से होवे तभी सफलता होगी और सब से बड़ी सार्वजनिक संस्था सरकार ही है।

चौथे प्रकार की जमीन जो इस समय खेती के लायक नहीं है पर जो प्रयत्न करने से इस काम आ सकती है वह ऊसर ज़मीन है।

ये ज़मीनें उत्तरी हिन्दुस्तान में बहुत-सी पड़ी हुई हैं। ये ऊसर ज़मीनें अवध, आगरा, पंजाब के बहुत से हिस्से में बहुधा पाई जाती हैं व दक्षिण के नीरा नहर तथा बंबई के केरा के जिले में भी पाई जाती हैं। पर ज़्यादातर ऐसी ज़मीनें गंगा के मैदान में पाई जाती हैं।

भारत में ऊसर ज़मीन की उत्पत्ति का आबपाशी से घना संबंध है। एक ख़ास तरह की ज़मीन को छोड़ कर, जिसमें पानी बहुत रिसता (Percolate) या जल्द बिंध सकता है, ज़रूरत से ज़्यादा सिंचाई होने से उसमें रेह नमक (Alkaline Salts) रह जाते हैं जिससे उसमें होने वाली फ़सल को या फसल के लाभकारी तत्वों को नुकसान पहुँचता है। जहाँ वे एक हद से ज़्यादा हुए वहाँ पहले फ़सल की बढ़ती में बाधा डालते हैं और फिर उस ज़मीन को बिल्कुल ऊसर बना डालते हैं। जिस रेही ज़मीन में ख़ाकर सोडा कर्बनेत (carbonate of soda) होता है वहाँ के कीटाणु (bacteria) वाले पौधे बहुत जल्द बिगड़ जाते हैं। ज़मीन में ज़्यादा रेह (Alkali) होने से पौधे पानी नहीं खींच सकते। इससे जिस ज़मीन में बहुत ज़्यादा रेही नमक होते हैं वहाँ आबपाशी से कोई फ़ायदा नहीं होता।

इन नमकों के अधिक परिमाण में पैदा होने से और मिट्टी की बनावट से घना सम्बन्ध है। यदि मिट्टी खुली हुई है, तो उसमें पानी सरलता से प्रवेश कर सकता है और हवा उसमें अच्छी तरह से जा सकती है। उसमें रेही नमक नहीं होता, पर जो ज़मीन कड़ी होती है जिसमें हवा का खूब संचालन नहीं हो सकता उसमें यदि लगातार सिंचाई की गई तो ऐसी ज़मीन में रेह (Alkali) का असर हो जाता है। जिस कड़ी ज़मीन में पानी इकट्ठा होकर ठहर जाता है तो उसके वितल (Sub-soil) के पानी की सतह ऊपर हो जाती है। जब ऐसी ज़मीन का पानी चारों तरफ़ के बाँध आदि से रुक जाता है तो उसमें भी रेह (Alkali) पैदा हो जाती है।

जितनी ज़मीन अभी परती है उसको फिर से फ़सलवाली बना लेने की अपेक्षा रेह (Alkals) समस्या को हल करना इस समय अधिक महत्त्व का विषय है। कहीं-कहीं कंकड़ के उपयोग से काले रेह का गंधेत सोडा (SulPhate of soba) बन जाता है जो पौधों को रेह (Alkali) की अपेक्षा कम नुक़सान पहुँचाता है। कहीं रेह (Alkrli) वाली ज़मीन में रेत मिला देने से भी फ़ायदा होता है। चीनाब के पास नरवा नामक स्थान में खेतों में भरे हुए पानी को बाहर निकाल देने से व खूब सिंचाई कर उसमें के नमक को धो देने से उसमें रेह (Alkeli) का विकार दूर कर दिया गया है। यह रेह (Alkali) का विकार ज़मीन में काफ़ी हवा के न रहने से पैदा होता है। जहाँ कहीं कड़ी मिट्टी में बार-बार सिंचाई करने से या एक जगह में पानी के भरे रह जाने से उस ज़मीन के भीतर हवा नहीं पहुँच सकती वहाँ कुछ काल में रेही नमक ज़रूर पैदा हो जाता है। जहाँ ज़मीन में हवा का प्रवेश कर दिया जाता है वहाँ उस स्थान का रेही नमक भी बहुत कम हो जाता है। इससे यदि रेह (Alkali) के पैदा करने का मुख्य कारण ज़मीन के अन्दर हवा की कमी ही है तो अवध के कुछ हिस्से थोड़े ही दिनों में, अगर

ज़मीन में वायु प्रवेश के उपाय काम में न लाये जावेंगे, बहुत-सी तादाद में रेह (Alkali) से भर जावेंगे। इससे भारत में कृषि-सुधार करने के लिये रेह (Alkali) समस्या को हल करना ज़रूरी है और रेह (Alkali) समस्या तो तभी दूर हो सकती है जब कि ज़मीन के भीतर काफ़ी हवा के रहने का प्रबन्ध हो और हवा का प्रबन्ध करने के लिये आबपाशी के दोषों को दूर करना ज़रूरी है जैसा कि ऊपर समझाया जा चुका है।

तेरहवाँ अध्याय

व्यक्तिगत किसान की खेती सम्बन्धी कुछ समस्याएँ

पिछले अध्याय में हमने खेती की ज़मीन को बढ़ाने की समस्या पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार किया है। इस अध्याय में हम खेती की ज़मीन की उन समस्याओं पर विचार करना चाहते हैं जिनका असर व्यक्तिगत किसानों पर पड़ता है। औसत दर्जे के किसान का एक तो उसकी खेतों के क्षेत्रफल और दूसरे उस क्षेत्रफल की विशेषताओं से सम्बन्ध होता है। पहली समस्या उसकी खेती के क्षेत्रफल के सम्बन्ध में है। इस विषय में हमारे लिए यह जान लेना आवश्यक है कि प्रत्येक किसान की खेती का रक़बा अर्थशक्ति की दृष्टि से काफ़ी है या नहीं। दूसरी समस्या यह है कि हमें फिर यह जान लेना चाहिये कि प्रत्येक किसान के कुल खेत एक ही साथ पास-पास मिले हुए हैं या इधर-उधर अलग-अलग सारे गाँव भर में फैले हुए हैं।

इस सवाल के पहले पहलू पर विचार करते हुए हमने देखा था कि प्रति किसान पीछे औसतन १.४ एकड़ ज़मीन निकली थी। पर इससे कुछ साफ़ नहीं मालूम होता कि वास्तव में प्रत्येक किसान के पास कितनी ज़मीन होती है। क्योंकि हिन्दुस्तान में कुछ किसान ऐसे भी हैं जिनकी ज़मीन औसत से कही अधिक है और कुछ ऐसे भी हैं जिनके पास औसत से भी कम ज़मीन है। हमें किसानों की खेती के क्षेत्रफल के विषय में पुराना पंजाब के सिवाय और किसी राज्य के विश्वास के लायक़ समाचार नहीं मिले हैं।

कृषि जाँच कमेटी जिस नतीजे पर पहुँची है वह नीचे लिखे अनुसार है :—

(१) इस प्रान्त के किसानों में से २२.५ फ़ी सदी किसानों के पास एक एकड़ से भी कम ज़मीन है।

(१) १५.४ फ़ी सदी किसानों के पास एक से ढाई एकड़ तक ज़मीन है।

(३) १७.६ फ़ी सदी किसानों के पास ढाई से पाँच एकड़ तक ज़मीन है।

(४) २०.५ फ़ी सदी किसानों के पास पाँच से दस एकड़ तक ज़मीन है।

बम्बई राज्य में भी क़रीब-क़रीब यही अंक मिलेंगे।

हिन्दुस्तान की सन् १६२१ की जनसंख्या के अनुसार प्रति किसान पीछे निम्नलिखित रक़बे पाये गये थे :—

राज्य	क़रबा प्रति किसान कुटुम्ब पीछे	
बम्बई	११.८	एकड़
पंजाब	१०.०	,,
मद्रास	४.४	,,
बंगाल	४.५	,,
उत्तर-प्रदेश	६.०	,,

ऊपर के अंकों से हमें इस बात का कुछ ज्ञान हो जाता है कि किसी किसान का खेत औसत में भिन्न-भिन्न प्रान्त में कितना बड़ा होता है। इन अंकों की विवेचना करने से मालूम हो जावेगा कि किसानों की ग़रीबी का कारण क्या है। यदि किसान के कुटुम्ब के पास केवल ४ या ५ एकड़ ही ज़मीन है तो उसे साल भर में बहुत थोड़े दिनों के लिए ही काम मिल सकता है। जोताई, बोआई व कटाई के समय में तो किसान भर-

सक काम करता रहता है; पर इसके सिवा साल के बचे हुये क़रीब-क़रीब सभी दिनों में वह बेकार हो जाता है। भारतीय किसानों की ग़रीबी का मुख्य कारण उनकी ज़मीनों की यह अवस्था ही है। जिन देशों में किसानों के खेत बड़े होते हैं और जहाँ किसान उसके सारे काम में से अपने ही हाथों से सिर्फ़ एक टुकड़ा काम ही कर सकता है वहाँ वह शेष कामों के लिए आवश्यकतानुसार मज़दूर भी किराये पर रख लेता है। हिन्दुस्तान में किसानों के पास इतने छोटे-छोटे खेत हैं कि किसान के लिए काफ़ी काम नहीं रहता और न ऐसा कोई उद्योग-धन्धा ही मिलता है जिससे वह अपना जीवन-निर्वाह कर सके। किसानों का उनकी ज़मीन पर जो हक़ है और जिस हक़ को कानून भी बनाये रखना चाहता है, उसी से इस देश में श्रमशक्ति की माँग व खपत एक दूसरे के अनुकूल नहीं होने पाती। किसान को जो कुछ भी बपौती ज़मीन मिल जाती है वह उसको छोड़ व्यावसायिक केन्द्रों में आमदनी का दूसरा ज़रिया निकालने के लिए नहीं जाना चाहता, जब तक कि उसकी बिल्कुल लाचारी हालत न हो जाय। इसलिए वर्त्तमान दशा को सुधारने का केवल एक ही साधन है। वह यही है कि कुछ ऐसे रोज़गार क़ायम किये जाँय जिन्हें किसान अपने बेकार दिनों में ही बैठकर कर सके। चर्ख़ा-भक्तों का खद्दर प्रचार के लिए यही बड़ा भारी प्रमाण है, और यह प्रमाण किसी हद तक सत्य भी है। पर इतने से ही यह समस्या हल नहीं हो जाती।

भारतीय किसान को वर्त्तमान अवस्था में जीविका चलाने के लिए ज़मीन पर थोड़े से ही परिश्रम करने से काफ़ी पैसा मिल जाता है। इसलिए जिस रोज़गार में अधिक परिश्रम करके उसे थोड़ा-सा ही पैसा मिलेगा उसे वह स्वीकार नहीं कर सकता और न उसे करना ही चाहिए। चर्ख़ा ऐसे सहकारी रोज़गारों में एक है। दिन भर चर्ख़ा चलाने के बाद एक आदमी मुश्किल से तीन चार आने का काम करेगा। अब अम्बर चर्ख़ा का आविष्कार हुआ है। इसकी सहायता से किसान एक दिन में

आठ या बारह आना आसानी से कमा सकता है। चर्खे के सिवाय बहुत से ऐसे सहकारी रोज़गार हैं जिनके द्वारा उसकी आमदनी बढ़ सकती है। जर्मनी के किसान फ़ुर्सत के समय खिलौने बनाकर काफ़ी पैसा पैदा कर लेता है। जापान के किसान भी बहुधा यही धन्धा करते हैं। आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक किसान के लिए यह ज़रूरी है कि वह अपने बेकार समय में अन्य उद्योग-धन्धों द्वारा पैसा पैदा करे और इसी कारण हम किसी से यह जोर देकर नहीं कह सकते कि तुम अमुक ही रोज़गार करो। यदि यह सत्य है, जैसा कि प्रतीत होता है कि किसानों का बहुत समय बेकार जाता है, और यदि यह भी सत्य है जो वास्तव में सत्य है कि उन्हें अपने साधारण जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये काफ़ी पैसा नहीं मिलता, तो फिर निस्सन्देह इस बात की बड़ी भारी अवश्यकता है कि उनके लिए कोई ऐसा उपाय निकाला जाय ताकि वे अपने बेकार समय में भी पैसा पैदा कर सकें।

उनके बेकार समय का कई प्रकार से सदुपयोग हो सकता है। आर्थिक दृष्टि से किसी भी किसान को उसी उपाय का अवलम्बन करना चाहिये जिससे उसे अधिक लाभ हो सके। इसके लिए कोई सार्वजनिक सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता, जिसके अनुकरण करने से सभी लोगों के बेकार समय का एकसा सदुपयोग हो सके। यह तो देश, काल और अवस्थाभेद पर ही निर्भर है। कौन मनुष्य किस उद्योग धन्धे का अवलम्बन करे, यह निश्चय करने के लिए पहले बहुत-सी बातों पर विचार करना होगा। जैसे, उसके गाँव की अवस्था, उसके पास नदी, पहाड़, नहर, कोई खदान या जङ्गल है या नहीं, उसकी शिक्षा, उसका सामाजिक जीवन—अमुक काम करने में उसे जातिदण्ड का भागी तो न होना पड़ेगा, उसके घर की अवस्था—उसके घर में कितनी स्त्रियाँ और कितने पुरुष हैं और कौन-कौन किस काम के लायक़ है इत्यादि।

खेतों का इधर-उधर बिखरा हुआ होना अर्थात् एक किसान के सारे

खेतों का एक चक में न होना भी एक बड़ी भारी बुराई है। इसकी प्रथा भी बहुत बढ़ गई है। जिनके पास छोटे-छोटे खेत होते हैं वे अपने खेतों का रक़बा बढ़ाने के लिए गाँव के किसी दिशा में भी पड़े हुए खेतों को स्वीकार कर लेते हैं। डाक्टर मान ने यह पता लगाया है कि पिंपला सौदागर नामक बंबई राज्य के ग्राम में ६२ फ़ीसदी किसानों के पास एक एकड़ से भी कम ज़मीन है। जट ग्राम में ऐसे किसान ३१ फ़ीसदी हैं। बड़े-बड़े किसान तो आस-पास के बड़े-बड़े खेतों को अपने पास रख लेते हैं और छोटे-छोटे बिखरे हुए खेतों को दूसरों को लगान पर दे देते हैं। किन्तु विचारे छोटे किसानों को जो कुछ मिल जाता है उसे स्वीकार करना ही पड़ता है। चाहे किसान इन बिखरे हुये खेतों को एक ही साल के ठेके पर ले परन्तु वह वर्षों तक उसे जोते चला जाता है। इसका यही नतीजा होता है कि खेत बिखरे हुए रह जाते हैं। साथ दिये हुए नक़्शे से हमें इस बात का कुछ ज्ञान हो जावेगा कि खेती के बिखरे हुए रहने का क्या अर्थ है। यह नक़्शा उसैना गाँव तहसील आँवले ज़िले बरेली का है। इसमें हमने सिर्फ़ दो किसानों के खेतों पर चिह्न लगाकर प्रत्येक के खेतों का गाँव भर में बिखरा हुआ होना दिखाया है। चेतराम के खेत सात टुकड़ों में और राम मनोहर के खेत छः टुकड़ों में गाँव भर में इधर-उधर बिखरे हुए हैं। इसी प्रकार और किसानों के खेत हैं। लगभग प्रत्येक गाँव में बिखरे हुए खेत पाये जाते हैं।

खेतों के बिखरे हुए होने से जो अवस्था उत्पन्न होती है उसके दूर करने के लिये बहुत से प्रयत्न किये गये हैं। बम्बई में एक बार यह सोचा गया था कि यदि खेतों के एक नियमित हद से भी अधिक टुकड़े हों तो उन्हें गाँव के लगान सम्बन्धी काग़ज़ात में इन्द्राज न किया जावे। ऐसा करने से उस नियमित हद से लोग अधिक टुकड़े न करेंगे। पर इससे कुछ लाभ न हुआ और सरकार को अपना विचार बदल देना पड़ा।

पंजाब के नहर-उपनिवेशों में ज़मीन के बेंचने में जो क़ैदें लगा दी

गई हैं इससे खेतों का छोटे टुकड़ों में विभाजित होना किसी हद तक रुक गया है। और सरकार ने जो ज़मीन किसी को माफ़ी में दी है उसके विषय में यह नियम बना दिया है कि वह ज़मीन केवल एक ही उत्तराधिकारी को दी जायगी। पर इन प्रथाओं से भी जिस बात की आवश्यकता थी उसमें लाभ नहीं हुआ। अगर एक ही उत्तराधिकारी माना जावे और वह उत्तराधिकारी कहीं घर का बड़ा लड़का हुआ तो वह अपने छोटे भाइयों को उस जायदाद का भाग दिये बिना न रह सकेगा। चाहे उस जायदाद में अधिकार उसे भले ही न दे। पंजाब में आज जो लगभग ५० लाख एकड़ ज़मीन गत अस्सी वर्षों में ऐसे आदमियों के हाथ में आ गई है जो लोग किसान नहीं हैं, वह सारी ज़मीन, यदि खेतों के इस प्रकार टुकड़े-टुकड़े न किये जाते तो आज अपने मूल मालिकों के पास रहती और प्रति किसान पीछे औसतन कहीं अधिक ज़मीन पाई जाती।

बम्बई राज्य के कृषि विभाग के डाइरेक्टर कीटिंग साहब ने खेतों के टुकड़े-टुकड़े किये जाने की बुराइयों को दूर करने के लिये कुछ रास्ता बताया था। उनकी राय थी कि एक किसान के पास उसके व उसके कुटुम्ब के लोगों की श्रमशक्ति के और उसके मूलधन को पूरा सदुपयोग करने के लायक़ जो खेत हो—ऐसा खेत जिसकी उपज से उसे व उसके कुटुंब को यथेष्ट खाना कपड़ा मिल सके तो उसे उस खेत की एक ही वारिस के नाम रजिस्ट्री करा लेने का हक़ हो। ऐसे खेत, जिसे सुभीते के लिये हम "आर्थिक खेत" कह सकते हैं, केवल आर्थिक खेती के लिये ही लागू हों। इस तरह रजिस्ट्री करा लेने से उस खेत के फिर टुकड़े नहीं किये जा सकते और एक समय में वह एक ही आदमी के पास रह सकता है। एक से अधिक आदमियों के हाथ में उसे देने या बाँटने की मनाई की गई थी। पर ऐसे विचार का विरोध मद्रास के रेवन्यू बोर्ड ने निम्नलिखित कारणों से किया :—

(१) कौन से खेत आर्थिक खेत होंगे इसका पता लगाने में बड़ी कठिनाई होगी।

(२) यह कार्यवाही हिन्दू व मुसलमानी समाज के नियम के विरुद्ध देश में बहुत से ऐसे खेत बना देगी जिसका बटवारा न हो सकेगा।

(३) अमीर किसानों के लिये ही यह नियम लागू हो सकेगा जो एक को अपनी ज़मीन देकर दूसरे हक़दारों को उसके बराबर की सम्पति दे सकेंगे। पर ग़रीबों की गृहस्थी में बड़ी गड़बड़ी मच जायगी। उससे सर्वसाधारण जनता बिना ज़मीन के हो जावेगी जिसका होना सदैव भयंकर है, ख़ासकर ऐसे देशों में जहाँ कि निश्चित दूसरे उद्योग धंधे नहीं हैं जिसमें खेती बारी से बचे हुये आदमी लग सकें।

(४) महाजन को धोखा देने के लिये उसके दूसरे हक़दार भी झूठ-मूठ रजिस्ट्री करा लेंगे।

(५) किसानों की इज़्ज़त में बट्टा लग जावेगा।

(६) खेत बेचने या दूसरे को देने में बड़ा झमेला उठ खड़ा होगा क्योंकि ऐसे प्रत्येक अवसर में यही प्रश्न उठेगा कि इस खेत की आर्थिक खेत के नाम से रजिस्ट्री हुई या नहीं।

(७) खेतों पर लगान लगाने में बड़ी कठिनाइयाँ पड़ेंगी।

(८) घर-घर में लड़ाईयाँ बढ़ेंगी।

कृषि जाँच कमेटी के सामने कीटिङ्ग साहब ने बयान देते हुए कहा था कि इस नियम के बना लेने से खेती के लोग खेती से दूर न होंगे। पर चूँकि इस नियम से खेतों पर खेती अच्छी होने लगेगी इससे उसमें मज़दूरों की ज़रूरत होगी। इससे ऐसे बहुत से लोग जो उस खेती के बटवारा करने पर उसके टुकड़े-टुकड़े के मालिक होते वे ही उन खेतों पर मज़दूरी करेंगे। उनके पेशे में अंतर न पड़ेगा। केवल उनका पद भर बदल जावेगा।

इसलिये ऐसे नियमों को केवल अमीर किसानों के सम्बन्ध में ही सफलता मिली है। सर्वसाधारण की बपौती सम्पति के बटवारा करने के क़ानून नहीं स्वीकार किये गये हैं। दूसरा प्रस्ताव एक यह भी था कि किसी भी खेत के एक हद के बाद अधिक छोटे टुकड़े न किये जावें। जिनके पास बहुत छोटे टुकड़े हों उनसे वे टुकड़े जरूर ही ले लिये जावें और ऐसे लोगों को बाँट दिये जावें जिससे उनके ख़ुद के खेत नये टुकड़ों के मिलने से "आर्थिक खेत" हो जावें। किसी किसी ने बेल्जिम की प्रथा की सिफ़ारिश की थी जिसके अनुसार एक हक़दार, ख़ासकर बड़ा लड़का और हक़दारों के हिस्से की ज़मीन को ख़रीद लेता है जिससे उस ज़मीन के टुकड़े न होने पावें। पर यह प्रस्ताव भी लोगों को पसंद नहीं आया जब तक कि खेती के सिवाय दूसरे उद्योग धंधे किसानों की पहुँच में न हों। कृषि जाँचकमेटी के सामने ऐसी कोई भी सिफ़ारिश नहीं की गई थी जिससे बपौती संपति के बटवारे के नियम में बाधा तो न पड़े ज़मीन टुकड़े-टुकड़े होने से बच जावे।

ज़मीन के टुकड़े टुकड़े होकर इधर उधर हो जाने में जो बुराइयाँ होती हैं उसके लिए एक ही उपाय सर्वश्रेष्ठ है। वह उपाय है चकबंदी करना। चकबंदी का अर्थ यही है कि छोटे-छोटे बिखरे हुए खेतों के बदले उन्हीं के परिमाण में एक बड़ा सा खेत ले लिया जावे। ऐसा करने से किसान के सब खेत एक ही साथ एक खेत के बराबर हो जावेंगे या अधिक से अधिक मुख्य-मुख्य प्रकार के दो तीन खेत हो जावेंगे।

पंजाब में सहयोगी संस्थाओं द्वारा इस प्रथा से बहुत लाभ हुआ है और पंजाब में इस उपाय की सफलता को देखकर उसकी ओर ऐसे अन्य राज्यों का भी ध्यान आकर्षित हो गया है जिनमें वे ही बुराइयाँ भरी हुई हैं। यद्यपि पंजाब में बंदोबस्त विभाग ने अपने प्रभाव से चकबंदी करना चाहा था, पर उससे कुछ न हो सका। किन्तु सहयोगी संस्थावाले इसका प्रचार बड़े धीरज के साथ करने लगे। वे लोगों को चकबंदी का लाभ

समझाने लगे जिससे बहुत लाभ हुआ। इस सहयोगिता के भाव से ही लोगों की भावनाओं में बड़ा अंतर पड़ा है और इस कार्य में सफलता मिल रही है। गाँववालों में सुधार करने के लिए उनकी सारी शिकायतों को सुनने व उनकी शंकाओं को धीरज के साथ दूर करने की बड़ी आवश्यकता है। इस कार्य में असफलता बहुत होती है और सफलता बहुत थोड़े-थोड़े परिमाण में मिलती है। पर जिन्होंने इस कार्य का भार अपने ऊपर उठा लिया है वे समझते हैं कि धीरे-धीरे जनता को अपनी ओर मिला लेने में ही भलाई है। इससे वे लोग झटपट कोई सरकारी क़ानून बना लेने के लिए उतारू नहीं हो जाते। इस प्रकार धीरज से काम करते रहने से पंजाब में इस प्रथा की बड़ी उन्नति हुई है। चकबंदी का रक़बा प्रति वर्ष बढ़ता ही जा रहा है। पहले पाँच साल में ३६,७५७ एकड़ की चकबंदी हुई थी। दूसरे ही वर्ष २०,००० एकड़ की चकबंदी और बढ़ गई व सन् १९५६ की सरकारी रिपोर्ट है कि ६१ लाख एकड़ चकबंदी हो गई है। हाँ, इतना भर और ध्यान में रखना चाहिए कि पंजाब में एक ही प्रकार की ज़मीन व एक ही प्रकार के किसान होने से चकबंदी में बड़ा सुभीता पड़ा है।

पंजाब की इस व्यवस्था से किसी की कुछ हानि नहीं होती। जिसकी आय पहले जितनी थी अब चकबंदी हो जाने पर उसकी आय कम नहीं हुई है। छोटे-छोटे खेतों से कोई किसान ज़बर्दस्ती निकाला नहीं जाता। कोई जोर-जुल्म नहीं होता। सब काम सरलता से चला जाता है। जब तक कि चकबंदी के हिसाब से किसानों के उसके पास आने वाले खेतों का नक़्शा नहीं बता दिया जाता तब तक उसके खेतों की चकबंदी नहीं की जाती। यह नियम केवल उन्हीं लोगों के लिए लागू है जिनकी ख़ुद की ज़मीन है। इस नियम का उद्देश्य ज़मीन को टुकड़े-टुकड़े होने से रोकना है। इससे बपौती सम्पति के बटवारे में बाधा नहीं पड़ती।

पंजाब की तरह और राज्य में भी उन राज्य की निजी कठिनाइयों

को दूर कर देने के बाद इसी प्रकार चकबंदी कर देना कोई असंभव बात नहीं है। मध्यप्रांत के छत्तीसगढ़ हिस्से में बिना सहयोगी संस्था की सहायता से ही चकबंदी करने में कुछ सफलता मिली है। वहाँ की ज़मीन व किसानी प्रथाओं में विभिन्नता होने के कारण अवश्य ही कठिनाइयाँ पड़ती हैं। जिससे वहाँ के सुभीते के लिए मध्यप्रदेश की व्यवस्थापिका-सभा ने ख़ास क़ानून बना दिया है। इन क़ानून की सहायता से चकबंदी की जाती है व खेती किसानी में भी मज़बूती आती है। सन् १९५६ तक २९ लाख एकड़ जमीन में चकबंदी हो गई थी।

उत्तर प्रदेश में चकबंदी का कार्य सरकार द्वारा किया जा रहा है। सन् १९५६ तक करीब ४४ लाख एकड़ ज़मीन में २१ जिलों में चकबंदी हो चुकी थी।

इस प्रकार खेतों के एक चक में न होने से जो बुराइयाँ होती हैं उनका अनुभव सभी राज्यों में किया जा रहा है। पर उन बुराइयों को दूर करने के लिये कहीं भी कोई ख़ास तरीक़ा नहीं निकाला गया है। कई राज्य के लोग पंजाब की इन विधियों का अनुकरण करना चाहते हैं जिन्हें वहाँ बड़ी सफलता मिली है। हिन्दुस्तान में कृषि-सुधार के मार्ग में यह एक बड़ी भारी बाधा उपस्थित है। सभी की यही राय है कि जब तक चकबंदी पूरे तौर से न हो जावे तब तक सरकार को इस ओर से लापरवाह नहीं होना चाहिए। यह काम केवल किसानों के हाथ में छोड़ देने से नहीं बनेगा। पर क्योंकि भारतीय किसान को अपनी बपौती ज़मीन बड़ी प्यारी होती है इससे सरकार को चाहिए कि इस कार्य में ज़रा सावधानी और सहानुभूति के साथ चले।

चौदहवाँ अध्याय

खेती की कमाई में सुधार

खेती की कमाई का अर्थ है खेती की आंतरिक और रासायनिक अवस्थाओं को इस प्रकार बना देना कि किसान उसमें जो फ़सल पैदा करना चाहता है उस फ़सल के लिए उस ज़मीन की वे आंतरिक और रासायनिक अवस्थाएँ उपयोगी हो जावें। वह किसान जिसे खेती के वैज्ञानिक सिद्धान्तों का ज्ञान है, पहले यह निश्चय करेगा कि उसे कौन सी फ़सल बोनी चाहिए। फिर वह देखेगा कि उस फ़सल के लिए ज़मीन में किन-किन रासायनिक व आन्तरिक अवस्थाओं की आवश्यकता है, तब फिर वह इतना जान लेने के बाद उस फ़सल के अनुसार उस ज़मीन को कमाने के उपाय निकालेगा। कमाने का मुख्य उद्देश्य यही है। यद्यपि हिंदुस्तानी किसान फ़सल-फ़सल के अनुसार अपनी भूमि को कमाता है, पर आधुनिक कृषि-विज्ञान की दृष्टि से देखने से यह मालूम पड़ता है कि इस विषय में उसे पूरा ज्ञान नहीं है और वह प्रत्येक फ़सल की प्रकृति को न अच्छी तरह से समझ पाता है और न उसके लिए सर्वथा अनुकूल भूमि तैयार कर पाता है। भूमि की आधुनिक शैली से कमाई करने के लिए उसे दो बातों का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। एक तो यह कि किस-किस फ़सल के लिए किन-किन आंतरिक और रासायनिक अवस्थाओं की आवश्यकता है जैसा कि इस अध्याय के आरंभ में लिख चुके हैं। दूसरे यह कि उसकी ज़मीन में वे अवस्थायें वर्त्तमान हैं या नहीं और यदि नहीं हैं तो वह उस ज़मीन में उन अवस्थाओं को किस प्रकार उत्पन्न कर सकता है।

अब हम खेत की कमाई के साधारण पहलुओं पर विचार करेंगे और यह भी बताने का प्रयत्न करेंगे कि हम उन्हें किस प्रकार वैज्ञानिक रूप दे सकेंगे। पीछे कह चुके हैं कि किसान खेतों में सब से पहले खाद डालता है। हमें यह भी मालूम है कि बरसात के लगभग ८-१० दिन पहले खेतों में खाद डाली जाती है। खाद को बिना जोते हुये खेतों में लाकर किसान चारों तरफ़ उसकी छोटी-छोटी ढेरी बना देता है और उसे मिट्टी में मिला देने के लिये कम से कम एक या दो मूसलाधार वर्षा के बाद उस खेत को वह जोत देता है। पर यह विधि कुछ हद तक अवैज्ञानिक है और खाद डालने से जो पूरा लाभ होना चाहिये वह इस विधि से नहीं होने पाता। पानी गिरने के लगभग ८-१० दिन पहले जो खाद की ढेरियाँ खेतों में रख दी जाती हैं उससे सूर्य्य की गर्मी से जलकर बहुत-सा लाभकारी तत्व नष्ट हो जाता है। फिर उसके बाद पानी गिरने से उस खाद के बहुत से लाभदायक तत्व बह जाते हैं। यदि हमारे किसान खाद की ढेरियाँ बना कर उन्हें खेतों में रखने के बदले, उस खेत में छोटी-छोटी खाइयाँ बना कर नीचे दबा दें तो उस खाद के बहुत से लाभदायक तत्वों की इस प्रकार हानि न हो। ऐसा करने से कोई अधिक पैसा व समय न लगेगा। केवल पहले की चली हुई कृषि की एक विधि में कुछ परिवर्तन भर कर देना पड़ेगा। आजकल भी किसान लोग अपनी ज़मीन के कुछ हिस्से को परती छोड़ देते हैं। गाँव के लोग बहुधा गोबर व घर के अन्य कूड़े-कचड़े को घर के पास ही किसी घूर में भर देते हैं। उन्हें चाहिये कि ऐसा करने के बदले परती छोड़ी हुई ज़मीन में बराबर दूरी पर एक से डेढ़ फुट गहरी खाँई खोदकर उस गोबर व कूड़े कचड़े को उसमें भर-भर के उसे ढकते जावें। इस प्रकार भीतर-ही-भीतर सड़ कर वह खाद मिट्टी में मिल जावेगी। दूसरे वर्ष इस ज़मीन पर खेती कर दूसरी टुकड़ी को परती छोड़ दें व उसमें बराबर-बराबर दूरी पर खाइयाँ खोदकर और उनमें उपर्युक्त विधि से खाद जमा करें। इस विधि से नैनी (प्रयाग) कृषिविद्यालय के

प्रधानाध्यापक डाक्टर हिगिनबाटम ने बड़ी सफलता-पूर्वक अपने खेतों में उन्नति की है। इसके साथ-साथ कूड़े-कचड़े गाँव की आबादी से दूर भी हो जावेंगे व गाँव की आबादी वाला भाग शुद्ध व स्वच्छ हो जावेगा। जब ये कूड़े-कचड़े आबादी के पास पड़े रहते हैं तो नित्य हवा उनसे ख़राब होती रहती है जिससे मलेरिया आदि तरह-तरह के रोग फैलते रहते हैं। इन रोगों के कारण किसानों की श्रमशक्ति भी क्षीण हो जाती है। इससे कूड़े-कचड़ों को उपर्युक्त विधि से खेतों में गाड़ देने से दोहरा फ़ायदा होता है। नैनी (प्रयाग) कृषिविद्यालय के प्रधानाध्यापक डाक्टर हिगिन-बाटम साहब का अनुभव है कि आज-कल जिस प्रकार अपने खेतों में खाद डालकर उन पर जितने दिनों के लिये जो असर पैदा करता है, यदि वही खाद खेतों में उपर्युक्त विधि से खाई खोद कर डाली जावे तो वही असर उससे दुगने-तिगने समय तक क़ायम रहेगा।

हम कह चुके हैं कि हिन्दुस्तान में खेतों की पहली जोताई वर्षा आरम्भ हो जाने के बाद शुरू होती है। रबी और ख़रीफ़ की पहली जोताई के बीच के दिनों में खेत बे जोते पड़े रहते हैं। नतीजा यह होता है कि गरमी में उस ज़मीन पर धूप प्रकाश व हवा अपना पूरा असर नहीं पहुँचा पाती। मान लिया जावे कि एक प्रकार के दो खेतों में एक ही प्रकार के बीज बोये गये और उनमें एक ही प्रकार से खेती हुई। इस अवस्था में अनुभव से देखा गया है कि जो खेत रबी के बाद बिना जोते हुए पड़े रहे उनकी अपेक्षा उन खेतों में उपज अधिक होती है जो रबी के बाद एक बार जोत दिये गये हों। क्योंकि ऐसा करने से गरमी के दिनों की धूप प्रकाश और हवा का असर उन पर अच्छा पड़ता है। हवा की तरह सूर्य्य की किरणों के संपर्क से ज़मीन के कणों में रासायनिक परिवर्तन होता है जिससे उसमें वनस्पति भोजन तैय्यार होता है। इसके सिवाय दूसरा बड़ा भारी लाभ यह होता है कि जब बरसात आने के क़रीब बड़े ज़ोरों से आँधी आती है और हवा चलती है तो उस हवा में इधर-उधर के

खनिज पदार्थों के छोटे-छोटे परमाणु व तरह-तरह के नमक आदि के परमाणु मिल जाते हैं। जब पहली बार वर्षा होती है तो उस पानी के साथ वे कण खेतों पर आ जाते हैं। यदि खेत रबी फ़सल के बाद एक बार जोत दिया गया हो तो ये परमाणु उसमें उस पानी के साथ-साथ बिंध जाते हैं। पर यदि खेत एक दम सपाट पड़ा रहा हो तो उसमें इस आँधी से कुछ लाभ नहीं होता क्योंकि वे कण ऐसी ज़मीन से पानी के साथ ऊपर-ही-ऊपर बह कर निकल जाते हैं। इसलिये जब रबी के बाद खेतों को एक बार जोतने की सलाह दी जाती है तो यहाँ के किसानों को यह आपत्ति होती है कि वर्षा के पहले खेत बहुत कड़े होते हैं जिन पर हिन्दुस्तान के वर्त्तमान बैल व हल जोताई नहीं कर सकते। पर उनकी आपत्ति एक मिथ्या धारणा ही है। खेतों को अधिक कड़े होने तक क्यों रहने दें? उन्हें रबी फ़सल के कटते ही जब कि ज़मीन नरम होती है जोत देना चाहिए। रबी के कटते ही उसे जोत देने से रबी फ़सल की जड़ें और ठूठें उस ज़मीन के नीचे धँस कर स्वयं सड़-सड़ कर खाद बन जावेंगी, यह एक और फ़ायदा होगा।

खेत की कमाई के विषय में जानने योग्य दूसरी बात हिन्दुस्तानी हलों की विभिन्नता होती है। कहीं भारी हल होते हैं कहीं हल्के। कहीं फार या फल अधिक हलका या नुकीला होता है तो कहीं साधारण ही। पर बहुधा सभी हलों की बनावट एक सी ही होती है। हिन्दुस्तान के सर्व-साधारण हलों में यह दोष होता है कि वे ज़मीन में बहुत गहराई तक नीचे प्रवेश नहीं कर सकते और न मिट्टी को पलट सकते हैं। नतीजा यह होता है कि पौधे ऊपरी सतह की ८-९ इंच ज़मीन से ही अपना भोजन खींच-खींच कर उसे चूसते जाते हैं। नीचे की सतह की ज़मीन जैसी की तैसी पड़ी रहती है। भिन्न-भिन्न राज्य के कृषि-विभागों ने देशी हलों में ही कुछ उन्नति की है जो ज़मीन में अधिक गहराई तक प्रवेश करते हैं और अधिक मिट्टी को पलट सकते हैं। इन हलों की क़ीमत भी अधिक नहीं है। इस

प्रकार उत्तर प्रदेश में मेस्टन नामक हल बड़ा अच्छा औज़ार सिद्ध हुआ है, चित्र संख्या १२ देखिये। वह क़रीब-क़रीब देशी हल की तरह ही है; पर उससे अधिक लाभदायक है। वह देशी हल की अपेक्षा अधिक गहराई तक प्रवेश करता है और बेकार पौदों तथा घास को नीचे दबा देता है जिससे वे नीचे सड़ कर खाद बन जाते हैं। ज़मीन के पलटने से उसकी उपज शक्ति बढ़ जाती है। यदि इस हल से जोताई की जावे तो देशी हल की अपेक्षा कुछ कम बार जोताई करने से उतना ही लाभ होता है और इस मेस्टन हल से साधारण देशी हल की अपेक्षा डेढ़ गुना जोताई होती है। पंजाब में यह हल बहुत अधिक काम में लाया जा रहा है। साधारण देशी हल का दाम १० से १२ रुपये तक है और एक अच्छे मेस्टन हल की क़ीमत १६ से २० रुपये तक है। मेस्टन के सिवा हिन्दुस्तान की खेती के लिये दूसरे प्रकार के हल भी उपयोगी पाये गये हैं जैसे पंजाब का राजा हल जिसका मूल्य ३८ से ४० रुपये तक है। राजा हल की चित्र संख्या १३ देखिये। मेस्टन हल से यह हल अधिक वज़नी और मज़बूत होता है। राजा हल मेस्टन हल की तरह ही ज़मीन को पलट देता है पर उससे अधिक गहराई तक प्रवेश करता है। कड़ी ज़मीन व ऐसी जमीन जिसमें बेकार पौदे बहुत निकल आया करते हैं इन दोनों प्रकार की ज़मीनों के लायक़ राजाहल अधिक उपयोगी है। यह हल देशी हल की अपेक्षा चौगुनी जोताई करता है जिससे समय व परिश्रम की बचत होती है। इस हल के साथ कठिनाई यही है कि यह बहुत भारी होता है। इससे वह केवल उन्हीं किसानों द्वारा काम में लाया जा सकता है जिनके पास काफ़ी मजबूत बैल हों। मेस्टन व राजाहलों के चित्र अन्यत्र दिए गये हैं। देशी हल से अधिक नीचे तक प्रवेश करने वाले व मिट्टी पलटने वाले हलों की सिफ़ारिश यहाँ के किसानों से अक्सर की जाती है। क्योंकि इससे यहाँ की खेती-बारी की बड़ी उन्नति होने की संभावना है। गन्ने की बड़ी बढ़िया खेती के लिए और रबी फ़सल की

मिट्टी में किसी-किसी फ़सल के लिए पानी क़ायम रखने के लिए ऐसी जोताई की तो निस्संदेह ही अत्यधिक आवश्यकता होती है। पर यह अभी निश्चय नहीं किया गया है कि ख़रीफ़ की सारी अवस्थाओं में ऐसी जोताई लाभदायक होगी या नहीं बल्कि इसका उल्टा प्रभाव पड़ने की बड़ी संभावना है। एक तो यह कि जिस ज़मीन में हल्का पानी गिरता है वहाँ अधिक जोताई करने से ज़मीन के भीतर पहली वर्षा से जो पानी जमा होता है वह सब बुरी तरह इधर-उधर हो जाता है जिससे उसमें बीजों से अंकुर नहीं निकल पाते। दूसरे जहाँ पानी अधिक गिरता है वहाँ की ज़मीन में अधिक जोताई से इतना पानी भर जाता है कि वहाँ भी बीजों से अंकुर फूट नहीं पाते और यदि बीज बोने में अधिक देरी कर दी गई तो उपज को नुक़सान पहुँचता है। इससे यह प्रकट होता है कि देशी हल एकदम नाकारा व अधिक गहराई तक जोताई करने वाले मेस्टन व राजाहल सदैव लाभदायक ही नहीं होते। इससे किसानों को चाहिये कि अपनी-अपनी ज़मीन और अपनी अन्यान्य अवस्थाओं में काफ़ी दिनों तक किसी भी हल की परीक्षा कर लें तब फिर उसे ग्रहण करें।

किसान देशी हल से खेत के एक कोने से जोताई आरंभ कर चारों ओर घूम-घूम कर अंत में उसे ख़तम करते हैं। ऐसा जोतने से और इसी प्रकार पाटा चलाने से खेतों के बीच का हिस्सा तो गहरा और किनारे ऊँचे हो जाते हैं। पर यह प्रथा अच्छी नहीं है क्योंकि बरसात और सिंचाई का पानी गहराई की ओर जाकर जमा हो जाता है। इससे उपज को हानि पहुँचती है। उचित विधि तो यह है कि खेत के बीच से जोताई आरंभ की जावे। बीच के हिस्से को जोत के फिर बारी-बारी उसके चारों ओर हल चलाया जावे जब तक कि उसके चारों तरफ़ की ज़मीन जुत न जावे। अगर खेत बड़ा हो तो उसके हिस्से कर लेने चाहिये व उपर्युक्त विधि से प्रत्येक हिस्से के बीच से जोताई करनी चाहिए, और जब इस

खेत को दुबारा जोतना हो तो दो हिस्सों के बीच की क्यारियों को बीच मान कर उस हिस्से में हल चलावें। इससे खेत बराबर रहेगा। इस पुस्तक में दिये हुये चित्रों से दोनों प्रकार की जोताई का पता लग जावेगा। चित्र (अ) जोताई की वर्तमान विधि का है, चित्र (ब) आदर्श विधि का है।

गाँवों में यह कहावत प्रसिद्ध ही है कि जैसा बोवेगा वैसा काटेगा। पर इस विषय में हम जो लापरवाही देखते हैं उससे कह सकते हैं कि इस कहावत का व्यावहारिक महत्व उन किसानों के विचार में नहीं आने पाता। पिछले अध्यायों में बीच के चुनाव और उसकी रक्षा के विषय में जो कह चुके हैं उन सब बातों से हमारे उपर्युक्त दोषारोपण का समर्थन होता है। इसमें उन्नति करने के लिये सारी व्यवस्थाओं को बदल देने की आवश्यकता नहीं है। हिन्दुस्तान की वर्तमान कृषि की अवस्था में थोड़े से ही परिवर्तन की आवश्यकता है। प्रत्येक मामूली किसान जो बीज बोता है उसके विषय में साधारणतया एक बात बहुधा देखने में आती है। वह यह कि बीज बोते समय एक ही प्रकार के व एक दर्जे के बीज नहीं बोये जाते। उसमें कई प्रकार के बीजों का मिश्रण रहता है। ऐसे बीज बोने से जो पैदावार होगी वह भी एक ही प्रकार की न होगी। इस पैदावार का बाज़ार में उचित मूल्य प्राप्त नहीं हो सकता। हम इस दोष को दो प्रकार से दूर कर सकते हैं। एक तो यह कि जब फ़सल पक कर तैयार हो गई हो तो उसे काटने से पहले उसमें से एक प्रकार के पौदों को अलग काट कर उनसे बीज निकाल लें। फिर इन बीजों को आगामी फ़सल के लिए रख छोड़ना चाहिए। पर इस प्रथा में एक बड़ी कठिनाई है। बीजों का मिश्रण इस तरह से बढ़ा हुआ है कि इस प्रकार कुछ अच्छे-अच्छे पौदों को छाँट लेना सहज नहीं है। दूसरा तरीक़ा इससे आसान है। वह यह है कि प्रत्येक राज्य के सरकारी कृषि-विभाग प्रत्येक फ़सल के अच्छे-अच्छे बीज इकट्ठा करके रखते हैं।

इससे किसानों को चाहिए कि वे इन विभागों से या अन्य सरकारी बीज की दूकानों से जहाँ कृषि-विभाग की तरह बीज इकट्ठे किये जाते हैं अपनी खेती के लिए बीज मोल ले लिया करें।

ऊँचे दर्जे के बीज जमा करने और बेचने का काम मुख्यत: प्रत्येक राज्य के सरकारी बीज गोदाम के ऊपर निर्भर रहता है। इन गोदामों की निगरानी राज्य का सरकारी कृषि विभाग करता है। इस काम में सब राज्यों से मध्यप्रदेश आगे बढ़ा हुआ है। वहाँ वे बीज साधारण बीजों से सिर्फ नाम मात्र के लिए अधिक दाम में बेचे जाते हैं। कपास के बाज़ारू बीज और सरकारी बीज के दामों में कुछ अंतर होता है। मद्रास और पंजाब राज्यों में सरकारी कृषि-विभाग बाज़ारू भाव से कुछ ऊँचे भाव में फ़सल के दिनों अच्छे बीजों को लेकर जमा कर लेता है। उत्तर-प्रदेश में कुछ बीज तो नक़द दाम लेकर बेचे जाते हैं पर बहुधा लोगों को बीज उधार दिये जाते हैं और फिर उनके बदले में उसी दर्जे के बीज वापिस लिए जाते हैं जिससे आगामी वर्ष के लिए और अधिक बीज जमा हो जावें। बंगाल में कृषि-विभाग के एजेंटों द्वारा जूट के ऊँचे दर्जे के बीज बेचे जाते हैं।

यद्यपि प्रत्येक राज्य में ऊपर कहे अनुसार बीज बेचने के लिए सरकारी कृषि-विभाग या सरकारी बीज-गोदाम प्रयत्न कर रहे हैं पर यह प्रथा इतनी कम विस्तृत है कि अधिकतर किसानों को इस बात का पता तक नहीं है। लोगों में अच्छे बीज के उपयोग के प्रचार करने के लिए प्रत्येक तहसील और परगने में सरकारी बीज गोदामों के एजेंट बना देने चाहिए। पाश्चात्य देशों में कृषकों को बीज बेचने का व्यापार साधारण लोग करते हैं जिनसे उन्हें लाभ भी काफ़ी होता है। हमारे उत्साही नवयुवकों को, जिनका हृदय ग्राम-सुधार के लिए अत्यंत ही व्यग्र हो रहा है, जैसा कि उनके ओजस्वी भाषणों से मालूम होता है, चाहिए कि ऐसे कामों को अपने ऊपर ले लें। इससे देश सेवा ही नहीं, साथ

ही अच्छी तरह से पेट सेवा भी हो सकती है। अच्छे बीज का अधिक प्रसार करने का सबसे अधिक व्यावहारिक उपाय तो यह होगा की बीज की सरकारी एजेंसी गाँव के महाजन और साहूकारों को दे दी जावे। इन एजेंटों के लिये यह नियम बना दिया जावे कि वे सरकारी गोदामों से एक नियत मूल्य पर बीज लिया करें और उचित लाभ उठाकर एक नियत मूल्य पर बेच दिया करें। उधार बीज बेचने से अंत में उसके बदले जो उसी दर्जे के बीज आवे उसे भी बीज की तरह बेच दिया करें। एक सरकारी अफ़सर इनके लेन-देन के हिसाब की जाँच साल भर में एक बार या दोबार कर जाया करे, और इस बात की भी जाँच किया करे कि वह जो बीज बेचता है उसमें कोई मिश्रण तो नहीं रहता या उस बीज का दर्जा सरकारी बीज का सा है या नहीं।

बीज के विषय में दूसरी आवश्यक बात यह है कि उसे कैसे जमा रखना चाहिये। जितनी प्रथाएँ हमने देखी हैं उनसे सीड़, घुन या अन्य विनाशक कीड़ों से बीज की भलीभाँति रक्षा नहीं होने पाती। इससे अच्छा तो मटके वगैरह में रख देना है। बम्बई राज्य की कृषि-प्रदर्शनी में, जो पूना में सन् १६२६ में हुई थी, कंकरीट (Concrete) के बने हुये कुठिले दिखलाये गये थे जिनमें बीज अच्छी तरह से रखे जा सकते हैं। बीजगोदाम वालों को ऐसे कुठिले अवश्य ही काम में लाना चाहिये। ये बहुत मंहगे नहीं होते और चलते बहुत दिन तक हैं। ऐसे कुठिले झाँसी, जबलपुर आदि शहरों में बनते हैं।

बीज के बोवाई की विधियों के बारे में यहाँ कोई और ख़ास बात नहीं कहना है। अन्यत्र दिये हुये चित्र से यह मालूम हो जावेगा कि बीज बोने के कुंडों वाली एक हिन्दुस्तानी विधि में ही कैसी उन्नति की जा सकती है। इस चित्र में आठ कुंडे एक ही साथ काम कर रहे हैं। बीज एक लकड़ी के संदूक में रक्खा है। पीछे बैठा हुआ आदमी उसको बोता जा रहा है।

कृषिकर्म के दृष्टिकोण से आबपाशी के वर्तमान ज़रिये संतोषप्रदायक नहीं हैं। हम यहाँ अब यह विचार करेंगे कि हमें आबपाशी के नाम से जितना पानी मिल जाता है उसका अच्छे से अच्छा उपयोग किस प्रकार से कर सकते हैं। उत्तरी हिन्दुस्तान के उन हिस्सों में, जहाँ कि नहरों से आबपाशी होती है, नज़र डालने से मालूम होगा कि वहाँ पानी का बड़ा नुक़सान होता है। किसान लोग नहरों से अपने खेतों में पानी ले जाने के लिये जो नालियाँ बनाते हैं उनकी इतनी बुरी हालत रहती है कि पानी उनमें से अक्सर फूट कर बाहर निकल जाता है। खेत की सतह ठीक तरह से समान नहीं की जाती है। खेतों में बहुधा क्यारियाँ होती ही नहीं। खेतों की अच्छी तरह से सिंचाई नहीं होती जिससे फ़सल कम होती है। जहाँ कुएँ से सिंचाई होती है वहाँ यह लापरवाही नहीं पाई जाती क्योंकि जब कुएँ का पानी लिया जाता है तब उसका दाम दिया जाता है। पर नहर के पानी का दाम पानी के परिमाण के अनुसार नहीं बल्कि सिंचाई किए जाने वाले रक़बे के हिसाब से दिया जाता है। इस प्रकार पानी का नुक़सान तो होता ही है, साथ ही ज़रूरत से ज़्यादा पानी के आसपास के खेतों में भर जाने से उन खेतों की फ़सल को बड़ा धक्का पहुँचता है। यह धारणा कि खेती के लिए सदैव अधिक पानी की आवश्यकता होती है, मिथ्या है। ज़मीन-ज़मीन और फ़सल-फ़सल के अनुसार कम या अधिक सिंचाई की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार कम सिंचाई से उपज को धक्का पहुँचता है उसी प्रकार अधिक सिंचाई से भी उपज की हानि होती है। सिंचाई तो केवल उचित मात्रा में होनी चाहिये। अच्छी हैसियत की ज़मीन में उचित-परिमाण में यदि थोड़ी-सी सिंचाई की गई हो तो उसमें बड़ी अच्छी फ़सल होगी। आबपाशी का वैज्ञानिक महत्व यह है कि पानी ज़मीन के भीतर के परमाणुओं के चारों तरफ़ पहुँच जावे। ज़मीन की इस भीतरी सतह में आर्गेनिक (organic) पदार्थ मिला देने से और अच्छी जोताई कर

देने से उसका घनत्व बढ़ जाता है। इसलिये यदि खेती के और काम होशियारी से किये जावें तो जितनी अच्छी ज़मीन होगी उतना ही कम नहर द्वारा आबपाशी की ज़रूरत होगी। रद्दी ज़मीन के लिये अधिक पानी की ज़रूरत होती है। नहरों से ज़रूरत से ज़्यादा पानी ले लेने से पानी का नुक़सान तो होता ही है पर जिस खेत में ज़रूरत से ज़्यादा सिंचाई होती है उसके गुण भी घट जाते हैं। हर एक किसान को इस बात का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये कि किस-किस फ़सल के लिये कितने-कितने पानी की ज़रूरत होती है तथा आबपाशी हो जाने पर किस प्रकार के उपाय और किये जावें जिससे सब से अधिक लाभ हो।

हम कह चुके हैं कि निराई से दो लाभ होते हैं। एक तो उससे जंगली पौदे उखाड़ कर दूर कर दिये जाते हैं। दूसरे उससे मिट्टी खुल जाती है। पहले कार्य का उद्देश्य यह है कि उस खेत के मुख्य पौदों के पास उनके भोजन के लिये दूसरे प्रतिद्वन्द्वी पौदे न रह जावें जिससे उस ज़मीन में मौजूद वनस्पति भोजन से उसमें के मुख्य पौदे पूरा-पूरा लाभ उठा सकें। निराई के दूसरे कार्य का उद्देश्य यह है कि ज़मीन में पानी बना रहे और उसमें हवा स्वतंत्रतापूर्वक आती जाती रहे। ख़रीफ़ के दिनों में जब कि लगातार वर्षा होती रहती है, पहला कार्य अधिक महत्व का होता है और दूसरा कार्य रबी के दिनों में अधिक महत्वपूर्ण होता है। हमारे किसान खुरपी जैसे साधारण औज़ार से निराई करते हैं। किन्तु खुरपी से काम बहुत धीरे-धीरे होता है। इसके सिवाय दो-तीन पानी गिरने के बाद जब तक मिट्टी में ओठ न आ जावे तब तक खुरपी से निराई नहीं हो सकती। बरसात के दिनों में कभी-कभी ऐसा होता है कि दस-दस पंद्रह-पन्द्रह दिनों तक पानी की झड़ी लगी रहती है। इससे भी मिट्टी में ओट जल्दी नहीं आने पाती। परिमाण यह होता है कि जंगली पौधे उस खेत के मुख्य पौधों को दबाने लगते हैं। इससे निराई के लिए कुछ ऐसा औज़ार काम में लाना चाहिए जिसे ओट की परवाह न हो।

ऐसे औज़ार सरकारी कृषि विभाग से मिल सकते हैं। ख़ास कर पंजाब के नहर उपनिवेश जैसे स्थानों में इस प्रकार निराई करने से काम नहीं चल सकता जहाँ कि खेतों का रक़बा तो बड़ा होता है और मज़दूर बहुत मँहगे मिलते हैं। पाश्चात्य देशों में निराई का काम हैरो (Harrow) और हो (Hoe) नामक यंत्रों से होता है। इस देश में जहाँ सिंचाई नहरों से होती है वहाँ इन यंत्रों की पाश्चात्य देशों से भी अधिक आवश्यकता है क्योंकि सिंचाई के बाद जमीन की ऊपरी सतह कड़ी हो जाती है और जंगली पौदे बहुत हो जाते हैं। यह प्रथा अधिक ख़र्चीली भी नहीं है क्योंकि एक आदमी एक जोड़ बैल से दिन में ३-४ एकड़ ज़मीन में काम कर सकता है। पर उन (Harrow) यंत्रों में भी जो कुछ कठिनाइयाँ आती थीं उनको दूर करने के लिये पंजाब के सरकारी कृषि विभाग ने कुछ ऐसे हो (Hoe) और हैरो (Harrow) बनाये हैं जिन्हें बार-हैरो (Bar Harrow) कहते हैं और जिन्हें गाँव का साधारण मिस्त्री भी बना सकता है।

चित्र संख्या १४ में (Hoe) और बार-हैरो (Bar Harrow) के चित्र दिये हुए हैं।

निराई और गोड़ाई का काम हमारे देश में बहुधा स्त्रियाँ करती हैं और दिन भर में कठिनाई से ८ स्त्रियाँ एक बीघा निरा पाती हैं। पर लायलपुर हो (Hoe) के द्वारा एक आदमी एक जोड़ बैल से ४-५ बीघे पर काम कर लेता है। गोड़ाई के दिनों में बैल तो बेकार बैठे रहते ही हैं, इससे यदि हो (Hoe) और बैलों के द्वारा गोड़ाई की जावे तो काम में किफ़ायत भी पड़े और औरतों की मेहनत भी बचे। लायलपुर हो (Hoe) बरसात में ख़ास कर ज्वार, बाजरा के खेतों में बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। चित्र संख्या १५ बार-हैरो (Bar Harrow) गेहूँ, कपास और जौ के खेतों में बड़ा उपयोगी पाया गया है और उसे निम्नलिखित-विधियों से काम में लाते हैं :—

(१) ठीक बीज बोने के बाद यदि बोवाई पानी भरी ज़मीन में की गई हो और उस ज़मीन में काफ़ी पटेला चलाया गया हो तो एक ही बार-हैरो (Harrow) चलाने से काम चल जाता है। ऐसी ज़मीन में हैरो पर अधिक वज़न देने की आवश्यकता नहीं होती।

(२) बीज बोने के बाद यदि वर्षा के कारण ज़मीन कड़ी हो गई हो तो बिना वज़न दिये एक ही बार-हैरो (Harrow) चलाने से काम चल जाता है।

(३) गेहूँ के पौदों में जहाँ ३-४ पत्ते निकल आये हों वहाँ बिना वज़न दिये एक बार-हैरो (Harrow) चला देना चाहिये।

(४) पहली और दूसरी सिंचाई के बाद वज़न देकर कम से कम दो-दो बार आड़ा बेड़ा हैरो (Harro) चला देना चाहिये।

(५) शुरू-शुरू में चना, कपास व गन्ने के खेतों में भी हैरो (Harrow) चला देने से फ़ायदा होता है।

हैरो (Harrow) को उचित समय में चलाने से बहुत फ़ायदा होता है। पर ज़मीन जब अधिक गीली हो तो उसे न चलाना चाहिये, नहीं तो पौदे उखड़ जाते हैं।

कटाई

हिन्दुस्तान में कटाई बहुधा हंसिये से होती है। आम तौर से लोग फ़सल को काटते जाते हैं और स्त्रियाँ उसके गट्ठे बनाती जाती हैं। इस प्रकार से एक दिन में एक एकड़ गेहूँ, जौ या धान जैसी फ़सल काटने के लिए आठ पुरुष और स्त्रियों की आवश्कता होती है। कृषि-कर्म की और विधियों की अपेक्षा ख़ास कर फ़सल काटने में पुराने औज़ारों से काम अधिक लिया जाता है। 'इंडियन जरनल अव् इकनामिक्स' नामक पत्रिका के द्वितीय भाग, खण्ड दो में प्राध्यापक गिलवर्ट स्लेटर ने अपने "दक्षिण भारत के अर्थशास्त्र" शीर्षक लेख में इस प्रकार लिखा है—धान के

खेतों में फ़सल काटते हुए लोगों को देख कर मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने पूछा कि एक दिन में एक एकड़ फ़सल काटने के लिए कितने आदमियों की आवश्यकता होती है। उत्तर मिला, आठ—तथा इसके सिवा फ़सल को खलिहान में ले जाने के लिये कुछ स्त्रियों की आवश्यकता होती है।

इंगलैंड में फ़सल यंत्रों से काटी जाती है। एक आदमी फ़सल काटने और बांधने की एक मशीन से एक दिन में छः एकड़ की फ़सल को काट और बाँध सकता है। वास्तव में हिन्दुस्तानी प्रथा से समय और शक्ति की बड़ी हानि होती है। यह तो केवल एक उदाहरण था। ऐसी बातें वहाँ प्रायः सभी स्थानों में पाई जाती हैं।

प्राध्यापक गिलबर्ट स्लेटर ने जिस यंत्र की चर्चा की है यह तो एक साधारण यंत्र है। इसके सिवा फ़सल काटने का एक और यंत्र होता है जिसका उद्देश्य परिश्रम का बचाना है। यह उन किसानों के लिये है जिनके पास गेहूँ के बड़े-बड़े खेत होते हैं और जिन्हें फ़सल काटने के लिये मज़दूर नहीं मिल सकते, इन्हीं कारणों से पंजाब में ऐसी सैकड़ों मशीनें काम कर रही हैं। इन मशीनों से प्रति दिन चालीस से पचास एकड़ की गेहूँ की फ़सल कट जाती है। एक जोड़ अच्छे बैल इस मशीन को खींच सकते हैं; पर इसे दिन भर चलाने के लिये दो जोड़ बैलों की आवश्यकता होती है। प्रति घंटे उन बैलों को बदलते रहना चाहिए। इस मशीन से एक एकड़ गेहूँ काटने का दाम डेढ़ रुपया होता है। उतने ही गेहूँ को हाथ से काटने का दाम छः रुपये होते हैं।

पर इस विषय में एक बात अवश्य ही ध्यान में रखनी चाहिये। हमारे किसानों के खेत इतने छोटे होते हैं तथा उनकी आर्थिक अवस्था इतनी हीन होती है कि उनमें से प्रत्येक किसान ऐसे मँहगे यंत्रों को रख कर उनसे पूरा लाभ नहीं उठा सकता। इन यंत्रों से तो उन्हीं स्थानों में लाभ उठाया जा सकता है जहाँ किसानों के पास सौ-दो-सौ-एकड़ ज़मीन हो और जिनमें एक ही प्रकार की फ़सल बोई जाती हो। जहाँ ऐसे बड़े

खेत हों व जहाँ इस प्रकार एक ही फ़सल बोई जाती हो उन स्थानों में ऐसे यंत्र सहयोगी संस्थाओं द्वारा काम में लाये जा सकते हैं। इसी से ये यंत्र पंजाब में बड़ी सफलतापूर्वक काम में लाये जा रहे हैं पर उन्हें उत्तर प्रदेश और बिहार में सफलता नहीं मिल सकती है। चित्र संख्या १६ गेहूँ काटने के एक और यंत्र का चित्र दे रहे हैं जो बहुधा भारतवर्ष में काम में लाया जाता है।

खलिहान

काटने के बाद फ़सल खलिहान में ले जा कर रखी जाती है। आमतौर से खलिहान गाँव के चारों तरफ़ के बाग़ बग़ीचों में होते हैं। या खेत में ही एक तरफ़ सफ़ाई करके फ़सल की ढेरी लगा देते हैं। वहाँ उसे फैलाकर रख देते हैं ताकि वह वहाँ अच्छी तरह से सूख जावे। फिर उसकी गेहाई (मड़ाई) शुरू कर देते हैं। पाश्चात्य देशों में काटने के बाद फ़सल ढके हुये स्थानों में रक्खी जाती है जिससे उसमें पानी गिरने से सड़ जाने, चिलम की आग उड़ कर उसमें आग लग जाने तथा चूहे आदि जानवरों के काटे जाने का डर नहीं रहता। भारतीय किसान भी यदि अपनी गाढ़ी कमाई के फल को अन्त में बर्बादी से बचाना चाहते हैं तो उन्हें सहयोगी संस्था द्वारा प्रत्येक गाँव पीछे एक या दो ऐसे ढके हुये स्थान बना कर अपनी फ़सल को सावधानी से रखना चाहिये। यह कई बार देखने में आया है कि फ़सल काफ़ी अच्छी हुई है, कट कर खलिहानों में आ गई है; पर इसके बाद पानी गिर जाने से सड़ कर सत्यानाश हो गई है। यदि किसान गेहाई आदि के होने तक अपनी फ़सल को ढके हुये स्थानों में रखने में असमर्थ है तो उसे कम से कम कूप बना कर तो अवश्य ही रख देना चाहिये जैसे उत्तर प्रदेश के बिजनौर, सहारनपुर आदि पश्चिमीय ज़िलों में होता है। यह कूप इस प्रकार बनाया जाता है। कटी हुई फ़सल को गुम्बज की तरह सजा देते हैं। ऊपर उसके

पयाल को इस प्रकार छा देते हैं जिससे उसके ऊपर से पानी ढल जाता है और ढेरी के नीचे प्रवेश नहीं करने पाता।

गेहाई

इस समय गेहाई या दायँ चलाने की प्रथा जो प्रचलित है वह एक प्रकार से कोई ख़राब नहीं है। हाँ, बैलों के लिये दुखदाई अवश्य ही है। ख़रीफ़ की गेहाई के साथ-साथ रबी की बोआई भी करनी पड़ती है तथा रबी की गेहाई कड़ाके की गरमी में होती है। इस प्रकार की गेहाई बैलों के लिये और भी दुखदाई है। इससे यदि किसी यंत्र से गेहाई की जावे तो बैलों का कष्ट तो दूर अवश्य ही हो। साथ ही रबी की जोताई-बोआई में वे बैल अधिक ताक़त के साथ काम कर सकेंगे। प्रत्येक प्रांतीय सरकारी कृषि-विभाग के पास गेहाई का यंत्र होता है। उत्तर प्रदेश की सरकार मिश्र देश की गेहाई के यंत्र को अधिक पसंद करती है। वह इस प्रकार की बनी रहती है। एक चौखूटे में कई तवे लगे रहते हैं। उसे एक जोड़ बैल खींचते हैं। साधारण तौर से तीन जोड़ बैल जितना काम कर सकते हैं इतना इस यंत्र द्वारा एक ही जोड़ बैल कर सकते हैं। इससे बैलों के परिश्रम की बहुत बचत होती है।

परतवाई या ओसाई

हमारे देश में परतवाई या ओसाई सूप से की जाती है। और यदि हवा परतवाई करते समय चलती हो तो बड़ा सुभीता होता है। यदि हवा अनुकूल न चलती हो तो केवल सूप के सहारे परतवाई ठीक तरह से नहीं हो पाती और अनाज में बहुत भूसा और पयाल मिले रह जाते हैं। यदि परतवाई भी यंत्र द्वारा होने लगे तो किसी प्रकार भी अनाज में भूसा वग़ैरह मिला हुआ न रह सकेगा। परतवाई के लिये यंत्र बन चुके हैं। इससे काम जल्दी भी होता है।

कृषि-सुधार के अन्तर्गत कृषिकार्य की विधियों में किस प्रकार उन्नति की जा सकती है, यह हम यहाँ तक बहुत कुछ कह चुके हैं। पाठकों ने हमारे इस अध्याय को पढ़कर यह देख लिया होगा कि हिंदुस्तान में खेती के जो तरीक़े और औज़ार चले आते हैं उन्हीं के आधार पर, उन तरीक़ों और औज़ारों से हमने उन्नति करने की सलाह दी है। पूरे परिवर्तन की सलाह केवल वहीं दी है जहाँ उसकी नितान्त आवश्यकता है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

फ़सल का भौगोलिक व सामयिक प्रसार

उपरोक्त विषय को हम दो दृष्टि-कोण से विचार सकते हैं—

(१) स्थान-स्थान के अनुसार भिन्न-भिन्न फ़सल का बोया जाना। इसको हम भौगोलिक प्रसार (Geographic distribution of crops) कह सकते हैं।

(२) समय-समय के अनुसार भिन्न-भिन्न फ़सल का बोया जाना। फ़सल को इस प्रकार दो विभागों में बाँट देना भारत व आस्ट्रेलिया जैसे गर्म देशों में एक मार्के की बात है। यहाँ की आबहवा अनियमित रहती है और बरसात का एक ख़ास मौसम होता है। इंगलैण्ड और फ्रांस जैसे देशों में, जहाँ हिन्दुस्तान की तरह आबहवा साल के भिन्न-भिन्न समय में बदलती नहीं रहती और जहाँ साल के प्रत्येक महीने में पानी गिरता रहता है, ख़रीफ़ और रबी नामक दो फ़सलें नहीं होतीं। उन देशों की ज़मीन में जो फ़सलें पैदा हो सकती हैं वे सब एक साथ ही बोई जाती हैं और यदि बन पड़ा तो साल भर में वह फ़सलें दोहरा दी जाती हैं। इस प्रकार साल में वही फसल दो बार पैदा होती है।

भौगोलिक प्रसार—(Geographic distributon of crops)

फ़सल का भौगोलिक प्रसार ज़मीन की आंतरिक व रासायनिक अवस्था; वर्षा का परिणाम तथा आबहवा की अन्य परिस्थितियों पर निर्भर है—यथा गर्मी, सर्दी, हवा में पानी का रहना, आदि। स्थान-स्थान में जाने आने के सुभीते होने का असर भी फ़सल के भौगोलिक प्रसार पर पड़ता है।

कोई फ़सल किसी एक ख़ास ज़मीन में पैदा होती है और दूसरी में नहीं क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रकार के पौदों की उपज के लिए उसकी ज़मीन में भिन्न-भिन्न रासायनिक अवस्थाओं की आवश्यकता होती है। इससे जिस ज़मीन में जिस फ़सल के लायक़ रासायनिक पदार्थ मौजूद होंगे उस ज़मीन में वही फ़सल पैदा होगी। फिर प्रत्येक फ़सल के लिए ज़मीन की विभिन्न आन्तरिक अवस्थाओं की आवश्यकता होती है। इससे कोई फ़सल केवल उसी ज़मीन में अच्छी तरह पैदा होगी जिस ज़मीन की आन्तरिक अवस्था उसके अनुकूल होगी। उदाहरण के लिए धान को लीजिए। धान ऐसी ज़मीन में पैदा होता है जिसके परमाणु आपस में एक दूसरे से ख़ूब मिले हों और जिसके आर-पार पानी सरलता से न जा सके। इसी से धान मटियार तथा ठोस दोमट में पैदा होता है और मुख्यतः बंगाल, आसाम, बिहार, उड़ीसा, मद्रास, और उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में पाया जाता है।

जिस प्रकार धान की उपज का ज़मीन की आन्तरिक व रासायनिक अवस्थाओं से सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार धान का आबहवा से संबंध रहता है। धान ऐसे स्थान में पैदा होता है जहाँ गर्मी काफ़ी हो और ज़मीन में पानी ख़ूब भरा रहता हो और हवा में नमी हो। उपरोक्त स्थानों की आबहवा ऐसी ही है। इस प्रकार ज़मीन की अवस्थाओं व आबहवा स्थान की परिस्थिति दोनों के मेल पर फ़सल की उपज निर्भर रहती है।

भौगोलिक प्रसार बहुधा दो प्रकार का रहता है। एक तो मनुष्य की आवश्यकताओं के अनुसार और दूसरे व्यावसायिक परिस्थितियों के अनुसार। यद्यपि फ़सल का भौगोलिक प्रसार ऊपर दिये हुये कारणों—यथा ज़मीन की अवस्थाओं और आबहवा पर निर्भर रहता है, तथापि सभ्यता के आरम्भकाल में आने-जाने की असुविधाओं के कारण—मनुष्य की आवश्यकताओं का भी उस पर काफ़ी असर पड़ता है। जिस स्थान से अन्य-स्थानों का उपरोक्त असुविधाओं के कारण संबंध नहीं रहता उस

स्थान को अपने ही में परिपूर्ण रहना पड़ता है। अर्थात् ऐसे प्रत्येक स्थान को अपने नागरिकों के लिये सारे भोजन के पदार्थ और कपड़े पैदा करने पड़ते हैं। आर्थिक अवस्थाओं की इस दशा पर पहुँच जाने के कारण हम देखते हैं कि ज़मीन, आबहवा और वर्षा की विभिन्नताओं से अनाज, कपास, तेल के बीज और गन्ने पैदा करने में केवल स्थानीय विशेषता आ जाती है। एक स्थान में भोजन का मुख्य अनाज चावल व किसी दूसरे में गेहूँ हो जाता है। पर कपास, तेल के बीज और गन्ने तो ऐसे प्रत्येक स्थानों में बोये जाते हैं। शायद ही ऐसी जगह मिलेगी जहाँ कोई ख़ास अनाज या ख़ास तेल का बीज बोया जावे। इस प्रकार की विशेषता तो केवल उन्हीं स्थानों में पाई जाती है जहाँ कि आने जाने का पूरा-पूरा सुभीता हो गया है और जहाँ एक स्थान से दूसरे तक सामग्रियाँ सुभीते के साथ और शीघ्रता के साथ लाइ जा सकती हैं। किसानों को यह देख लेना चाहिये कि उनके गाँव में भिन्न-भिन्न खेतों में जो भिन्न-भिन्न पौधे बोये जाते हैं उनमें औसत से प्रति बीघा कौन सी फ़सल सब से अधिक पैदा होती है। फिर वही फ़सल उस गाँव की ज़मीन में बोनी चाहिये। पर क्योंकि उनका गाँव इधर-उधर आने जाने के सुभीते के न रहने के कारण सब गाँवों से परे रहता है इससे अपनी सभी साधारण आवश्यकताओं की चीजें उन्हें उस गाँव में उत्पन्न करनी पड़ती हैं। इससे वे लोग किसी ख़ास फ़सल की ओर ध्यान नहीं दे सकते। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक भारतवर्ष की यही अवस्था रही थी और यद्यपि अब किसी-किसी स्थान में कोई विशेष फ़सल पैदा करने की प्रवृत्ति दिखलाई देती है तो भी अब भी बहुधा वही बात पाई जाती है।

व्यावसायिक परिस्थितियों के अनुसार भौगोलिक प्रसार

हमने यह देख लिया कि आने-जाने के सस्ते व समय की बचत करने वाले साधन न रहने के कारण लोग इस बात पर लाचार हो जाते हैं

कि एक ही प्रकार की ज़मीन पर दूसरी फ़सल की अपेक्षा औसत में जो फ़सल कम पैदा होती है उसे ही वे पैदा करें। पर जिन स्थानों में आने जाने के सारे सुभीते मौजूद रहते हैं वहाँ प्राकृतिक भौगोलिक प्रसार में व्यावसायिक आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन हो जाता है। ऐसे स्थानों में लोग उस फ़सल को नहीं बोते जिसकी उपज दूसरी फ़सल की अपेक्षा प्रति बीघे अधिक हो। पर वहाँ ऐसी फ़सल बोते हैं जिसका अधिक दाम मिले। मान लीजिये कि किसी स्थान में एक प्रकार के खेत में वहाँ की प्राकृतिक अवस्थाओं के अनुसार आठ मन गेहूँ पैदा होता है और उसी प्रकार की दूसरी ज़मीन में उस गाँव में सात मन चावल पैदा होता है। पर यदि गेहूँ का दाम सोलह रुपया प्रति मन और चावल का दाम बीस रुपये प्रति मन है और यदि उस प्रकार की ज़मीन पर गेहूँ की उपज करने में दस रुपये ख़र्च होते हैं और चावल को उत्पन्न करने में बारह रुपये ख़र्च होते हैं तब कोई भी समझदार आदमी गेहूँ उत्पन्न करना छोड़ देगा और चावल ही पैदा करता जावेगा क्योंकि चावल से उसे अधिक लाभ होता है। इससे व्यावसायिक परिस्थितियों पर फ़सल का प्रसार करना केवल ज़मीन की प्राकृतिक अवस्था पर ही निर्भर नहीं रहता। बाज़ार में भिन्न-भिन्न परिमाण में ख़र्चा लगता है इन दोनों बातों का भी उस पर बड़ा भारी असर पड़ता है।

सामयिक प्रसार

फ़सल का सामयिक प्रसार किसी स्थान की वर्षा व आबहवा के परिवर्तन पर निर्भर है। यदि भारतवर्ष में किसी ख़ास ऋतु में वर्षा न होकर साल भर में सदैव कुछ-कुछ पानी गिर जाया करता तो इस प्रकार से अलग-अलग ख़रीफ़ और रबी नाम की दो फसलें न होतीं। हिन्दुस्तान में ख़ास एक ऋतु में वर्षा होने का फ़सल के सामयिक प्रसार तथा देश के भिन्न-भिन्न स्थानों की गर्मी पर इतना असर पड़ता है कि हम यह

भलीभाँति कह सकते हैं कि फ़सल के सामयिक प्रसार का वह सबसे प्रधान कारण है। पर यह बात भी हम नहीं भूल सकते कि यदि हिन्दुस्तान में वर्षा किसी ख़ास ऋतु में न होती तो भी सूर्य के चारों ओर पृथ्वी के सदैव स्थानान्तर होते रहने से भिन्न-भिन्न परिमाण में गर्मी पैदा होती रहती। गर्मी के इस निरन्तर परिवर्तन से समय में अवश्य ही कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। हाँ, जिस प्रकार जून, जुलाई, अगस्त और सितम्बर, इन चार महीनों की वर्षा से आगामी शीत काल बेहद ठंडा हो जाता है उस प्रकार उपरोक्त गरमी के परिवर्तन होने से समय में परिवर्तन न होता। जिन फ़सलों के पैदा होने के लिए बहुत पानी की आवश्यकता होती है वे फ़सलें तो तभी पैदा होंगी जब कि बार-बार पानी गिर रहा हो। फिर बरसात में गर्मी ख़ूब रहती है। इससे इन दिनों में वही फ़सल बोई जा सकती है जो उतनी गर्मी को सहन कर सके और उतने पानी में उत्पन्न हो सके। साल में दूसरे समय में वे फ़सलें पैदा होती हैं जिन्हें अधिक पानी की आवश्यकता नहीं रहती और जिनका बहुत कम गर्मी से काम चल जाता है।

भारत में फ़सल के प्रसार के कुछ सिद्धान्तों का वर्णन हम कर चुके। अब हम यह देखेंगे कि इस देश के वे सिद्धांत कहाँ तक अपना असर दिखला रहे हैं। ब्रिटिश भारत के कृषि सम्बन्धादि के अंकों (statistics) को देखने से हमें यह मालूम होता है कि कुछ ही दिन पहिले आवश्यकतानुसार फ़सल का प्रसार होता था और अब भी बहुत से स्थानों में ऐसा ही होता है। प्रत्येक गाँव में जनसाधारण की सभी आवश्यक वस्तुएँ यथा अनाज, कपास, तेल के बीज और गुड़ के लिए गन्ने पैदा कर लिए जाते थे। पर ज़मीन की अवस्था और आबहवा में एक स्थान से दूसरे स्थानों में जो घोर विभिन्नता होती थी उसका असर इन गाँवों में भी पड़ता था। इस प्रकार भिन्न-भिन्न गाँवों में भोजन, तेल, वस्त्रादिक के भिन्न-भिन्न पौदे बोये जाते थे। पुस्तक के अन्त में दी

हुई तालिका संख्या ५ से (जो कि ब्रिटिश भारत के सन् १८९१-१८९२, १८९२-१८९३, १८९३-१८९४ से लेकर १९१४ से १९१७ तक तीन-तीन वर्ष के कृषि सम्बन्धी अंकों (statistics) के औसतन रक़बों के आधार पर बना हुआ है, इस बात का बहुत समर्थन होता है। इस तालिका से यद्यपि हम यह देखते हैं कि पहले तिसाले में जो-जो फ़सलें एक प्रांत में पैदा होती थीं उनमें से कुछ फ़सलें तो १९१४-१९१७ वाले तिसाले के आते तक ग़ायब हो गई हैं और कुछ का रक़बा कम हो गया है। कारण इसका यही है कि उन स्थानों में आने-जाने के सुभीते उत्पन्न होते गये। पर तो भी प्रत्येक प्रान्त में क़रीब-क़रीब सभी फ़सलें पैदा होती हैं। इस सम्बन्ध में हमें निम्नलिखित अंकों पर अवश्य ही ध्यान देना चाहिये। २५ वर्ष के बादः—बंगाल में गेहूँ की उपज १६,०७,००० एकड़ से घटकर १३, ५५, ००० एकड़, गन्ने की उपज ११ लाख एकड़ से घटकर ५, २८,००० और कपास की उपज २,०६, ००० एकड़ से १,५२,००० एकड़ हो गई है। बम्बई में गेहूँ की उपज २३,५६,००० एकड़ से १६,५५,००० एकड़, अलसी की उपज २, ८२,००० एकड़ से १,५१,००० हो गई है। उत्तर-प्रदेश में रागी की उपज ६,५३००० एकड़ से ३,२०,००० एकड़, अलसी ६,१५,००० एकड़ से ३,२५,००० एकड़ रह गई है। पंजाब में ज्वार की उपज २४,६७,००० एकड़ से २२,१५,००० एकड़ रह गई है, और मध्यप्रदेश में गन्ने की उपज ४१,००० एकड़ से २०,००० एकड़ हो गई है।

आने-जाने के सुभीतों में जैसी-जैसी उन्नति होती गई है वैसे-वैसे किसी किसी प्रांत में किसी-किसी फ़सल के उत्पन्न करने में विशेषता आती गई है। पर तालिका संख्या ६ जो कि पुस्तक के अंत में है, यह बतलाती है कि फ़सल उत्पन्न करने की विशेषता अभी "मार्के" की श्रेणी तक नहीं पहुँची है।

इसका मुख्य व असली कारण इस प्रकार है:—

(१) किसानों में शिक्षा का अभाव।

(२) आचरण और व्यवहारों का प्रभाव।

(३) विशेषता की ओर उनकी उदासीनता।

पर जब हम ब्रिटिश भारत के अंकों (statistics) को देखते हैं तो देश के कुछ हिस्सों में किसी-किसी फ़सल के लिये जो-जो स्थान जिस फ़सल के लिये उपयुक्त हैं उनकी विशेषता की ओर लोगों की प्रवृति दिखलाई देती है। इस बात को अच्छी तरह से समझाने के लिये हम प्रत्येक फ़सल की चर्चा न करेंगे। पुस्तक के अंत में दी हुई तालिका संख्या १२ से यह पता लग जाता है कि भारत के गेहूँ की उपज में पंजाब की उपज की तादाद सब से अधिक है और सन् १९०० ई० से उसमें उन्नति ही होती आई है। इस उन्नति के निम्नलिखित कारण हैं—

(१) नहरों की उन्नति सन् १८८७-१९०० में जब दक्षिणी चिनाब की नहर खोली गई थी तब से पंजाब में नहरें बढ़ती में ही हैं।

(२) सिन्ध और कराँची की ओर नार्थ-वेस्टर्न-रेलवे का फैलाव। इस रेलवे के विस्तार से उत्तरी हिन्दुस्तान का पश्चिमी पंजाब और सिन्ध से सम्बन्ध हो गया। इससे विदेशों को गेहूँ भेजने में सुभीता पड़ने लगा। इसी कारण से इस प्रांत में और उत्तर-प्रदेश के पश्चिमी ज़िलों में गेहूँ बोने की ख़ास प्रवृति हो गई। इस प्रवृति को पंजाब और उत्तर-प्रदेश के गेहूँ के रक़बे के बढ़ने से ही नहीं, साथ ही दूसरे प्रांतों में उसके घट जाने से भी बड़ी सहायता मिली है। तालिका संख्या १२ से ये सब बातें साफ़ मालूम हो जाती हैं। सन् १८९३ ई० में भारत में अधिक गेहूँ मध्यप्रदेश और बरार में पैदा होता था और उन्हीं स्थानों में गेहूँ का रक़बा बहुत बढ़ा हुआ था। सन् १८९६ ई० से उन स्थानों का वह रक़बा एक दम घटने लगा। यहाँ तक कि १८९३ वाली तादाद अब तक नहीं पहुँच सकी और वह रक़बा सदैव घटता ही गया। इस

घटती की पूर्ति उत्तर-प्रदेश और पंजाब की गेहूँ की उपज से हुई क्योंकि सन् १६०० ई० के बाद से इन दोनों प्रांतों में गेहूँ के रक़बे की तादाद बढ़ती ही गई है।

इसी तरह तालिका संख्या १३ से यह पता लगता है कि सन् १६०० ई० से आगे मध्यप्रदेश, बरार और बम्बई प्रांत में कपास का रक़बा बढ़ता जा रहा है। इससे यह कहा जा सकता है कि इन प्रांतों की गेहूँ की खेती में जो हानि हुई है उस हानि की पूर्ति इनकी कपास की खेती से हो गई है और भारत की गेहूँ की उपज में इन प्रांतों से जो कमी पड़ गई है उस कमी की पूर्ति पंजाब और उत्तर प्रदेश की उपज से हो गई है। फ़सल उत्पन्न करने में विशेषता हासिल करने का निम्न-लिखित बातों से भी समर्थन होता है। भारत के किसी भी प्रांत की कुल फ़सलों की जो तादाद है उस तादाद में उस प्रांत के एक फ़सल की तादाद तो बढ़ रही है और दूसरे की घट रही है। इस बात को भी समझाने के लिये उन्हीं प्रांतों और उन्हीं फ़सलों की चर्चा करेंगे जिनका वर्णन एक बार हो चुका है। तालिका संख्या ७, ८, ९, १० से यह पता लग जाता है कि उत्तरप्रदेश तथा पंजाब में कुल फ़सलों की तादाद में गेहूँ की तादाद प्रतिशत और फ़सलों से अधिक बढ़ रही है। इसी प्रकार मध्य-प्रदेश और बरार तथा बम्बई में और फ़सलों की अपेक्षा कपास की तादाद प्रतिशत अधिक बढ़ रही है। इन बातों को देखकर यह कह सकते हैं कि जब आने-जाने के सुभीते अच्छे नहीं थे तब भी भिन्न-भिन्न स्थानों की ज़मीन और आबहवा के अनुसार उन स्थानों में फ़सल पैदा करने में विशेषता आ गई थी। पर साथ ही प्रत्येक स्थानों में वहाँ की आवश्य-कतानुसार भोजन वस्त्र की सभी आवश्यक सामग्रियाँ उत्पन्न कर ली जाती थीं। अब इस प्रकार की स्वावलम्बी आर्थिक दशा में परिवर्तन हो रहा है और दूसरे ही आधारों पर विशेषता प्राप्त की जा रही है।

हमें अब यह तो मालूम हो गया कि भारत में फ़सल उत्पन्न करने

में विशेषता आती जा रही है यद्यपि यह योग्यता धीरे-धीरे प्राप्त की जा रही है। अब हम यह विचार करेंगे कि इस विशेषता का आधार क्या है। भिन्न-भिन्न स्थानों की भिन्न-भिन्न फ़सलों की उपज औसत दर के तुलनात्मक विचार करने से तथा उन-उन स्थानों में खेती की ज़मीन के विस्तार पर ध्यान देने से यह प्रकट होता है कि जिन प्रांतों में प्रति एकड़ ज़िस फ़सल की उपज सबसे अधिक होती है उनको छोड़कर भी अन्य प्रान्तों में उस फ़सल की खेती बढ़ रही है जैसा कि तालिका संख्या ११ से मालूम होता है। साधारण तौर से यही कहा जावेगा कि जिस स्थान में जिस फ़सल की उपज प्रति एकड़ सब से अधिक होगी उसी स्थान में उस फ़सल की खेती अधिक की जावेगी। पर बहुधा इसके विपरीत होता है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। यह सदैव ध्यान रखना चाहिये कि एक स्थान में किसी फ़सल की खेती करना केवल इसी बात पर निर्भर नहीं है कि उस स्थान में उस फ़सल की उपज सबसे अधिक होती है। इसके निश्चय करने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि प्रति एकड़ पीछे कितनी उपज होती है। प्रति एकड़ उपज पीछे कितना ख़र्च पड़ता है और उस उपज का बाज़ार में क्या दाम मिलता है—इन तीनों बातों को मिला कर यह देख लेना चाहिए कि उस उपज से कितने रुपये मिलते हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों की भिन्न-भिन्न उपज के इस तुलनात्मक विचार करने से यह मालूम हो जाता है कि कौन सा स्थान किस फ़सल के लिए सब से अधिक उपयुक्त है। इन नियमों के आधार पर फ़सल के प्रसार करने को व्यावसायिक प्रसार कहते हैं। इसको हम आर्थिक कहें तो अत्युक्ति न होगी। तालिका संख्या ५ के देखने से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि अब फ़सलों का प्रसार व्यावसायिक सिद्धान्तों के अनुसार होता है। इस तालिका में हम देखते हैं कि भारत की कुछ फ़सलों का रक़बा तो पूर्ववत् ही है, कुछ का परिमाण बहुत बढ़ गया है व कुछ फ़सलों का परिमाण पहले से घट गया है क्योंकि ऐसी फ़सलें सस्ते दामों में

विदेशों से आ जाती हैं। दूसरे प्रकार की फसलों के उदाहरण कपास, जूट, सरसों, तिल और चाय हैं। तीसरे प्रकार की फ़सलों का उदाहरण गन्ना है।

एक ही वर्ष के गेहूँ के भाव का सम्बन्ध गेहूँ की खेती के रक़बे से तथा कपास का सम्बन्ध कपास की खेती के रक़बे से जो दिखलाई पड़ता है, वह सम्बन्ध भी मार्के की बात है। जिस वर्ष उपज का दाम अधिक होता है उस वर्ष से एक या दो वर्ष पहले उस उपज का रक़बा कम पाया जाता है। इस प्रकार गेहूँ के रक़बे के एक साल कम हो जाने पर दूसरे साल उसका भाव बढ़ जाना हिंदुस्तान के लिए स्वाभाविक बात है। क्योंकि यदि गर्मी के महीनों में यथेष्ट पानी न गिरा तो गेहूँ की उपज जो कि शीतकाल में होती है, घट जावेगी और इसके अगले साल उसका दाम बहुत बढ़ जावेगा। उपज के भाव तथा उसके रक़बे के इस घने सम्बन्ध को देखकर हम यह कह सकते हैं कि उपज के भाव का उस उपज के रक़बे की तादाद पर असर नहीं पड़ता। पर खेती के रक़बे तथा उस रक़बे की उपज के परिमाण का असर उसके भाव पर पड़ता है। दो-तीन वर्षों के नतीजे को देख लेने से तो हमारा उपरोक्त कथन अवश्य ही सत्य मालूम होता है। पर यदि लगातार २५-३० वर्षों की उपज, उसके भाव, उसके रक़बे आदि पर ध्यान दें तो मालूम हो जावेगा कि उपज के भाव का भी असर उसकी खेती के रक़बे पर पड़ता है। सन् १६०० ई० से हिंदुस्तान में गेहूँ का भाव बढ़ना आरम्भ हो गया। उसी साल के बाद से उसके खेत के रक़बे भी पंजाब, उत्तरप्रदेश तथा मध्यभारत में बढ़ने प्रारम्भ हो गये। यही बात जूट और कपास के विषय में भी सत्य है। इस कथन का समर्थन इस बात से भी होता है कि ज्वार, बाजरा, जौ, चना आदि जैसी अव्यावसायिक फ़सलों की फ़ी सदी उपज कुल फ़सल की उपज के हिसाब से लगभग पूर्ववत् ही है। ऊपर की बातें तालिका संख्या ५ से साफ़ प्रगट हो जाती हैं। इन सब कथोपकथन के बाद हम इस नतीजे

पर पहुँच सकते हैं कि हिन्दुस्तानी किसान को फ़सल के व्यावसायिक प्रसार का महत्व मालूम है और वह उससे पूरा लाभ उठाने के लिए तैयार है। हम इस नतीजे पर भी अब आ सकते हैं कि दो-तीन वर्षों की खेती के रक़बे का असर उस रक़बे की उपज के भाव पर पड़ता है। पर एक काफी समय की उपज तथा उसके रक़बे और उसके भाव की ओर ध्यान देने से यह अच्छी तरह से कहा जा सकता है कि उपज का भाव ही यह निश्चय करता है कि उपज के लिए कितनी ज़मीन की आवश्यकता है। जिस उपज का दाम देश के भीतर और बाहर बढ़ा हुआ होता है उसकी खेती का रक़बा भी बढ़ा हुआ रहता है। इससे यह मालूम होता है कि हिन्दुस्तान में अब खेती धीरे-धीरे व्यावसायिक या आर्थिक सिद्धान्तों पर हो रही है।

———

सोलहवाँ अध्याय

किसान के खेतों में फ़सलों का हेर-फेर

पाश्चात्य देशों में बहुधा किसान अपने खेतों के तीन भाग कर लेता है। प्रति वर्ष वह एक भाग में तो कोई मुख्य फ़सल बोता है, दूसरे भाग में जानवरों का चारा बोता है, और तीसरे को परती छोड़ देता है। दूसरी मुख्य फ़सल तो उस भाग में बोता है जिसे पहले वर्ष उसने परती छोड़ दिया था। जिसमें पहले वर्ष मुख्य फ़सल बोई गई थी उसमें दूसरे वर्ष चारा बोता है तथा पहले वर्ष के चारे वाले भाग को दूसरे वर्ष परती छोड़ देता है। तीसरे चौथे तथा प्रत्येक आगामी वर्ष वह अपनी खेत के तीनों हिस्सों में इसी क्रम के अनुसार बदल कर बोता जाता है। इस प्रकार तीन वर्ष में खेत का प्रत्येक भाग एक बार परती पड़ जाता है।

कुछ वर्ष पहले कुछ विदेशी ग्रन्थकारों का मत था कि भारतीय किसान फ़सल के इस हेर-फेर की प्रथा का अनुकरण नहीं करते। पर अब शिक्षित लोगों का यह ख़्याल नहीं रहा। लोगों में यह धारणा, कि भारतीय किसान फ़सलों की हेर-फेर की प्रथा से अपरचित थे, इसलिए हो गई थी कि हिन्दुस्तान में साल भर में दो फ़सलें रबी और खरीफ़ ही होती । फिर हिन्दुस्तानी किसान इस विषय में पाश्चात्य देशों की प्रथा के अनुसार नहीं चलता। इसके सिवाय हमारी खेती बारी का संगठन मनुष्यों की आवश्यकता के अनुसार हुआ है। इससे एक किसान कई फ़सलें बोता है जिसके कारण यहाँ की फ़सलों की चाक्रिक-प्रथा अधिक जटिल हो जाती है। वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से फ़सल की इस

चाक्रिक प्रथा की ओर देखने से यह ज्ञात होता है कि उस प्रथा का एक प्रधान उद्देश्य है—जो तीन सिद्धान्तों पर निर्भर है।*

पहला

पहला सिद्धान्त तो नियमित समय के बाद प्रत्येक ज़मीन को आराम देना है। जिस प्रकार अधिक परिश्रम कर लेने के बाद कुछ आराम कर लेने से मनुष्य फिर आगामी परिश्रम के लिये उत्साह के साथ तैयार हो जाता है उसी प्रकार ज़मीन को भी कुछ दिनों के लिये आराम देने से उसकी उपजशक्ति पूर्ववत् हो जाती है।

दूसरा

दूसरा सिद्धान्त इस प्रकार है। मान लीजिये कि एक खेत में एक बार गेहूँ बोया गया। प्रत्येक ज़मीन में एक ही साथ बहुत से रासायनिक तत्व रहते हैं। भिन्न-भिन्न पौधों को भिन्न-भिन्न तत्वों की आवश्यकता होती है। अब जिस ज़मीन में गेहूँ बोया गया है उस ज़मीन का गेहूँ वाला रासायनिक तत्व उस फ़सल के साथ निकल जाता है।

इस प्रकार उस ज़मीन से एक तत्व तो निकल जाता है और दूसरे तत्व रह जाते हैं जिससे उस ज़मीन की गेहूँ के लायक़ उपजशक्ति डाँवा-डोल हो जाती है। इस विभिन्नता को दो प्रकार से दूर कर सकते हैं। या तो उस ज़मीन द्वारा फिर से वही तत्व भर दें जिससे उसके सारे रासायनिक तत्व बराबर-बराबर हो जावें। अथवा उस ज़मीन में गेहूँ के सिवाय कोई दूसरी ऐसी फ़सल बो दें जो कि उसमें के अधिक परिमाण में बचे हुए तत्वों को खींचकर सारे तत्वों के परिमाण को एक दूसरे के बराबर कर दें। (फ़सल की चाक्रिक प्रथा से इसी प्रकार ज़मीन का उपजाऊपन पूर्ववत् हो जाता है। तीसरा सिद्धान्त या उद्देश्य इस

---

*उद्देश्य यह है कि ज़मीन की उपज-शक्ति डावांडोल न होने पावे।

चाक्रिक प्रथा का यह है कि मुख्य फ़सल के बाद उसी खेत में ऐसे बैक्टीरिया वाली फ़सल को बो देना चाहिए जो बैक्टीरिया हवा में से नोषजन (Nitrogen) को लेकर नोषेत (Nitrate) बना देते हैं।

किसान व्यवहार में जिस प्रकार फ़सलों की चाक्रिक प्रथा को काम में लाता है उसके एक दो उदाहरण लेकर अब हम यह देखेंगे कि वे इन वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर निर्भर हैं या नहीं। हम यह कह चुके हैं कि हिन्दुस्तान के फ़सली साल के खरीफ़ और रब्बी नामक दो भाग होते हैं। इससे हिंन्दुस्तानी किसान अपने खेतों के दो भाग करता है। एक भाग में तो ख़रीफ़ और दूसरे भाग में रबी बोता है। नीचे जो उदाहरण देते हैं वह हिंन्दुस्तान के ऐसे हिस्से में लागू होगा जहाँ कि बहुधा ज्वार, बाजरा, मक्का, गेहूँ, जौ तथा चना पैदा हो सकते हैं।* सुभीते के लिये किसी एक वर्ष से हम अपना उदाहरण आरंभ करते हैं। मान लीजिए कि किसी किसान के पास केवल दस एकड़ ज़मीन है। उसमें से खरीफ़ और रबी के लिए लगभग पाँच-पाँच एकड़ के दो भाग करता है। उस दस एकड़ के प्रत्येक एकड़ में सम्वत् १९८९ से लेकर प्रति वर्ष खरीफ़ और रबी में क्रमशः निम्न तालिका के अनुसार फ़सल की बोआई में और परती छोड़ने में हेर-फेर होता जाता है—

वर्ष	ख़रीफ		रबी	
संवत्	खेत नम्बर	फ़सल	खेत नम्बर	फ़सल
१९८९	१, २	अरहर	१, २	अरहर
	३, ४, ५, ६	ज्वार, बाजरा इत्यादि	३, ४, ४, ५	मटर, चना, बेर्रा
	७, ८, ९, १०	परती	७, ८, ९, १०	गेहूँ

* जैसे इलाहाबाद, प्रतापगढ़, कानपुर, तथा फर्रूख़ाबाद के जिले।

१९८७	३, ४,	अरहर	१, २	गेहूँ
	१, २, ५, ६	परती	३, ४	अरहर
	७, ८, ९, १०	ज्वार, बाजरा, इत्यादि.	५, ६	गेहूँ
			७, ८, ९, १०	मटर, चना, बेर्रा इत्यादि
९८८	५, ६	अरहर	५, ६	अरहर
	३, ४, ७, ८	परती	३, ४, ७, ८	गेहूँ
	१, २, ९, १०	ज्वार, बाजरा, इत्यादि.	१, २, ९, १०	मटर, चना, बेर्रा.
१९८९	७, ८	अरहर	७, ८	अरहर
	१, २, ५, ६	परती	१, २, ५, ६	गेहूँ
	३, ४, ९, १०	ज्वार, बाजरा, इत्यादि.	३, ४, ९, १०	मटर, चना बेर्रा, इत्यादि
१९९०	९, १०	अरहर	९, १०	अरहर
	३, ४, ७, ८	परती	३, ४, ७, ८	गेहूँ
	१, २, ५, ६	ज्वार, बाजरा, इत्यादि.	१, २, ५, ६	चना, मटर बेर्रा, इत्यादि
१९९१	१, २	अरहर	१, २	अरहर
	७, ८, ९, १०	परती	३, ४, ५, ६	मटर, चना बेर्रा
	३, ४, ५, ६	ज्वार, बाजरा, इत्यादि.	७, ८, ९, १०	गेहूँ

ऊपर की तालिका में हम यह देखते हैं कि खेत का प्रत्येक भाग पाँच वर्षों में एक बार अवश्य ही परती छोड़ दिया जाता है। इसी प्रकार हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों में जहाँ कपास या धान बोया जाता है

वहाँ उसी स्थान के अनुकूल फसलों की चाक्रिक प्रथा काम में लाई जाती है। अनावश्यक विस्तार के भय से अन्यान्य स्थानों की चाक्रिक प्रथा का वर्णन यहाँ नहीं करते हैं। आशा है कि हमारे चतुर पाठकगण इस एक उदाहरण से ही इसका तात्पर्य समझ जावेंगे। हमारे देश की इस प्रथा में हम केवल यही दोष निकाल सकते हैं कि चारे के लिये किसी खेत का यथोचित भाग नहीं छोड़ा जाता। इस कमी का केवल यही कारण मालूम होता है कि हमारी खेतीबारी प्राचीन 'स्वावलम्बी' प्रथा के आधार पर संगठित है जब कि प्रत्येक किसान के पास काफी ज़मीन रहती थी और उसे चारागाह भी काफी मिल जाया करता था। पर अब अवस्थाएँ बदल गई हैं। घनी आबादी के पास चारागाह रह नहीं गये। जानवरों को धान के सूखे प्याल या ज्वार बाजरा की सूखी पत्तियाँ खाने को मिलती हैं। हरा भोजन तो उन्हें केवल तभी प्राप्त होता है जब कि ये फसलें खेत में लगी रहती हैं। इसलिए फसलों की चाक्रिक प्रथा को इस प्रकार चला देने की बड़ी आवश्यकता है जिससे कि प्रतिवर्ष जानवरों के लिये कुछ चारागाह छूट जाया करे। इस दोष को दूर करने के लिये पंजाब के कृषि विभाग ने वहाँ के नहर उपनिवेशों में फसल की एक प्रकार की चाक्रिक प्रथा चलाई है जो वहाँ बहुत काम में लाई जाती है। जिस प्रकार हमारी चाक्रिक प्रथा में चक्र का केन्द्र बैक्टीरिया वाली कोई फसल जैसे ऊपर दी हुई तालिका में पहले वर्ष की अरहर बना दी गई है उसी प्रकार पंजाब के नहर-उपनिवेशों में जिसकी तालिका नीचे दे रहे हैं, कोई चारे की फसल जैसे लूसर्न (Lucerne) रिज़्का घास या बारसीम घास बो दी जाती है।

इन उपनिवेशों में हर खेत में कुल २५ एकड़ ज़मीन है और अढ़ाई-अढ़ाई एकड़ के दस टुकड़े किये गये हैं। इन दस टुकड़ों के नाम ये हैं—अ, ब, स, ड, क, ख, ग, घ, च, छ—इन उपनिवेशों में प्रत्येक ज़मीन प्रायः चौकोर होती है। उसे क़िला कहते हैं। एक किले में २५

एकड़ ज़मीन होती है। एक क़िले को किसान निम्न प्रकार से दस हिस्सों में बाँट देता है—

क़िला

अ

ब

स

ड

क

ख

ग

घ

च

छ

अब नीचे उन उपनिवेशों की फसलों की चाक्रिक प्रथा का ब्यौरा देते हैं—

वर्ष संख्या	खरीफ		रबी	
	खेतों के नाम	फ़सल	खेतों के नाम	फ़सल
१	अ, ब, स	कपास, मक्का इत्यादि।	ग, घ, च, छ,	गेहूँ इत्यादि

वर्ष संख्या	खरीफ़		रबी	
	खेतों के नाम	फ़सल	खेतों के नाम	फ़सल
	ङ	चारा		
	क, ख,	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		
२	ङ, क, ख,	कपास	अ, ब, स, छ	गेहूँ
	ग	चारा		
	घ, च	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		
३	ग, घ, च	कपास	ङ, क, ख, अ	गेहूँ
	छ	चारा		
	ब, स	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		
४	छ, ब, स	कपास	ग, घ, च, ङ	गेहूँ
	अ	चारा		इत्यादि
	ख, क	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		
५	अ, क, ख,	कपास		
	ङ	चारा	छ, ब, स, ग	गेहूँ
	च, घ	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		
६	ङ, च, घ	कपास		
	ग	चारा	अ, क, ख, छ	गेहूँ
	ब, स	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		

वर्ष संख्या	खरीफ		रबी	
	खेतों के नाम	फ़सल	खेतों के नाम	फ़सल
७	ग, ब, स	कपास		
	छ	चारा	ङ, च, छ, अ	गेहूँ
	क, ख	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		
८	क, ख, छ	कपास	ब, स, ङ, ग	गेहूँ इत्यादि
	अ	चारा		
	च, छ	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		
९	अ, घ, च	कपास		
	ङ	चारा	क, ख, ग, छ	गेहूँ इत्यादि
	ब, स	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		
१०	ब, स, ङ	कपास	अ, घ, च, छ	गेहूँ इत्यादि
	ग	चारा		
	क, ख	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		
११	क, ख, ग	कपास	अ, ब, स, ङ	गेहूँ इत्यादि
	छ	चारा		
	घ, च	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		
१२	घ, च, छ	कपास	ङ, क, ख, ग	गेहूँ
	अ	चारा		
	ब, स	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		

वर्ष संख्या	खरीफ़		रबी	
	खेतों के नाम	फ़सल	खेतों के नाम	फ़सल
१३	अ, ब, स	कपास	ग, घ, च, छ	गेहूँ
	ड	चारा		
	क, ख	तोरिया १ एकड़		
		परती ४ एकड़		

इसी प्रकार हिन्दुस्तान के अन्य भागों में भी जहाँ चारागाह नहीं होते, फ़सलों की चाक्रिक प्रथा ऐसी चलानी चाहिए ताकि कुछ न कुछ ज़मीन पर प्रति वर्ष चारे की फ़सलें बोई जावें। जानवर ही यहाँ के धन हैं। इन्हें बिना भर पेट खिलाये हमारी खेती में कभी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। स्मरण रहे कि पीछे कहा जा चुका है कि हिन्दुस्तान जैसे ग़रीब देश के सर्वसाधारण किसानों में बैलों को हटा कर सदैव यंत्र द्वारा काम लेने की यथोचित शक्ति नहीं है।

ऊपर हम कह चुके हैं कि हिन्दुस्तानी किसान फ़सल की चाक्रिक प्रथा को तथा उससे होने वाले लाभों को भलीभाँति जानता है। पर हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इस प्रथा का अनुकरण प्रत्येक किसान नहीं करता है। यह विशेषकर दो प्रकार के किसानों के विषय में सर्वथा सत्य है। एक तो वे किसान जो पूर्वी बंगाल जैसी घनी आबादी में तथा बम्बई और बरार के कपास के खेतों के पास रहते हैं। ये स्थान ऐसे हैं जहाँ जूट तथा कपास जैसी व्यावसायिक फ़सलें बोई जाती हैं। इन स्थानों में किसानों की आदत यह है कि वे प्रति वर्ष अपने खेतों में वही फ़सल बोया करते हैं व खेतों की उपज शक्ति को खाद डाल-डाल कर नई करते जाते हैं। इस प्रथा के अनुकरण न करने वाले वे किसान हैं जिनके खेत २-३ एकड़ से ज्यादा नहीं होते क्योंकि वे गरीब किसान उतने छोटे खेतों में से कोई टुकड़ी परती नहीं छोड़ सकते। इस दोष का परिणाम यह होता है कि उपज कम होती जाती है विशेषकर गंगा-

जमुना के दोआबा में यह परिणाम साफ़ मालूम होता है। पर हाँ, बंगाल में इसका कोई ख़ास असर नहीं पड़ता क्योंकि वहाँ की ज़मीनों में ऊपर की ओर से बहती हुई नदियों के साथ ज़मीन की उपजशक्ति को बढ़ाने वाले बहुत से तत्व बह कर वहाँ एकत्रित हो जाते हैं। यदि हम चाहते हैं कि हमारी ज़मीन में से उपज शक्ति का सदैव नाश न हो जाया करे तो हमें चाहिए कि भिन्न-भिन्न स्थानों में फ़सलों के उचित प्रकार की चाक्रिक प्रथा के अनुकरण करने के लिए किसानों को उत्साहित करें।

सत्रहवाँ अध्याय

खेती के लिए हानिकारक रोग तथा जीवजंतुओं से फ़सल की रक्षा

भारत में कृषि-सुधार के सम्बन्ध में एक आवश्यक समस्या यह भी है कि कीड़े मकोड़े तथा फ़सलों की अन्य बीमारियों से उनकी रक्षा कैसे करनी चाहिये। विदेशों से आये हुये ऐसे कीट पतंगों से तथा रोगों से यहाँ की फ़सल की रक्षा करने के लिये भारत सरकार ने एक कानून बना दिया है। इसे The Destructive Insects and Pests Act. II of 1914 यानी सन् १९१४ ई० का कीट-पतंग तथा रोगनिवारण एक्ट २, कहते हैं। इस क़ानून के द्वारा बाहर से आये हुए ऐसे तत्वों की जाँच बन्दरगाहों में होती है जिनके साथ हिंदुस्तान के पौधों को नाश करने वाली बीमारियाँ आती हैं। यदि उन पदार्थों में ऐसे कोई हानि-कारक कीट पतंग पाये गये तो उन्हें देश में भेजने के पहिले वहाँ ही दवाइयों में भिगोकर मार डालते हैं। इनके सिवाय कृषिविनाशक अने-कानेक कीटपतंग तथा बीमारियाँ देश में ही वर्तमान हैं जिनसे किसानों की तथा वस्तुत: सारे देश की बहुत हानि होती है। अब हम कुछ ऐसे कीड़ों, बीमारियों तथा अन्य शत्रुओं का वर्णन करेंगे और उनसे छुटकारा पाने के भी कुछ उपायों का वर्णन करेंगे।

यदि खेत जंगलों के आस-पास हुए तो उन्हें जंगली सुअर, लोमड़ी, सियार, नीलगाय, तथा हिरन आदि का भय रहता है। जंगली सुअर गन्ना, आलू, ज्वार आदि को सत्यानाश कर डालते हैं। नीलगाय तथा

हिरन ज्वार बाजरा या धान को खा जाते हैं। सियार और लोमड़ी को तो गन्ना बड़ी प्यारी चीज़ मालूम होती है। इनसे खेती को बचाने के लिए यदि किसान रात को पहरा दे तो कभी उसी का प्राण संकट में रहता है। बहुधा देखा गया है कि जंगली जानवरों को भगा देने के लिए किसान लोग खेतों में टीन बाँध देते हैं जिसकी आवाज़ से हिरन, सियार और लोमड़ी जैसे दब्बू जानवर भाग जाया करते हैं। कोई-कोई बाँस गाड़ कर उसे कुरता पहना कर आदमी की सूरत बना देते हैं। इसके सिवा खेतों में शिकारी कुत्ते पालने से भी फ़ायदा होगा। ये आये हुए जानवरों को डराकर एक बार भगा ही न देंगे वरन् आगे के लिये उन्हें अच्छी शिक्षा दे देंगे।

अगर खेत गाँव के पास हों तो फ़सल को चूहे बर्बाद करते हैं। इनके सिवा चाहे खेत गाँव के पास हों या जंगल के, फ़ाख़ता, तोता, गौरैया, चमगादड़ आदि जैसी बहुत सी चिड़ियाँ हैं जो फ़सल को खा जाती हैं। इनके उपद्रवों को भी खेतों में टीन बाँध कर या आदमी की मूर्ति बनाकर दूर कर सकते हैं।

वास्तव में इन सबों से फ़सलों को बचाना कोई अधिक कठिन काम नहीं है। पर हमारे इस अध्याय का जो विषय है वह कीड़ों तथा पौधों की अन्य बीमारियों से बचाना है जिनसे फ़सलों को बहुत हानि होती है। इन विपत्तियों को दूर करना आसान नहीं। टिड्डी, तितली कनकटे (Grass-hopper) आदि नाना प्रकार के कीड़े ऐसे होते हैं जो किसानों के साथ शत्रु का काम करते हैं। एक दो या दस बीस हिरन, नीलगाय या सियार आदि हों तो उन्हें सहज में भगा सकते हैं। पर जब हज़ारों और लाखों की तादाद में टिड्डियाँ खेतों पर आक्रमण करती हैं जिन्हें टीन की आवाज़ या आदमी की मूर्ति डरा नहीं सकती, तब तो किसानों को रोना आ जाता है और मज़ा तो यह कि ये कीड़े बरसात में ही अधिकतर पैदा होते हैं जब कि खेतों में तरह-तरह की फ़सलें

लहलहाती हुई नज़र आती हैं। दीमक भी किस प्रकार चीज़ों को नुक़्सान पहुँचाती है यह लोगों को मालूम ही है। इसकी पहुँच फ़सलों की जड़ तक रहती है।

पर परमेश्वर ने किसानों को यहाँ बिल्कुल निस्सहाय नहीं कर दिया है। उनमें केवल उद्योगशक्ति चाहिये। निराशावादियों के लिये संसार के किसी कोने में किसी व्यापार में स्थान नहीं है। अब हम कुछ ऐसे उपायों का वर्णन करेंगे जिनसे हम कीटजगत् से फ़सलों की बहुत कुछ रक्षा कर सकते हैं। कुछ ऐसी भी चिड़ियाँ होती हैं जो इन कीड़ों को खा जाती हैं। ऐसी चिड़ियों के नाम ये हैं :—किलनहटी या गलगलिया, कठफोरवा, नीलकंठ, हुदहुद, तीतर, मुर्ग़ी, मैना इत्यादि। किसानों को चाहिये कि जो इनमें से घरेलू चिड़िया हो जैसे तीतर, मुर्ग़ी, मैंने, उन्हें खेती के काम के लिए ज़रूर पाला करें जो कि उन कीड़ों को खा जाया करेंगी।

फ़सलों की चाक्रिक प्रथा से एक फ़ायदा इस विषय में भी होता है। कई प्रकार के कीड़े ऐसे होते हैं जो एक विशेष प्रकार की फ़सल पर रहते हैं और दूसरे प्रकार की नहीं। मान लीजिये कि आपने एक वर्ष "अ" खेत में एक प्रकार की फ़सल बोई और "ब" खेत में दूसरी प्रकार की फ़सल बोई। दोनों खेतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के कीड़े आवेंगे। अब यदि आप दूसरे वर्ष उन खेतों में फ़सलों को बदल देवें तो, उन कीड़ों को अपने-अपने खेतों में दूसरी-दूसरी फ़सलें मिलेंगी जिन पर कि वे ज़िन्दा नहीं रह सकते। और यह भी सम्भव है कि दूसरी फ़सल के कीड़े ऐसे हों कि उनमें और पहले के कीड़ों में शत्रुता हो तो वह पहली फ़सल के कीड़ों को खा जावेंगे। इससे वे मर जावेंगे और फ़सल बच जावेगी। हम जानते ही हैं कि फ़सल के बाद भी बहुत से कीड़े-मकोड़े इस ज़मीन के भीतर छिपे रहते हैं। इससे खेत जब जोता जावेगा और उसके नीचे की मिट्टी ऊपर उठ आवेगी तो उसमें के कीड़े जो पहले नीचे थे, धूप हवा

और रोशनी से मर जावेंगे। इससे कृषि को कीड़ों से बचाने में जोताई से बहुत लाभ होता है। जितनी गहरी जोताई हो उतना ही अच्छा है। क्योंकि उतने ही नीचे के कीड़े ऊपर आकर मर जावेंगे।

इसके सिवाय खेतों में धुआँ कर देने से भी उसमें के कीड़े मर जाते हैं। पर स्मरण रहे कि धुआँ ऐसा न किया जावे जिससे कि पौधे मुरझा जावें।

परवाना और शमा की मुहब्बत की बात सभी लोगों पर प्रगट है। इससे यदि खेतों में रोशनी कर दी जावे तो उस पर कीड़े टूट पड़ेंगे और मारे प्रेम के अपना जीवन उस शमा पर अर्पण कर देंगे। इससे खेतों की फ़सल की रक्षा भी होगी।

इन उपायों के सिवाय एक दो प्रकार की कुछ दवाइयाँ भी होती हैं जिनका खेतों में उपयोग करने से वहाँ के कीड़े मर जाते हैं।

(१) कपड़ा धोने का विलायती साबुन १ सेर लेकर उसे १० सेर पानी में ख़ूब उबालें। जब वह साबुन उस पानी में ख़ूब मिल जावे तो उसे उठा करके उसमें २० सेर मिट्टी का तेल डाल कर उसे ख़ूब मथ डालें। बस नाशक दवा तैयार हो गई। इस दवा का एक हिस्सा आठ हिस्से पानी में मिलाकर खेतों में जहाँ-जहाँ कीड़े हों वहाँ-वहाँ छिड़क दिया जावे तो इससे कीड़े तो मर जावेंगे पर पौधों का कोई नुक़सान न होगा।

(२) एक हिस्से तम्बाकू को उसके दस गुने पानी में दिन भर भिगों रक्खो। फिर जितनी तम्बाकू रही हो उसका चौथाई साबुन उसमें छोड़ दो। यह दूसरी दवा बन गई। इस दवा का हिस्सा सात हिस्से पानी में मिलाकर खेतों में छिड़कने से कीड़े मर जाते हैं। पौधे के बीज को बोने से पहले गोमूत्र में भिगोकर गंधक और तूतिया के पानी में तर करके सुखा देने से सब पौधों में कीड़े-मकोड़े नहीं लगने पाते।

(३) नीम की खली को पानी में मिलाकर छिड़कने से बहुत से कीड़े (ख़ासकर दीमक) मर जाते हैं।

(४) एक घड़े गोमूत्र में एक छटाँक हरा थोथा मिलावे। इस पानी में बीज को भिगोकर सुखा देवे। इस बीज के पौधों में दीमक नहीं लगती। या जिस रास्ते से खेत में पानी आता हो उस रास्ते से मदार के पौधे या तूतिया कपड़े में बाँध कर छोड़ दे। इस पर से आये हुये पानी के प्रभाव से दीमक मर जाती है।

(५) तीन सेर नीले थोथे की पोटरी बनाकर २५ घड़े पानी में छोड़ दे। उसके धुल जाने पर दवा तैयार हो जावेगी। इसके छिड़काव से कीड़े और ख़ासकर आलू के कीड़े मर जाते हैं।

(६) आठ हिस्सा दूध के साथ एक हिस्सा मिट्टी का तेल मिलाकर उसे पौधों पर छोड़ने से कीड़े मर जाते हैं।

यह तो कीड़ों का वर्णन हुआ। इसी प्रकार पौधों की एक प्रकार की बीमारी का भी सामना करना पड़ता है। पौधों की इस बीमारी को अंगरेज़ी में फ़ंगस (fungus) कहते हैं। यह एक प्रकार की काई सी होती है जो बहुधा पौधों के ऊपर जम जाती है। इससे पौधे पीले पड़ जाते हैं तथा उनमें के दाने बड़े कमज़ोर हो जाते है। यों तो मनुष्य के रोगों की तरह इन रोगों की भी दवायें होती हैं, पर सब से उत्तम तो यही होगी कि ये पौधे जड़ से उखाड़ कर जला दिये जाँय जिसमें यह रोग फैलने न पावे क्योंकि यह बड़ा संक्रामक होता है। इसके, भिन्न-भिन्न पौधों पर भिन्न-भिन्न रंग में प्रगट होने के अनुसार, भिन्न-भिन्न नाम होते हैं—जैसे लाल रंग के फ़ंगस को गिरुवा, काले को कुंड़ुवा तथा कत्थई रंग के फ़ंगस को लवाही कहते हैं। इस फ़ंगस के लिए तथा कुछ कीड़ों के नाश करने के लिए हम यहाँ पर कुछ साधारण सस्ती दवाइयाँ भी लिख देते हैं।

(१) चूना एक सेर, दो सेर गंधक, दोनों मिलाकर दस सेर पानी

में दो घंटे उबाल कर रख लो। इसका एक सेर, पन्द्रह सेर पानी में मिलाकर खेतों में छिड़क दो।

(२) ताज़ा काजल खेतों में छोड़ दो।

(३) अढ़ाई पाव साबुन-सादा को एक तोला नेपथलीन मिलाकर डेढ़ पाव पानी में नेपथलीन के गलने तक उबाल लो। फिर उसमें एक पाव मिट्टी का तेल खूब मिला दो। इस दवा का एक हिस्सा सौ हिस्से पानी में मिला कर खेतों में छिड़क दो। कीड़े व फ़ंगस नाश हो जावेंगे।

गोबर और चूने की मिली हुई खाद डालने से भी इस रोग का नाश हो जाता है। जिस साल जिस खेत के पौधों में लाल रंग का फ़ुंगस लगे उस साल के बाद उस खेत में गेहूँ न बोना चाहिए। मक्का व ज्वार बोने से इस बीमारी का अंश जाता रहता है।

जिस प्रकार मनुष्यदेह की बड़ी सफ़ाई और निगरानी की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार फ़सल को भी निरोग और पुष्ट रखने के लिए बड़ी भारी निगरानी और परवाह की आवश्यकता होती है। खेती में बहुत-सी बीमारियाँ व अन्य हानि-कारक दोष हमारे ही आलस्य के कारण होते हैं। इससे किसान को सदैव पौधों की निरख-परख करते रहना चाहिए। रोग और शत्रु को आरम्भ में ही बलहीन कर देना चाहिए नहीं तो अन्त में उन्हीं का शिकार होना पड़ता है।

अठारहवाँ अध्याय

पैदावार का विनियोग

जब फ़सल पैदा हो जाती है तो फिर उसकी उपज इस प्रकार ख़र्च में आती है—बहुधा खलिहान में ही उपज का एक हिस्सा गाँव के नौकर चाकर यथा धोबी, बढ़ई, लोहार आदि को प्रथा के अनुसार दे दिया जाता है। उसके बाद जो बच जाता है उसमें से साहूकार या महाजन के उधार रुपये या अनाज के सूद के साथ चुकता किया जाता है। जैसा कि हम नवें अध्याय में लिख आये हैं बहुत से किसानों की उपज की बिक्री गाँव के साहूकारों के ज़रिये होती है। पर कुछ ऐसे भी किसान हैं जिनकी उपज की बिक्री व्यापारियों या उनके अढ़तियों के ज़रिये बाज़ार में होती है। बहुत सी जगहों में ये व्यापारी और अढ़तिये आरंभ में किसानों को उनकी खेती के लिए रुपये उधार देते हैं और उनसे शर्त कर लेते हैं कि उपज हो जाने के बाद वे लोग उनसे अमुक-अमुक भाव से उसे ख़रीद लेंगे। इसके सिवाय व्यापारियों द्वारा खेती की उपज का रोज़गार उन स्थानों में होता है जहाँ गेहूँ, कपास आदि जैसी "व्यावसायिक" फ़सलें पैदा होती हैं। कुछ ऐसे भी किसान हैं जो स्वयं ही बाज़ारों में अपनी उपज को बेंचते हैं। हम इस का कुछ दिग्दर्शन करा चुके हैं कि जब किसानों की फ़सल गाँव के महाजन या साहूकार द्वारा बेची जाती है तो किसानों को क्या घाटा सहना पड़ता है। व्यापारी द्वारा बेचने की अपेक्षा उसे साहूकार के द्वारा बेचने से कोई विशेष लाभ नहीं होता।

किसान और ख़रीदारों के व्यापार की उपयोगिता को हम इन्कार नहीं कर सकते। वर्तमान आर्थिक अवस्थाओं के अनुसार ये व्यापारी

अत्यन्त आवश्यक हो गये हैं। पर इस अवस्था में भी उपज का स्वयं किसानों द्वारा ख़रीदारों के हाथ बेचा जाना असम्भव नहीं है। बीच में इस व्यापारी से बहुत ज़रूरी काम निकलते हैं। एक-एक फ़सल को एक स्थान में एकत्रित करना, उनको साफ़ करना, उनकी श्रेणी बनाकर उन्हें बाज़ारों में भेज देना और फिर वहाँ किरानी व्यापारियों के ज़रिये ख़रीदारों के हाथ बेच देना। वह थोक में ख़रीद लेता है और ज़रूरत के मुताबिक़ बेचता रहता है। ख़रीद और बिक्री तथा सच्ची माँग और खपत के बीच के समय के लिये वह अपना मूलधन लगाता है और भाव की घटती-बढ़ती के नुक़सान का ज़िम्मा अपने सिर लेता है। ये सब बातें ज़रूरी ही हैं। किसानों की इस असंगठित अवस्था में वह जितना काम करता है उसकी अपेक्षा वह कुछ कम ही फ़ायदा उठाता है। थोक दाम तथा फुटकर दाम के अन्तर का अन्दाज़ा लगा लेने पर यह मालूम हो जावेगा कि उस व्यापारी को क्या फ़ायदा हुआ तथा यह भी मालूम हो जावेगा कि उपज को बेचने की प्रथा में क्या बुराइयाँ हैं। बिहार प्रांत के केवल तिरहुत विभाग में सन् १९२१ ई० में केवल चावल के व्यापार से वहाँ के दर्मियानी व्यापारियों को ३२ लाख रुपयों का फ़ायदा हुआ था। उसी प्रांत में इन व्यापारियों ने किसानों से ५ पैसे सेर के भाव से गेहूँ ख़रीदा और लोगों के हाथ उसी गेहूँ के आटे को १३ पैसे सेर के हिसाब से बेचा। लाने-जाने, तौलने-पीसने आदि का ख़र्च निकाल लेने पर प्रति सेर पीछे उन्हें ५ पैसे का फ़ायदा हुआ। इस प्रकार से ख़रीदार ने जो दाम दिया उसका केवल एक हिस्सा किसानों के पास पहुँचा और व्यापारियों ने इससे भी अधिक बीच ही में हड़प लिया। भारत में बाज़ारों के इस प्रकार असंगठित होने का कारण यही है कि ये ही व्यापारी गाँवों की खेती में साहूकारी का भी काम करते हैं। किसान इस प्रकार साहूकार और व्यापारी के रूप में एक आदमी के चंगुल में फंसा रहता है। हमारे यहाँ ऐसा ढंग ही चला आता है कि

बेचारे किसानों को बचाव का कोई रास्ता नहीं सूझता और व्यापारी कई प्रकार के आपत्तिपूर्ण दांवपेंच लगाकर अपना लाभ बढ़ाता ही रहता है। पंजाब के किसान मंडी के दलालों का क़र्ज़दार होता है और दलालों के पास लाचार होकर अपनी फ़सल उसे दे देनी पड़ती है। दलाल तो उपज को फ़सल के दिनों में सस्ते दामों में तय कर लेता है और फिर उसी उपज को खूब बढ़ाकर दाम लगा के बेचता है। फिर उसे उसके मूलधन का ब्याज मिलता है, उसकी दलाली का कमीशन मिलता है, व बिक्री पर कुछ उसे और भी मिल जाता है। इसके सिवा यह दलाल या आढ़तिया किसान को इस बात पर लाचार करता है कि वह अनाज उतारने वाले (पल्लेदार) को, तौलने वाले (तौलदार) को, भूसा निकालने वाले (चांगर) को, रसोइये (लंगरी) को और भिश्ती तथा मेहतर को भी कुछ न कुछ दे।

मुज़फ्फ़रपुर ज़िले के तम्बाकू के रोजगार में व्यापारी बहुत चालें खेलता है। वह तौलाई की गिनती के लिये मन पीछे तम्बाकू का एक पूड़ा (कुड़िया) ले लेता है, फिर गङ्गाजली के नाम से दूसरा पूड़ा लेता है। फिर तम्बाकू के तौलने तक वह एक पूड़े पर बैठता है और उसे भी अपनी बैठाई के लिये लेता है। इसके बाद तौलने वाला और दलाल भी अपना-अपना हक़ वसूल कर लेते हैं। जिस तौल से तम्बाकू तौली जाती है वह सरकारी तौल नहीं होती, तो भी किसान कुछ बोल नहीं सकता, क्योंकि वहाँ चाल ही ऐसी चली आई है। इस प्रकार इन सब को दे देने के बाद किसान को कोई ख़ास फ़ायदा नहीं होता। बाज़ार की इस प्रथा से जब उसे अपनी फ़सल में कुछ फ़ायदा नहीं होता तो फिर उससे यह कैसे आशा की जावे कि वह अपनी फ़सल में किसी तरह की उन्नति या अदल-बदल करने की चेष्टा करेगा।

हिन्दुस्तान के सरकारी कृषि-विभागों ने किसानों की उपज के प्रकार (quality) तथा परिमाण में उन्नति करने के लिये बड़ी कोशिशें की हैं।

किसी-किसी दशा को छोड़ कर, जहाँ की उत्तम प्रकार की उपज बोई गई थी, यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने इस बात की भी सहायता उन्हें दी है जिससे उनकी बढ़ी हुई तथा अच्छी उपज का उनको उचित मूल्य मिल सके। कृषि विभागों ने यह सोचा कि यह उनके कार्य क्षेत्र के परे है। सहयोगी संस्थायें भी केवल इसी काम में बहुत अधिक व्यस्त रही हैं कि किसानों को मूलधन कैसे मिले। उन्हें इसके लिये मौक़ा ही न मिला और न उन्हें इस बात का विशेष ज्ञान ही रहा कि किसानों को उनकी उपज का उचित दाम दिलाने के लिये क्या किया जावे। इसके बहुत थोड़े से ही उदाहरण मिलते हैं जब कि सहयोगी संस्थाओं ने किसानों को उनकी उपज के बेचने में कोई सहायता दी हो। इससे किसान आर्थिक अवस्थाओं के प्रवाह में छोड़ दिये गये हैं और बहुधा उन्हें नुक़सान ही उठाना पड़ता है। क्योंकि वह उसकी ही उपज के बेचने वालों तथा ख़रीदने वालों के सामने एक नाचीज़ है और ख़ासकर तब जब कि व्यापारी और ख़रीदार दोनों अपने क्षेत्र में प्रति वर्ष संगठित होते जाते हैं। उनका तो यही उद्देश्य रहता है कि किसानों से उसकी उपज को सस्ते से सस्ते दामों में ख़रीद लें। बाज़ार बिल्कुल व्यापारियों के हाथ में रहता है पर असल में किसानों के दृष्टि-कोण से उनका व्यापार किसानों के व्यापार का एक सहायक व्यापार समझा जाता है। साधारण किसानों की परिस्थितियाँ इस विचार के अनुकूल हैं। उनका धन्धा एक बड़े हद तक अब भी मुख्य धंधा है। उसकी उपज की बिक्री धीरे-धीरे होती है। उसका संबंध प्रतिदिन उपज से है और इसी की ओर सदैव ध्यान लगाये रखना चाहिए। उसकी कला की यह सारी निपुणता उसके खेतों तक ही नियमित रहती है और वह अपने धन्धे के व्यावसायिक पहलुओं की ओर बहुत कम ध्यान देता है। इससे जब तक वह अपनी उपज के अकेले ही या अन्य किसानों के साथ बेचने में कुशलता प्राप्त नहीं कर लेता तब तक सुसंगठित व्यापारियों से जो कि उसकी उपज को ख़रीदकर बेचते हैं

उसका दर्जा अर्थशास्त्र में व सारी आर्थिक अवस्थाओं में घटिया ही रहेगा। यह शिकायत सारे संसार में फैल रही है कि किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य नहीं मिलता और हिन्दुस्तान के किसानों में इस प्रकार के अभाव एक दो बातों में छोड़ अन्य देशों की अपेक्षा कुछ विशेष नहीं हैं। इन अभावों में से कुछ मुख्य ये हैं—भारी कर्ज़े से दबे रहना, अशिक्षा, आने जाने के सुभीते की कमी, बाज़ारों का संगठित न होना तथा किसानों में सहयोगिता के अभाव का होना। इन्हीं सब का यहाँ पर वर्णन कर रहे हैं।

इन समस्याओं पर विचार करते समय हम एक बात कह देना चाहते हैं। बाज़ारों का संगठन करने का यह अर्थ ज़रूरी नहीं है कि वर्तमान बाज़ारों के किसी साधन को दूर कर देना चाहिये। हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि उन साधनों के द्वारा संगठन करने पर पहले से अधिक काम हो सकेगा। इससे हम अपनी इस किताब में कहीं भी यह न कहेंगे कि ये व्यापारी दूर कर दिये जावें। संसार के आधुनिक आर्थिक व्यवहारों में ये व्यापारी बहुत महत्वपूर्ण काम करते हैं। और भारतवर्ष में या किसी और स्थान में उनके बिना काम चलाना अत्यंत कठिन है। स्थान-स्थान के बीच में माँग और खपत का पता लगाना, एकत्रित करना, तथा उन दोनों का संचालन करना अत्यंत सूक्ष्म तथा बुद्धिमानी के काम हैं। और जो लोग अपना जीवन व्यापार में ही बिता देते हैं वैसे कुशल व्यापारियों के बिना इन कामों को कोई दूसरा नहीं समझ सकता। अन्य देशों की अपेक्षा तो ये काम भारत में और भी अधिक कठिन हैं क्योंकि यहाँ आवागमन के साधन बहुधा बहुत ख़राब रहते हैं और वस्तुओं का उत्पादन बहुत से ऐसे छोटे-छोटे किसानों के हाथों में रहता है जो बहुत ग़रीब होते हैं और जो बेचने के लिए अपनी उपज को काफ़ी समय तक रोक नहीं सकते। इससे इन बीच के व्यापारियों की बड़ी भारी आवश्यकता होती है। इससे साधारणतः यह नहीं

कहा जा सकता कि प्रतिद्वन्द्विता के इन दिनों में वे लोग बहुत ज़्यादा हड़प कर जाते हैं।

जनता सदैव इन व्यापारियों की ओर सशंकित रहती है। इसका कारण यह है कि व्यापारी लोग अपनी आमदनी के लिए व्यापार तो हमेशा चलाते ही जाते हैं पर उत्पादन कार्य में वे अपने ऊपर कोई ज़िम्मेदारी नहीं रखते। फ़सल के गिर जाने से या जानवरों के नुक़सान हो जाने से इन व्यापारियों को कुछ दुख नहीं होता और न उनका कुछ बिगड़ता ही है। वास्तव में जिन वर्षों में फ़सल कम होती है उनमें इन व्यापारियों को और भी अधिक लाभ होता है। यदि उपज कम हुई तो दाम बढ़ाकर ख़रीदारों से वसूल कर लिये जावेंगे। बाज़ार में जितना माल लाया जावेगा उसके अनुसार दलालों को उनकी दलाली मिल जावेगी और इस प्रकार इन व्यापारियों के व्यापार तथा लाभ सुरक्षित रहेंगे पर वर्तमान अवस्थाओं में उपज के उत्पादन कार्य में व्यापारियों की कितनी ज़िम्मेदारी रहती है, इसका ज्ञान साधारण जनता को नहीं है। इससे थोड़ी सी घटनाओं के आधार पर यह निश्चय कर लेना उचित नहीं कि किसानों की सारी विपत्तियों का कारण निर्दयी तथा ज़रूरत से ज़्यादा बीच के व्यापारियों की उपस्थिति ही है।

अब यह तो निर्विवाद ही है कि इस संस्था में बहुत सी बुराइयाँ भरी पड़ी हैं। उदाहरण के लिए यह देख लीजिए कि जो किसानों के पास से पहले उपज इकट्ठा करता है वही उनकी खेती के लिए रुपये उधार देता है। वह सदैव किसानों को अपने चंगुल में फँसाये रहता है और किसानों से निर्दयता के साथ पूरा-पूरा फ़ायदा उठाता है। आवागमन के उचित सुभीते न रहने से तथा क्रय-विक्रय के उचित साधनों के न रहने से ऐसे व्यापारियों की संख्या बहुत बढ़ जाती है। घनी आबादी में जीवन-निर्वाह की समस्या भी इनकी संख्या की अधिकता का कारण है। क्योंकि ऐसी अवस्था में अपना पेट भरने के लिए नाना प्रकार के उपाय

ग्रहण करने लगते हैं। फिर उचित अनुचित का विशेष ध्यान नहीं रहता। इससे इन दोनों को दूर करने के लिए किसानों को संगठित करने के सिवाय इस बात की भी बड़ी भारी आवश्यकता है कि आवागमन के रास्तों के सुधार किए जावें। ऐसे सुसंगठित बाज़ार क़ायम किए जावें जहाँ कि किसान आसानी से प्रवेश कर सकें। इस विषय में सुधार करने के लिए निम्नलिखित विषयों में ज्ञान प्राप्त कर लेने की बड़ी भारी आवश्यकता है—अमुक फल की खेती इकट्ठा करना फ़सल का जमा करना, बाज़ारों में ले जाना और उनके दाम लगाना।

सहयोगी संस्थाएँ ही ऐसी संस्थाएँ हैं जिनमें ये काम भलीभाँति हो सकते हैं। इन संस्थाओं से किसानों में स्वावलम्बन, कम ख़र्ची तथा सम्मिलित जवाबदेही के भाव उत्पन्न हो सकेंगे। किंतु सहयोगी संस्थाओं के रूप में क्रय-विक्रय का संगठन करना तथा प्रबंध करना कोई खेल नहीं है। अन्य संस्थाओं की तरह उसमें भी असफलता होती है। तथा किसी संस्था को चलाने के पहले उसके चारों तरफ़ की अवस्थाओं को अच्छी तरह से देख लेना चाहिए। हिंदुस्तान में कहीं-कहीं इसके लिए प्रयत्न किए गए, कहीं सफलता मिली तो कहीं असफलता। जहाँ-जहाँ असफलता मिली है उन प्रयत्नों के इतिहास को देखने से यह मालूम होता है कि असंतोषजनक साधन, अधीरता तथा कार्य-कर्ताओं की अयोग्यता ही उसके कारण रहे हैं। इससे सहयोगी संस्थाओं के सिद्धांत निर्दोष ही पाए गए हैं। इस सिद्धांत की उपयोगिता यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका के उन किसानों में इस संख्या की सफलता से मालूम होती है जिन किसानों की आर्थिक अवस्था तथा शिक्षा हिंदुस्तान के किसानों से कोई ख़ास अच्छी नहीं रही है।

अब हिंदुस्तान की ऐसी संस्थाओं के कुछ उदाहरण देते हैं जहाँ कि सहयोगी संस्थाओं को अच्छी सफलता मिलती गई है। लायलपुर की कमीशन पर बिक्री की दूकान "(लायलपुर कमीशन सेल शाप) और

बारामती की बिक्री की संस्था" (बारामती सेल सोसायटी) इन दोनों स्थानों में ख़ूब सफलता मिली है। ये दूकानें आढ़तियों की तरह वस्तुओं के मनमाना दाम नहीं लगातीं। इन दूकानों में दूकानदारी के साधारण नियमों के अनुसार काम होता है जिससे किसानों के मन में इनकी तरफ़ से अच्छी धारणा हो गई है और उन दूकानों के भाव एकदम उतरते-चढ़ते नहीं रहते।

बंबई प्रांत में इस सहयोगी प्रथा में बड़ी उन्नति हुई है और वहाँ कपास बेचने की बहुत-सी संस्थाएँ हैं। इन संस्थाओं को बैंकों से आर्थिक सहायता मिलती है। बंगाल में वहाँ की मुख्य फ़सल जूट के बेचने के लिए ऐसी संस्थाओं की बड़ी उन्नति हुई है। इस काम में कलकत्ता के (बंगाल होलसेल आर्गेनाइज़ेशन सोसायटी) याने "बंगाल की थोक बिक्री प्रबंध-कारिणी समिति" से बड़ी सहायता मिली है। यह संस्था थोक फ़रोश और फुटकर व्यापारी, साहूकार, दलाल, जहाज़ी, मज़दूर, इंश्योरर, प्रबंधक तथा कमीशन एजेंटों का काम करके, अपने सदस्यों की उपज को सबसे अधिक फ़ायदे के साथ बेच करके तथा इस उपज को बाज़ार में ले जाने का प्रबंध करा करके इस काम में सहायता देती है। बंगाल की माँग और खपत की सारी कृषक-समितियाँ इस संस्था के अधीन कर दी जावेंगी तथा सबमें संयुक्त प्रबंधक रहेंगे ताकि उन सारी संस्थाओं का प्रबंध अति उत्तमता के साथ हो सके। वह किसानों की उपज को एक ही श्रेणी में तथा एक ही भाव में लाने की कोशिश करती है और सारे किसानों से अपने-अपने जूट के बंडल में एक छाप लगाने का अनुरोध करती है। उसके अधीन सब समितियों को प्रति दिन अथवा प्रति सप्ताह बाजार भाव के उथल-पुथल का समाचार मिलता रहेगा और जो भाव यह संस्था नियमित कर देगी उसी भाव में उनकी उपज बेची जावेगी। इसी प्रकार यह संस्था अन्यान्य ऐसे उपायों का अवलंबन करती है जिससे उसके उद्देश्य की पूर्ति हो

और किसानों का भला हो। यद्यपि इस प्रथा की कड़ी आलोचना की गई है पर वहाँ से किसानों की अवस्था तथा वहाँ के जूट की खेती की सर्वसाधारण वर्तमान अवस्था पर विचार करने से यह प्रथा अत्यन्त आवश्यक मालूम होती है।

हमें हिंदुस्तान में अशिक्षित कृषक-समुदाय को एक व्यापारी मंडल में संगठित करना है जिनमें उन व्यापारियों के साथ प्रतिद्वंद्विता करने की योग्यता हो जावे जो आधुनिक व्यापारकला तथा आवागमन के सुभीते से सुसज्जित हैं। हमें उन किसानों के पुश्तैनी आलस्य और असमर्थता को दूर भगा देना है तथा व्यापारियों की चली आई हुई रूढ़ि को तोड़कर उनमें सहिष्णुता का भाव पैदा करना है और उन्हें यह बताना है कि अपना उचित लाभ उठाने के लिए वे किसानों से मिल कर रहें। इस काम को शुरू करने के लिए हमें यह न चाहिए कि अपनी सहयोगी संस्था को सभी उपज के बेचने के लिए एक बड़ी भारी दूकान बना दें। उचित तो यही होगा कि किसी एक स्थान के एक या दो मुख्य फ़सलों की ओर ही ध्यान लगाए रहें। इस नियमित व्यापार से बाज़ार की अवस्था को अध्ययन करने का तथा खपत पर अधिकार रखने का अच्छा मौक़ा मिलेगा। पहले लगभग दस आदमियों की एक संस्था स्थापित करके कार्य आरंभ करना चाहिए। ऐसी संस्था के लिए योग्य प्रबंधक की आवश्यकता रहती है जिसे व्यवसाय का ख़ासा अच्छा ज्ञान हो। बहुत-सी ऐसी संस्थाओं को असफलता इस लिए मिलती है क्योंकि उनमें कोई ठीक प्रबंध नहीं रहता।

बाज़ार के संचालन का प्रयत्न बरार और बंबई में किया गया है और सरकारी कृषि-जाँच कमेटी ने इस प्रथा के विस्तार करने की सिफ़ारिश की है। ये संस्थाएँ इस बात की निगरानी करती हैं कि माल बेईमानी से न तौला जावे और दलालों की चाल-ढाल ठीक-ठीक रहे। पर हिंदुस्तान के कृषि-संबंधी क्रय-विक्रय के मूल दोष—किसानों को उनकी उपज का

उचित मूल्य न मिलना—दूर नहीं कर सकते। किसानों को उचित मूल्य दिलाने के लिए इससे कुछ अधिक करने की आवश्यकता है। लगभग प्रत्येक दस गाँव पीछे एक व्यापारी संघ होना चाहिए और उन गाँवों के पटेल, जेठ रैयत, पंच आदि उस संघ के प्रतिनिधि हों तथा उसका एक भाग ख़रीद कर उस संघ में रुपया दें। उसके व्यापार के लिए कोई ऐसा सुविधाजनक स्थान नियत करें जहाँ बेचनेवाले व ख़रीदार सुभीते से मिल सकें। झूठे बाटों से तौलने या दूसरे प्रकार से बेईमानी करने वालों के लिए दंड नियत कर दिया जावे। ज़िले के क्रेंद्र संघ से वस्तुओं के भाव आदि के विषय में सदैव पूछ-ताछ किया करें। संघ के स्थान से किसी अन्य क़सबा, शहर या किसी रेलवे स्टेशन तक अपने माल को आवश्यकतानुसार ले जाने के लिए उचित प्रबंध कर रखें। सब दलालों के नाम रजिस्टर में दर्ज कर लिए जावें तथा उनसे ज़मानत जमा करा रक्खें ताकि वे कभी गोलमाल न करने पावें तथा संघ के नियमों के विरुद्ध कोई कारवाई न कर सकें। इसके सिवाय उन किसानों की आर्थिक सहायता करें जो ग़रीबी के कारण अपनी उपज को अधिक समय तक नहीं जमा रख सकते। एक नियम ऐसा भी बना दिया जावे कि बिना इस संघ की मंज़ूरी के कोई दूसरा व्यापारी व्यापार न कर सके। इन सब कामों के लिए संघ अपने ख़र्च चलाने के लिए तथा भविष्य में किसी दैवी विपत्ति के समय सहारा रखने के लिए ही लाभ उठावे, इससे अधिक नहीं। इस प्रकार के संघों के प्रबंध और पूँजी का भार ज़िले के क्रेंद्र संघ के सिर पर रहे तथा अन्याय प्रकार से भी क्रेंद्र संघ तथा गावों के संघ परस्पर एक दूसरे की सहायता किया करें। इस प्रथा से यह अवश्य ही प्रतीत होगा कि इससे व्यापार में व्यक्ति-गति स्वतंत्रता में बाधा पड़ती है। पर ग़रीब किसानों की उपज का उचित मूल्य दिलाने के लिए इसके सिवा कोई दूसरा उपाय नहीं। इस प्रथा को प्रचलित करने के लिए कहीं कहीं ज़बर्दस्ती भी करनी पड़ेगी। यद्यपि ज़ोर ज़बर्दस्ती सहयोगी संस्थाओं

के सिद्धान्त के विरुद्ध है पर यह ज़बर्दस्ती केवल उन किसानों की भलाई के लिए ही की जावेगी, क्योंकि बहुत सम्भव है कि मतलबी दलालों के बहकाने से या ग़रीबी के कारण सशंकित रहने की आदत से किसान लोगों को इन संस्थाओं पर विश्वास न हो। पर जब किसान लोग इन संस्थाओं की उपयोगिता को समझ जावेंगे तो फिर आप ही ज़बर्दस्ती की आवश्यकता न रह जावेगी। इस प्रकार अन्यान्य कार्यों के साथ इन संघों का मुख्य कर्तव्य यह देखना होगा कि किन-किन स्थानों में किस-किस उपज की अधिक माँग है। इस प्रकार जाँच कर किसानों की उपज का उचित मूल्य दिला दिया करेंगे व उस उपज की अधिक उत्पत्ति के लिए आवश्यकतानुसार सिफ़ारिश भी करेंगे।

इस काम के लिए बैंकों की तथा सरकार की सहायता की बड़ी भारी आवश्यकता है। अमेरिका के संयुक्त राज्य के कुछ स्थानों में इस विधि का प्रयोग कई वर्षों से हुआ है और वहाँ सरकार ने सहायता दी है। वाणिज्य व्यवसाय में निपुण कुछ ऐसे मार्केट-डायरेक्टर्स (बाज़ार-संचालक) सरकार नियत कर दे जो किसानों और ख़रीदारों के बीच माँग और खपत का अंदाजा रक्खें तथा वस्तुओं के भाव, मापतौल आदि की निगरानी रक्खें। इससे व्यापार बहुधा डाँवाडोल न हुआ करेगा और किसानों की ग़रीबी दूर हो जावेगी व ख़रीदार को भी किसी वस्तु के लिए अनुचित दाम न देना पड़ेगा।

उन्नीसवाँ अध्याय

हिन्दुस्तान में पशुओं की समस्या

मूलधन वाले अध्याय में हम यह बतला चुके हैं कि हिन्दुस्तान में खेती में काम आनेवाले कुल कितने बैल और भैंसे हैं। यह भी बतलाने का प्रयत्न किया है कि यहाँ की खेती की कुल ज़मीन की जोताई और बोवाई के लिए काफ़ी बैल भैंसे हैं या नहीं। वहीं पर ढोरों की उत्पत्ति-क्रिया की भी कुछ चर्चा की है, जो हिंदुस्तान के कुछ हिस्सों में पाए जाते हैं। इस अध्याय में हम ढोरों का खेती से संबंध तथा उसके प्रकार पर विचार करने का प्रयत्न करेंगे। यद्यपि हिन्दुस्तान के पंजाब जैसे कुछ स्थानों में काफ़ी अच्छे ढोर पाए जाते हैं पर औसत दर्जे का भारतीय किसान जिन ढोरों से काम लेता है वे बहुधा कमज़ोर व ठिगने होते हैं। ढोरों की इस क्षीणता के दो मुख्य कारण जान पड़ते हैं। पहला तो यह कि ढोरों के चरने के लिए यहाँ जितने चारागाह हैं उनसे कहीं अधिक तो ढोर ही हैं, जिससे प्रत्येक ढोर के लिए काफ़ी चारा नहीं मिल पाता और दूसरे यह भी कि बच्चे उत्पन्न कराने में यहाँ पर काफ़ी ध्यान नहीं दिया जाता।

अब पहले कारण पर विचार करेंगे। सन् १९५१ में भारत में केवल १ करोड़ ६५ लाख एकड़ भूमि चारागाह के लिए प्राप्त थी। उसी वर्ष भारत के राज्यों में गाय बैल तथा भैंस-भैंसों की संख्या तालिका संख्या ३ में नीचे दी जाती है—

तालिका संख्या ३—भारत के राज्यों में सन् १९५१ में गाय-बैल और भैंस-भैंसों की संख्या

	राज्य १९५७ के पहले के	गाय और बैलों की संख्या	भैंस और भैंसों की संख्या
१	आसाम	५२ लाख	५ लाख
२	बिहार	१५३ ,,	३३ ,,
३	बम्बई	११९ ,,	४२ ,,
४	मध्यप्रदेश और बरार	१४९ ,,	२६ ,,
५	मद्रास	१९४ ,,	७९ ,,
६	उड़ीसा	७९ ,,	९ ,,
७	पंजाब और पटियाला	५८ ,,	३४ ,,
८	उत्तर-प्रदेश	२३५ ,,	९३ ,,
९	पश्चिमी बंगाल	१०४ ,,	६ ,,
१०	हैदराबाद	९२ ,,	२५ ,,
११	मध्यभारत और विंध्य-प्रदेश	१०६ ,,	२६ ,,
१२	मैसूर	४७ ,,	११ ,,
१३	राजस्थान	१०५ ,,	३० ,,
१४	सौराष्ट्र	१३ ,,	५ ,,
१५	ट्रावनकोर-कोचीन	१३ ,,	२ ,,
१६	हिमांचल-प्रदेश	१० ,,	१ ,,
१७	भारत का शेष भाग	२३ ,,	८ ,,
	सम्पूर्ण भारत	१५,५२ ,,	४३५ ,,

तालिका संख्या ३ से प्रकट होता है कि भारत में ढोरों (गाय, बैल, भैंस और भैंसों) की संख्या १५, ५२+४, ३५ = १६, ८७ लाख अर्थात् करीब २० करोड़ है।

इन २० करोड़ पशुओं के लिये केवल १ करोड़ ६५ लाख एकड़ चारागाह बहुत ही कम है और सारे जानवरों के लिये काफ़ी चारा नहीं मिल सकता, हमारी यह राय है कि इतनी सी ज़मीन के लिए ये ढोर बहुत हैं। जिस देश में चारा इस तरह से नियमित परिमाण में मिलता है, वहाँ यदि ढोरों से पूरा फ़ायदा उठाने की कोशिश की जावे तो बैलों को पूरी तरह से काम में लाना होगा, गायों का दूध ख़ूब निचोड़ निकालना होगा और खाद को बड़ी सावधानी से जमा करके खेतों तक ले जाना होगा।

भारत के ढोरों की संख्या की तालिका के महत्व को अच्छी तरह से समझने के लिये मिश्र देश और हालैंड—इन दो भिन्न देशों के ढोरों की ओर भी हम कुछ दृष्टिपात करेंगे। हालैंड देश का उदाहरण हमने इसलिये लिया है कि उसकी सारी ज़मीन के परिमाण की अपेक्षा वहाँ बहुत अधिक ढोर हैं व मिश्र देश में बहुत कम हैं। भारत और हालैंड के बीच खेती के विषय में बहुत विभिन्नता है तथा मिश्र देश व भारत में इस विषय में बहुत समानता है।

प्रति १०० एकड़ खेती के रकबे के पीछे

भारत में	६७ ढोर
हालैंड में	३८ ढोर
मिश्र देश में	२५ ढोर

हालैंड में बहुधा घोड़े तथा मिश्र देश में, खच्चर काम में लाये जाते हैं। हिन्दुस्तानी ढोर की अपेक्षा उसी उम्र का व उसी जाति का हालैंड

का एक ढोर वज़न में दुगना होता है और हालैंड की गाय हिन्दुस्तानी गाय से पाँच से दस गुना दूध अधिक देती है। मिश्र देश के साधारण ढोर भारतीय ढोरों से आकार में औसतन बड़े होते हैं। इन सब बातों से यह मालूम होता है कि हिन्दुस्तान के ढोर दूसरे देशों के ढोरों से चाहे किसी बात में कम हों पर संख्या में उनसे अधिक ही निकलेंगे। ऊपर के अंकों से जितनी कल्पना की जा सकती है, अवस्थाओं में समान भारत और मिश्र देश के ढोरों में उससे भी अधिक विभिन्नता है क्योंकि भारत की अपेक्षा मिश्र देश की बहुत अधिक ज़मीन में एक बार से अधिक खेती होती है जिससे खेतों की जोताई के लिए अधिक ढोरों की आवश्यकता होती है।

अब भारत और मिश्र, इन दो देशों की तालिकाओं की आपस में तुलना करने की जगह यदि हम दोनों के एक-एक स्थान विशेष के ढोरों की दशाओं की तुलना करें तो कृषि-अवस्था आमतौर से बराबर ही होगी। साथ ही हमको ढोरों की चर्चा करते समय उस ज़मीन पर निर्वाह करने वाले दूसरे जानवरों का ध्यान न भुला देना चाहिए क्योंकि मिश्र में चारे के लिए बैल और भैंसों के साथ बकरे और भेड़ की प्रतिद्वन्द्विता होती है। फिर मिश्र देश में ऊँट और ख़च्चर भी बहुधा काम में लाए जाते हैं। मिश्र की सारी खेती सिंचाई पर निर्भर रहती है और बहुत सी ज़मीन पर साल भर में दो या तीन फ़सलें बोई जाती हैं। इन बातों को ध्यान में रखते हुए मिश्र देश के घारबे प्रांत की तुलना पंजाब के लायलपुर से करते हैं। दोनों स्थानों की खेती सिंचाई पर निर्भर है, दोनों स्थानों में गहरी उपजाऊ नदी द्वारा जमा की हुई मिट्टी वाली ज़मीन (Alluvial soil) पाई जाती है, तथा दोनों स्थानों में लकड़ी के बने हुये औज़ारों को खींचने के लिए मज़बूत बैलों की आवश्यकता होती है। दोनों स्थानों के किसान मुख्यतः मुसलमान होते हैं और उन दोनों स्थानों में खेती ऊँचे दर्जे की होती है। निम्नलिखित फ़सल

के अंक घारबे के सन् १९२४-१९२५ तथा लायलपुर के सन् १९२५-१९२६ के हैं।

		घारबे	लायलपुर
वर्षा	इंच	२ से ४	१२ से १४
कुल खेती का रक़बा	एकड़	१७,३४,०००	२०,३५,०००
खेती के रकबे के प्रति १०० एकड़ पर कुल ढोर संख्या		७·१	८४·२
भैंसे	,,	९·४	२३·३
बकरे	,,	१०·३	११·०
भेड़	,,	१·५	९·६
खच्चर	,,	९·१	१·३
ऊँट	,,	·८	·६

घारबे में खेती के ऊपर दिए हुए कुछ रक़बे में से २,८९,००० एकड़ में चारा बोया जाता है। दोनों देशों की इस प्रकार तुलना करने में ख़ास मार्के की बात यह मालूम होती है कि घारबे में इतने कम जानवर होते हुए भी वहाँ की खेती का दर्जा इतना बढ़ा चढ़ा हुआ है।

संक्षेप में हम यहाँ पर यह कह देना चाहते हैं कि हिन्दुस्तान की ढोर विषयक समस्या शोचनीय है। जिन स्थान में ढोरों के पालन-पोषण के लिए जितनी बुरी हालत होती है उतनी ही उसी स्थान में ढोरों की अधिक संख्या पाई जाती है। इससे गायें कमज़ोर हो जाती हैं व उनके बछड़े भी ठिगने व कमज़ोर पैदा होते हैं जिनसे किसानों को संतोष नहीं हो सकता और वे अच्छे बैल पैदा करने की फ़िक्र में बराबर बच्चा पैदा कराते जाते हैं और बैलों की संख्या को बढ़ाते जाते हैं। जैसे इनकी संख्या बढ़ने लगी या जैसे-जैसे चारागाहों में भी खेती की पहुँच होने लगती है वैसे-वैसे चारे की कमी के कारण गायों में और कमज़ोरी आने लगती है। फिर तो यह हालत हो जाती है कि अच्छे बछड़े पैदा करने की आशा बहुत कम होती जाती है। यह नहीं समझना चाहिए कि

चारे की आवश्यकता एक वर्ष में १०० छोटे-छोटे ढोरों के लिए जितनी होती है उतनी ही उन ढोरों के दुगने आकार वाले ५० ढोरों के लिए होती है। बल्कि यह समझना चाहिए कि चारे का एक निश्चित परिमाण जो छोटे आकार वाले सौ बैलों को बारह महीनों को काफ़ी होगा वह उनसे दुगने आकारवाले सौ बैलों को आठ नौ महीने को काफ़ी होगा। इससे ठिगने ढोरों की एक बड़ी सी संख्या भारत जैसे देश के लिए, जहाँ कि कभी-कभी चारा बड़ी मुश्किल से मिलता है, एक अनावश्यक और बड़ा भारी बोझा है। भारत के ढोरों की तादाद बढ़ चली है और यहाँ के ढोर इतने छोटे होने लगे हैं कि उनके आकार तथा प्रकार में उन्नति करना इस देश के लिए एक जटिल समस्या हो गई है। पर ढोरों की उन्नति पर कृषि कर्म की उन्नति बहुत निर्भर है और इस समस्या का हल करना अत्यंत ही आवश्यक है।

इस विषय में उन्नति करने के लिए बहुत ही रायें पेश की गई हैं तथा प्रत्येक प्रांत के विशेषज्ञों का ध्यान इस ओर आकर्षित हो रहा है। हम यहाँ ढोरों की उन्नति करने के विषय में दो आवश्यक बात कह देना चाहते हैं। पहले तो यह कि जिस प्रकार से हो यहाँ के ढोरों का आवश्यकता खेती के लिए कम हो जाये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक यह उपाय है कि जहाँ तक हो किसानों के खेत टुकड़े-टुकड़े में बिखरे हुए न हों। जोताई के औज़ारों में उन्नति करनी चाहिए, सड़कें और रास्ते अच्छे बनाने चाहिए और बैलों की शक्ति बढ़ानी चाहिए। बैलों की शक्ति बढ़ाने के लिए यह ज़रूरी है कि जब गाय दूध नहीं देती है, जब उनके पेट में बच्चे हो या जब उनके बछड़े छोटे हो तो उनके चारे के लिए उचित प्रबंध होना चाहिए ताकि वे ख़ूब दूध देने के लायक़ हो जावें। किंतु भारतीय किसानों की कार्य शक्ति उनकी अशिक्षा तथा ग़रीबी के कारण नियमित रहती है। उनमें दूरदर्शिता तथा निपुणता का अभाव होता है। वे ढोरों के पालन पोषण में अपनी चली आई हुई पुरानी चाल

का ही अनुसरण करते हैं। जिन दिनों में वे उनसे काम लेते हैं उन दिनों में तो उन्हें ख़ूब खिलाते-पिलाते हैं। पर दूसरे दिनों में वे उनकी ओर से लापरवाह हो जाते हैं। हिंदुस्तान के सैकड़ों हज़ारों किसानों में से बहुत कम ऐसे होंगे जो अपने काम आने वाले ढोरों को अच्छी तरह से रखते होंगे।

ढोरों के चारे में उन्नति करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता है। एक तो यह कि जितना चारा अभी होता है उससे पूरा-पूरा लाभ उठाया जावे, दूसरी यह कि चारागाह का रक़बा बढ़ाया जावे और तीसरी यह कि किसानों को यह समझाया जावे कि उन्हें अपने खेतों के एक हिस्से में चारा बोना चाहिए। इनमें से हम पहले उपाय पर विचार करते हैं। यह देखने में आया है कि जब बरसात के दिनों में या उसके बाद भी तरह-तरह की घास या अन्य चारे पैदा होते हैं उन दिनों में किसान उन सब से पूरा फ़ायदा नहीं उठाता व उन्हें बरबाद हो जाने देता है। हिंदुस्तान में जो पयाल सुखाए जाते हैं वे उतने लाभदायक नहीं होते जैसे कि पाश्चात्य देशों में होते हैं। इसका कारण यह होता है कि बरसात के आख़िरी दिनों में जब घास काटकर पयाल बनाने लायक़ होती है तो मौसम इतना नम रहता है कि उन दिनों में पयाल बनाया नहीं जा सकता और बरसात के बिल्कुल अंत में भी जब घास एक दम पक नहीं जाती पयाल बनाने का मौक़ा बना रहता है तब स्वयं किसान ही अपनी खेती के फ़सलों के काम में लगे रहते हैं। केवल उन्हीं स्थानों में पयाल बनाने में अधिक कठिनाई नहीं पड़ती जहाँ कि वर्षा हल्की होती है। जहाँ वर्षा हल्की होती है वहाँ पयाल के लायक़ घास ही कम होती है। इन्हीं कारणों से हिंदुस्तानी किसान पयाल बनाने की ओर से उदासीन रहता है। पर उसकी उदासीनता तो तब पैदा हुई थी जब कि खेती के पुराने सिद्धांत की उत्पत्ति हुई थी। अब तो इस उदासीनता का कोई कारण नहीं। क्योंकि सुखाई हुई घास भी भूखे ढोरों

के लिए बड़े काम की चीज़ है और उसको कुछ दिनों तक क़ायम रखने से वह घास और भी लाभदायक हो जावेगी। फिर किसानों के लिए अब पयाल बना लेना बिल्कुल असंभव नहीं है। उन ज़िलों में जहाँ घास ख़ूब होती है वहाँ यदि पयाल न हो सके, तो कम-से-कम किसानों के पास सूखी घास तो ख़ूब होनी चाहिए।

पर बहुधा यही सुनने में आता है कि इस देश का किसान घास काटने के दिनों में बहुत कम लाभ उठाता है तथा जब घास में ढोरों के लिए सब से अधिक उपयोगी पदार्थ रहते हैं उस समय उसे काट कर वह बहुत ही कम लाभ उठाता है। यह नहीं कि वह एकदम पके हुए घास की कमज़ोरी को न जानता हो। अच्छे पयाल बनाने में वास्तविक बाधाएँ न तो धूप की कमी ही है और न वर्षा की अधिकता। वास्तविक बाधा है किसानों की चली आई हुई रुढ़ियाँ। भारतीय किसान को घास काटने की ही आदत पड़ी है, पयाल बनाने की नहीं।

यह बड़े भाग्य की बात है कि अच्छा चारा जमा कर रखने के लिए धूप कोई आवश्यक वस्तु नहीं है। गत कुछ वर्षों से कई प्रकार के सायलों (Silo)—चारा जमा रखने के खत्तियाँ—बनाने की कोशिशें की गई हैं और यह जाचने की कोशिश की गई है कि उन सायलों में कौनसी फ़सल सबसे अधिक अच्छी तरह से रखी जा सकती है। सायलों में जो चारे रक्खे जाते हैं उन्हें सायलेज कहते हैं। सायलेज बनाना हिंदुस्तान में कोई कठिन बात नहीं है। यह काम हिसार में १८९९ से होता चला आ रहा है। पूसा में भी सायलेज बहुत दिनों से जानवरों का मुख्य चारा रहा है। पर जन साधारण की प्रवृत्ति हम इस विषय की ओर केवल इन्हीं दस बारह वर्षों से झुकी हुई पाते हैं। सायलेज की उपयोगिता से लोग इसके लिए बहुत उत्साहित होकर इसका अनुकरण कर रहे हैं। देश के बहुत से सरकारी कृषि-विभागों में आज सूखे दिनों में ढोरों के लिए सायलेज बनाया जाता है और उससे ढोरों को बहुत लाभ पहुँचता

है। पर देश के बहुत से किसान अब भी सायलेज का उपयोग नहीं कर रहे हैं। पूसा में यद्यपि बहुत वर्षों से सायलेज बनता चला आ रहा है और ढोर खरीदते समय यद्यपि किसान लोग उसकी उपयोगिता को अच्छी तरह से देखते हैं पर तो भी स्वयं उस पर हाथ नहीं लगाते। अन्य स्थानों में इसका उपयोग अब धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है।

सायलो (Silo) या चारा जमा करने की जगह को निम्नलिखित विधि से बनाते हैं। ज़मीन में गड्ढा खोदते हैं। फिर ईंट पत्थर और चूना लगाने से पक्का सायलो बनता है। अगर ख़ाली ज़मीन रही तो कच्चा सायलो कहलाता है। अगर सायलो कच्चा रहा तो उसमें पहले भूसा या पयाल का पेठन दे देते हैं। चारा जब पकने के क़रीब आ जाता है, जब वह न तो बिल्कुल कच्चा रहता है और न बिल्कुल पक ही जाता है, तो उसे बारीक काट-काट कर सायलो में भर देते हैं। ऊपर से उसे इस प्रकार ढक देते हैं कि उसमें हवा या पानी ज़रा भी न जा सके। ऐसे रखे हुए चारे को सायलेज कहते हैं। सूखे दिनों में जब चारा नहीं मिलता तो इसे ही ढोर चाव से खाते हैं। सायलेज उनके लिए बहुत लाभदायक भी होता है। मक्का, ज्वार, जई, कई प्रकार की घास तथा पेड़ की पत्तियों के भी सायलेज बनाये जा सकते हैं। जो घास पक जाने पर ढोरों को कोई ख़ास लाभ नहीं पहुँचाती वह सायलेज बन जाने पर उनके लिए अधिक स्वादिष्ट तथा लाभदायक हो जाती है। ढोरों को सायलेज खिलाते समय उसमें स्वाद उत्पन्न करने के लिए ऊपर से नमक भी मिला देना चाहिए। यह आम शिकायत सुनने में आती है कि सायलेज गायों से अधिक दूध निकालने के लिए ही तथा अन्य बेकार ढोरों के लिए ही लाभदायक होता है। पर कड़ी मेहनत करने वाले बैलों को कोई फ़ायदा इससे नहीं पहुँचता। इसी से किसान ज़्यादा-तर सायलेज बनाने के लिए तैयार नहीं होते। पर यह सच नहीं है। उन्हें यह ध्यान में रखना चाहिए कि जिन दिनों में गाय, बैल तथा किसी

भी जानवर के लिए ताज़ा चारा मिलना मुश्किल हो जाता है उन दिनों के लिए तो सभी ढोरों के लिए सायलेज सब से अधिक सुलभ और लाभदायक भोजन है।

जो चारे अभी सहज में मिल सकते हैं उनसे पूरा लाभ उठा लेने पर भी देश के कई स्थानों में चारे की कमी रह जाती है। इस अवस्था में इस कमी को पूरा करने का केवल यही उपाय है कि प्रत्येक किसान अपनी ज़मीन के एक हिस्से में ढोरों के लिए चारा बोया करे। हिन्दुस्तान में चारे के लायक़ बहुत से पौधे पाए जाते हैं। देशी पौधे जैसे ज्वार, मक्का और संजी चारे के लिए बहुत अच्छे होते हैं। इनके सिवाय कई प्रकार के विदेशी पौधे भी यहाँ पैदा किये जा सकते हैं जो जानवरों के लिये बहुत अच्छे चारे का काम देंगे। इनमें से कुछ का वर्णन नीचे किया जाता है।

आस्ट्रेलियन चरी

यह मामूली चारे से अधिक ताज़ी व मीठी होती है। बरसात में बोई जाकर दिसम्बर तक हरी बनी रहती है। इसकी फ़सल तीन बार काटी जाती है। यह ढोरों के लिए बहुत अधिक लाभदायक भोजन होती है। एक एकड़ में २४ सेर बीज बोया जाता है।

चीन देश का लुसरीन नामक पौधा

यह पौधा इस देश में चीन देश से लाया गया है। इसकी बुवाई अक्तूबर के महीने में की जाती है तथा यह ८ वर्ष तक लगा रहता है। एक एकड़ ज़मीन में लुसरीन के चार सेर बीज बोये जाते हैं।

फ्रांसीसी जई तथा स्काटलैंड की जई

यह अक्तूबर और दिसम्बर के बीच बोई जाती है और मई महीने तक ताज़ी व हरी रहती है। देशी जई से इसकी पैदावार बहुत अधिक

होती है। एक एकड़ ज़मीन में इसका तीस सेर बीज बोया जाता है।

बरसीम घास

यह मिश्र देश से लाया हुआ पौधा है। अक्तूबर के महीने में कपास के साथ-साथ या कपास की फ़सल के कट जाने के बाद उसी खेत में बोई जाती है। एक एकड़ ज़मीन में इसके १६ सेर बीज बोए जाते हैं। जनवरी से मई तक इसकी पाँच कटाई हो सकती है। यह केवल एक बहुत अच्छा चारा ही नहीं है, बल्कि जिस खेत में बरसीम बोया जाता है उसमें फ़सल के लिए लाभदायक नोषजन गैस भर जाती है, अतः वह खेत अगली फ़सल के लिए बहुत उपजाऊ हो जाता है।

इस विषय में असली कठिनाई चारे के लिए अच्छे पौधे का पता लगाना या सायलेज बनाना नहीं है। असली कठिनाई तो किसानों से इन बातों का अनुकरण कराना है। उसे आप इन सब बातों की शिक्षा देंगे तो वह यही कहेगा कि हम ज़मीन का लगान देते हैं, नहर के पानी का पैसा देते हैं, पैसा ख़र्च कर खेती करते हैं इससे हम वह ही फ़सल बोवेंगे जिससे हमें पैसा मिले या जो हमारे पेट में पड़े। ढोरों को मुफ़्त में खिलाने पर ज़मीन में फिर से कुचल देने के लिए (खाद के रूप में) हम क्यों कोई फ़सल बोवें। पर उस बिचारे को यह नहीं मालूम है कि बरसीन जैसे चारे की फ़सल को बोने से खेती के अत्यन्त आवश्यक औज़ार ढोरों के लिए चारे का व खेतों का उपजाऊपन बढ़ जाने का कैसे दोहरा फ़ायदा होता है। इससे सरकार का, जिन पर देश की उन्नति की जिम्मेदारी है, यह कर्तव्य है कि किसानों में इन सब बातों का ज्ञान उत्पन्न करावें। फिर चारा बोने में किसानों को दूसरी आपत्ति यह होती है कि यदि वे खेतों में चारा बोवें तो ढोर आकर उसे खा जाते हैं। वे रात दिन कहाँ तक पहरा दे सकेंगे। इसके लिए तो यही उपाय हो सकता है कि जहाँ तक हो

खेतों को कटीले पौधों से रूँध दें, फिर जहाँ तक बन पड़े गाँव के सभी किसान एक ही साथ अपने-अपने खेतों में चारा बोया करें ताकि उनकी रक्षा करने की चिंता व ज़िम्मेदारी सभी किसानों पर जा पड़े। ऐसा हो जाने पर प्रत्येक किसान अपने-अपने ढोरों की परवाह करेगा। सहयोग से कौन-सा काम सरल नहीं हो जाता है?

आवश्यकता से अधिक जानवरों की संख्या बढ़ने से ही जानवरों की दशा यहाँ ख़राब नहीं होती। किंतु साथ ही जनसंख्या के बढ़ने से भी चारा और चरागाह की समस्या जटिल हो जाती है। जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती जाती है वैसे-वैसे खेती से बाहर पड़ी हुई ज़मीन उन मनुष्यों के क़ब्ज़े में आती जाती है। चरागाहों की संख्या में उन्नति कर देने से निश्चय ही ढोरों को बहुत लाभ होगा। यदि ढोरों की संख्या न बढ़े, यदि चरागाह काफ़ी हों, यदि सूखे दिनों के लिए चारे का उचित प्रबन्ध हो जावे तो निश्चय ही अच्छे अच्छे बैल-भैंसे मिलने लगें।

चरागाहों पर आबहवा का भी बहुत असर पड़ता है। ठंडे देशों की अपेक्षा इस देश के चरागाह कम उपजाऊ व कम लाभदायक होते हैं। कई स्थानों तथा देशों का इस पृथ्वी पर इतना अच्छा भौगोलिक स्थान होता है कि उनके चरागाहों से पैदा हुए वनस्पति से वहाँ के ढोरों की सब ऋतुओं में रक्षा होती है। हिंदुस्तान की अवस्था उन देशों के समान नहीं है। उत्तर के कुछ हिस्सों में कुछ अच्छे चरागाह हैं। पर सारे देश के चरागाह बहुधा ऐसे हैं जिनकी बरसात में पैदा हुई घास गर्मी के दिनों तक बिलकुल सूख जाती है या इतनी ख़राब हो जाती है कि उससे ढोरों को कोई विशेष लाभ नहीं होता। इससे साफ़ प्रकट होता है कि केवल चरागाहों की संख्या बढ़ा देने से ही काम नहीं चलेगा। बल्कि चरागाहों की उपज शक्ति तथा उनमें पैदा होनेवाली घास पर भी ध्यान रखना ज़रूरी है।

प्राकृतिक चरागाहों में खेती करने से ढोरों की मुसीबतें तो बढ़ती

ही हैं साथ ही चरागाहों में आबादी भी आकर बढ़ती जा रही है, जैसा कि इसी अध्याय में कहा जा चुका है, जिसके कारण ढोरों के चरने के लिए काफ़ी जगह नहीं मिलती। जनसंख्या का ध्यान छोड़ कर केवल चरागाह के नाम से सदैव खेती की ज़मीन पर ही आक्रमण करने से लाभ के बदले बड़ी भारी हानि होती है। इस प्रकार यहाँ तक खेती के काम से ज़मीन छीनी जा सकती है। आख़िर यह फ़सलें कहाँ पैदा होंगी? इससे ढोरों की अवस्था सुधारने के लिये ज़रूरत से ज़्यादा ढोर तथा आदमियों को भी एक स्थान से दूसरे स्थान हटाना ही उचित होगा। किंतु हिंदुस्तान में इस समय समाज की जो अवस्था है उसके अनुसार जीवननिर्वाह जैसे जटिल समस्या के लिए भी लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाना बड़ा कठिन काम है। इससे जहाँ तक हो, चरागाहों की उन्नति करने के लिए जंगलों में अधिक-से-अधिक चरागाह बनाने चाहिए। अब हम देखते हैं कि चरागाहों की संख्या बढ़ाना कोई सहज काम नहीं है तथा यदि खेती की ज़मीन को चरागाह बनाने से कृषि अवस्था में उन्नति करना, जो हमारा मूल उद्देश्य था, उसी की हानि होती है तो चरागाह के प्रश्न को हल करने के लिए उसकी उपज में उन्नति करना बहुत ज़रूरी है। लोगों की राय है कि चरागाह में ढोर चराने के नियमों में सख़्ती करने से, चरागाहों के चारों तरफ़ घेरा लगा देने से तथा चारे के जमा कर रखने से चरागाहों की उपज में उन्नति हो सकती है।

किसानों के लिए उनके ढोरों के चारे की समस्या इसलिए और भी जटिल हो जाती है कि गाँव व शहर के बहुत से अन्य लोग भी जो खेती नहीं करते, ढोर पालते हैं, पर उन ढोरों के लिए स्वयं चारा पैदा नहीं करते। ये ढोर किसानों के ढोरों से केवल चरागाह में प्रतिद्वन्द्विता नहीं करते पर साथ ही जब चारा पैदा नहीं होता तब ग़रीब किसानों की हरी-हरी फ़सलों को भी खाकर नुक़सान पहुँचाते हैं। इसलिए इस विषय में

भी नियम बनाए जावें कि प्रत्येक व्यक्ति को कितने ढोर रखने चाहिए व उसे सर्वसाधारण के चरागाहों में अपने ढोरों को चराने का कितना हक़ मिलना चाहिए।

इस विषय की ओर भी सरकार का, विशेषकर सरकारी जंगल-विभाग का, ध्यान आकर्षित हो रहा है। उत्तर-प्रदेश के जंगल-विभाग के प्रमुख अधिकारी की यह राय है कि जंगलों में चरागाहों के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जावें और प्रति वर्ष एक-एक या दो-दो या इससे भी अधिक टुकड़ों में बारी-बारी से ढोरों को चराया जावे।

अब हम यहाँ पर ढोरों की उत्पत्ति क्रिया पर कुछ विचार करेंगे। उत्पत्ति क्रिया में उन्नति करके गाय और बैल, भैंस व भैंसे दोनों प्रकार के जानवरों की नसल, उनकी ताक़त तथा उनके आकार, में उन्नति कर सकते हैं, तथा गाय या भैंस के दूध देने की शक्ति की अपेक्षा बछड़े उत्पन्न करने के गुणों को बढ़ा सकते हैं। किंतु इस विषय पर विचार करते समय एक बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। ढोरों की उत्पत्ति क्रिया में यदि उन्नति करके उनके आकार, प्रकार तथा शारीरिक नसल में यदि उन्नति कर दी जावे तो भी आगे चलकर उनकी सारी उन्नति देश की चारे की खपत पर निर्भर रहती है। निस्संदेह हिंदुस्तान के ढोरों में दूसरे देशों के ढोरों की अपेक्षा एक ख़ासियत होती है। जो कुछ थोड़ा सा चारा उन्हें मिल जावे उसी पर वे काफ़ी दिनों तक अच्छे बने रहते हैं और प्रत्येक किसान इस बात को सदैव ध्यान में रक्खे कि चारे की खपत की समस्या से स्वतंत्र होकर ढोरों में उन्नति कैसे हो। पर सार्वजनिक सिद्धांत यही है कि ढोरों की उन्नति चारे की खपत पर ही निर्भर रहती है। यदि गायों को उचित परिमाण में चारा न मिले तो एक तो उनके बछड़े अच्छे न पैदा होंगे और वह दूध भी ठीक न दे सकेंगी।

हिंदुस्तान में ढोरों की उत्पत्ति-क्रिया में उन्नति करने के लिए एक सुभीता है। चारे की कमी होने पर भी यहाँ अच्छे बछड़े पैदा कराने

के लिए अच्छे-अच्छे साँड़ पाये जाते हैं। इसके लिए विदेशों से साँड़ लाने की आवश्यकता नहीं। यद्यपि सभी राज्यों में लोगों का ध्यान इस विषय की ओर आकर्षित हो रहा है और सभी राज्यों में इस काम के लिए गोशालाएँ बनाई जा चुकी हैं।

उत्पति क्रिया के लिये अच्छी नस्ल के साँड़ प्राप्त करने में भारत जैसे ग़रीब देश के किसान असमर्थ हैं। इससे सरकार को ही इसकी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेनी चाहिए।

अब यहाँ हम हिंदुस्तान के कुछ मुख्य-मुख्य स्थानों के ढोरों की उत्पत्ति क्रिया के विषय में लिखते हैं ताकि सर्वसाधारण को इस विषय का कुछ अधिक ज्ञान प्राप्त हो जावे। पंजाब सरकार का ढोरों का उत्पत्ति विभाग हिसार में है और ब्रिटिश भारत में हिसार इस कार्य का सबसे बड़ा व पुराना स्थान है। उसकी स्थापना सन् १८०६ ईस्वी में हुई थी। पहले यहाँ ऊँटों की अच्छी नसलें पैदा कराने का काम किया जाता था। उसके बाद ढोरों व घोड़ों के उत्पन्न कराने का काम शुरू हुआ किन्तु सन् १८५० ई० से केवल ढोरों की उत्पत्ति कराने में ही यह संस्था अधिक ध्यान दे रही है। कुछ घोड़े, गधे, ख़च्चर तथा भेड़ों के सिवा हिसार में ढोरों की संख्या ५५०० से ६००० तक है। क़रीब तीन-तीन वर्ष के तीन चार सौ जवान बछड़े सालाना बेंचे या नीलाम कर दिये जाते हैं। इन्हें बहुधा डिस्ट्रिक्टबोर्ड लेकर किसानों तक पहुँचाते हैं। हिसार की इस संस्था से पंजाब के लोगों को ढोरों की नसल में उन्नति कराने में बहुत सहायता मिलती है।

उत्तर प्रदेश में ढोरों की अच्छी नसलें पैदा करने के लिए इस समय दो स्थान हैं। एक तो मथुरा के निकट माधुरी कुंड नामक स्थान है। यहाँ हिसार साँड़ व मुर्रा भैंसे के नसलें पैदा की जाती हैं। दूसरा खेरी ज़िले में मंझरा नामक स्थान है। यहाँ सहीवाल व ख़ैरागढ़ साँड़ तथा मुर्रा भैंसे की नसलें पैदा की जाती हैं। आस-पास के किसान इन दोनों

स्थानों से यथाशक्ति लाभ उठाते हैं। सरकार द्वारा ७½ रुपये सैकड़ा सालाना दर से उन्हें तक़ावी मिलती है ताकि वे लोग इन दोनों स्थानों के साँड़ों से लाभ उठा सकें।

बंबई में इस काम के लिये दो स्थान हैं। उत्तर गुजरात में चरोदी नामक स्थान, जहाँ कंकरेज नसल पैदा की जाती है। दक्षिण महाराष्ट्र प्रदेश में बाकापुर नामक स्थान जहाँ अमृतमहल नामक नसल तैयार की जाती है। बम्बई राज्य में कुछ अच्छे-अच्छे साँड़ पिंजरापोल, गौशाला व इस विषय की सहयोगी संस्थाओं को इसी मार्ग में उन्नति करने के लिए दिये जाते हैं व उनसे यह शर्त करा ली जाती है कि उन साँड़ों का दुरुपयोग न किया जावेगा। पर बंबई जैसे विशाल प्रदेश में इन से ही काम नहीं चल जाता। राज्य भर के बहुत से तालुक़ों में ढोरों की अच्छी नसलें तैयार करने के लिए स्थान बनाये जावें और उन स्थानों में राज्य के केन्द्र स्थान से साँड़ मंगाये जावें।

मध्य प्रदेश में यद्यपि कई संस्थाएँ हैं, जिन में से दो लगभग २५ वर्षों से हैं पर इस प्रदेश में अच्छे साँड़ों की उत्पत्ति, जिनकी अच्छी संतान हों, बहुत कम है। इस राज्य की अवस्थाएँ ही कुछ ऐसी हैं जिससे इस विषय में उन्नति करने में कठिनाई पड़ती है। वहाँ केवल ग्वालो नामक नसल ही प्रसिद्ध है। अब इस राज्य में भी इस विषय में उन्नति करने की ओर लोगों तथा सरकार का ध्यान आकर्षित हुआ है। नागपुर के तेलिन खेड़ी नामक स्थान में सहिवाल नसल तैयार की जाने लगी है।

मद्रास में यद्यपि ग्वाले लोग ढोरों की नसलें बढ़ाने की चिंता करते थे पर किसानों को इस विषय में कोई विशेष उत्साह न था। हाल ही में वहाँ के सरकारी कृषि विभाग ने बंगलौर के पास होसुर नामक स्थान में इसका एक केन्द्र खोला है और वहाँ ओंगले का नगयाम और सिंधी नसल पैदा किये जाते हैं। नेलोर ज़िले में चिंताला देवी नामक स्थान

में ओंगले नसल तैयार की जाती है। गंतूर में भैंसे की नसलों में उन्नति की जाती है। कोयमबतोर में ऐरशायर, सिंधी व सहिवाल नसलें पैदा की जाती हैं।

मैसूर राज्य में अमृतमहल नसल पैदा की जाती है। मैसूर में यह काम १८ वीं शताब्दी के बीच से आरंभ हुआ है।

इस प्रकार से यद्यपि अब हिंतुस्तान में ढोरों की अच्छी व मज़बूत नसलें तैयार करने का काम जारी है पर हिंदुस्तान जैसे विशाल देश का काम इतने से नहीं चल सकता। बड़े-बड़े महाजनों को इस ओर भी अधिक ध्यान देना चाहिए। केवल कृषि-कार्य के लिए ढोरों की नसलें बढ़ाने की आवश्कता नहीं है। हिंदुस्तानी बहुधा शाकाहारी होते हैं व उन्हें माँस भक्षण से घृणा होती है। इससे लोगों की तन्दुरुस्ती बढ़ाने के लिए माँस के स्थान में दूध-घी की मात्रा बढ़ाना अत्यंत आवश्यक है। मनुष्य जितना ही अधिक तन्दुरुस्त होगा उसका उतना ही अधिक आर्थिक महत्व होगा और दूध-घी की मात्रा बढ़ाने के लिए गायों की नसलें भी बढ़ाना अत्यंत आवश्यक है। आजकल गायों के कमज़ोर व ठिगने होने के कारण दूध की पैदावार बहुत कम हो गई है व प्रति मनुष्य पीछे औसतन दूध की माँग अमेरिका, डेनमार्क, स्वीडन और स्वीट्ज़रलैन्ड आदि देशों से भी, जिन देशों में लोग आमतौर से माँस खाते हैं, कम हो गई है।

बीसवाँ अध्याय

खेती के मूलधन की उन्नति

इस अध्याय में हम यह बतायेंगे कि खेती-बारी के लिए भारतवर्ष में रुपये पैसे का प्रबंध कैसे होता है। इस देश में औसत दर्जे के किसान के पास बहुत थोड़ा-सा रक़बा होता है। यह हम कह चुके हैं तथा यह भी लोगों को मालूम हो चुका है कि भारतीय किसान बहुत ग़रीब होते हैं। यदि भारतीय किसान अपने खेतों में घनी (Intensive) खेती करे तो उस छोटे रक़बे से ही उसके व उसके कुटुंब के निर्वाह के लिए काफ़ी धन प्राप्त हो सकता है। पर घनी (Intensive) खेती तो तभी संभव है जब कि उस रक़बे की उन्नति करने के लिए या उसकी आबपाशी करने के लिए रुपये ख़र्च किये जावें। इस प्रकार मूलधन के लगाने से भारतवर्ष में खेती को बहुत फ़ायदा हुआ है। इस प्रकार के खेतों में स्थायी उन्नति करने के लिए किसान बहुधा अपना ही मूलधन लगाता है, चाहे वह अपनी कमाई की बचत में से लगावे या उधार लेकर। पर अब सरकार को भी अपनी इस ज़िम्मेदारी का ज्ञान हो गया है कि उसे किसानों को इस उन्नति-कर्म के लिए सस्ते से सस्ते सूद पर रुपया उधार देना चाहिए।

स्थायी मूलधन के सिवा किसान को मोट, ढोर, खेती के अन्यान्य महँगे औज़ारों व कभी-कभी मकान बनाने के लिए भी रुपये की आवश्यकता होती है। इसके सिवा अन्य व्यापारों की अपेक्षा खेती में भी बीज, खाद, ढोरों के चारा आदि रोज़ाना ख़र्च के लिए कुछ रुपयों की आवश्यकता होती है।

किसान को खेती के मामूली ख़र्चों के लिए बहुत सा रुपया गाँव के साहूकार से मिलता है। यह साहूकार उसे घरेलू काम या कुछ पूजापाठ तथा निजी व्यवहार के लिए भी रुपए उधार देता है। पर व्यवसाय के लिए दिए हुए रुपए व घरेलू काम के लिए दिए हुए रुपए में कुछ अंतर नहीं मानता। इसी प्रकार क़र्ज़दार किसान भी दोनों हिसाबों को अलग अलग नहीं रखता जैसा कि प्रत्येक बुद्धिमान् को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जितना धन खेती में लगाया गया है उससे अधिक उस खेती से उगाहना है और घरेलू काम के लिए अपनी आमदनी में से बचत करके ख़र्च करना चाहिए। इस लापरवाही का परिणाम यह होता है कि सब हिसाब-किताब गड़बड़ रहता है और बहुधा किसान क़र्ज़दार बना रहता है। और चूँकि खेती में लगाये हुए धन और घरेलू काम में लगाए हुए धन का अलग-अलग न तो साहूकार के पास हिसाब-किताब रहता है और न किसान के पास ही, इससे यह साफ़-साफ़ पता लगाया नहीं जा सकता कि कितना धन किसान ने अपनी खेती में उन्नति करने के लिए व कितना घर के लिए उधार लिया। आम राय यह है कि खेती के कामों के लिए उसके कर्ज़ का बहुत कम हिस्सा लगता है।

भारतवर्ष में साहूकारी

रुपए-पैसे उधार देना एक बहुत पुराना व्यवसाय है, अतः कर्ज़दार की भलाई के लिए और इस व्यवसाय के संचालन के लिए मनु के समय से आज तक नियम बनते चले आये हैं। साधारण दिनों में तो साहूकार लोगों की ज़रूरतों को पूरा कर देते थे, पर भारी अकाल के दिनों में उनके पास से काफ़ी धन न मिल सकता था और ब्रिटिश राज्य के पूर्व इस कमी को सामयिक व स्थानीय शासक पूरा करते थे। ब्रिटिश सरकार ने ऐसा कोई ख़ास काम नहीं किया जिससे उसे प्रजा-प्रियता का

गर्व हो सके। पुरानी प्रथा शुरू-शुरू में ब्रिटिश सरकार ने भी जारी रखी और किसानों को आबपाशी आदि कामों के लिए तक़ावी देने के नियम १७९३ ईस्वी में बनाये गए। इसके बाद भी कई बार इसी प्रकार के और नियम भी सरकार द्वारा बनाये गए। पर स्मरण रहे कि सरकार ने पुरानी प्रथा की त्रुटियों को दूर करने का कोई यत्न नहीं किया। उसने जो कुछ किया वह किसानों की कर्ज़दारी की समस्या को हल करने के लिए ही किया।

भारतवर्ष में कृषि-कर्म की उन्नति के लिए आवश्यक बातों की चर्चा पिछले अध्याय में कर चुके हैं। उनमें से कुछ ऐसी हैं जिनका संबंध केवल व्यक्तिगत किसान से रहता है व जिन्हें करने की सामर्थ्य व्यक्तिगत किसान के पास भी है। अच्छी खाद, अच्छे औज़ार, अच्छी जुताई इत्यादि इस प्रकार की उन्नति के उदाहरण हैं। इनके सिवा कृषि-कर्म अथवा ग्राम्य-जीवन की उन्नति के लिए बहुत सी ऐसी बातें हैं जैसे पक्का कुआँ बनाना, खेतों में घेरे रूँधना, पानी निकालने के रास्ते बनाना, जिनसे कि बहुत से किसानों को फ़ायदा होता है व जिनके लिए बहुत से धन की आवश्यकता होती है और जिनको यहाँ पर एक किसान नहीं कर सकता। फिर इसके सिवा किसी रेलवे स्टेशन या बड़े बाज़ार से संबंध करने के लिए अच्छी सड़कें बनाना, या पानी बहाने के लिए बड़ी-बड़ी नालियाँ बनाना जिससे खेतों के तत्व न बह जावें, या बीहड़ ज़मीन का सुधार करना आदि ऐसे बहुत से उन्नति के काम हैं जिनमें बहुत ख़र्च लगता है। इन कामों को डिस्ट्रिक्ट बोर्ड या सरकारी कृषि-विभाग जैसी कोई सार्वजनिक संस्था ही कर सकती है।

मूलधन वाले अध्याय में हमने उस संस्था के विषय में कुछ वर्णन करने की चेष्टा की है, जिसके द्वारा किसान अपनी खेती में मूलधन की व्यवस्था करता है। किसानों के ऊपर क़र्ज़े का बड़ा भारी बोझ लदा रहता है पर उस बोझ में से बहुत कम हिस्सा खेती की स्थायी उन्नति के

लिए लगाया जाता है। इस कर्ज का एक बहुत बड़ा भाग उनके निजी काम में ख़र्च हो जाता है। इसके विषय में १६२७ ईसवी की जाँच कमेटी ने, जिसका नाम उसके सभापति लिनलिथगो साहब के नाम पर लिनलिथगो कमीशन था, जाँच करके निम्नलिखित राय प्रकट की है— भारतवर्ष में बहुधा जो एक दीर्घ-काल के लिए क़र्ज़ा लिया जाता है उसे स्वयं अपने खेतों को गिरवी रखकर किसान लेते हैं। पहले जब ज़मीन सस्ती थी तो उसे रेहन करने पर अधिक रुपया नहीं मिलता था, पर अब चूँकि ज़मीन का मूल्य बढ़ चला है इससे अनुमान किया जाता है कि उसके पीछे क़ाफ़ी रक़म उधार मिल जाती होगी। पंजाब में इस विषय में १६२० ईस्वी में सविस्तार जाँच की गई थी। इसके अनुसार दख़ली रेहन में रखी हुई खेती की कुल ज़मीन के ऊपर ३५ करोड़ रुपये उधार दिए गए थे। औसत निकालने पर ऐसी ज़मीन पर प्रति एकड़ १२ रुपये से भी कम मिला था। यद्यपि दूसरे प्रांतो में प्रति एकड़ ज़मीन के दख़ली रेहन पर रुपयों का औसत इससे भी कम होगा, पर यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के रोज़गार में बहुत क़ाफ़ी बडी रक़म फँसी हुई है। जब हम यह ख़्याल करते हैं कि अंगरेज़ी क़ानून के चालू होने के पहले इस प्रकार कम रुपये फैलाये जाते थे तो हमारे लिए यह अनुमान कर लेना बहुत सहज हो जाता है कि ज़मीन पर किसानों का हक़ क़ायम हो जाने पर तथा उसका मूल्य बढ़ जाने पर उसका अमानती दाम कितना बढ़ गया। पंजाब में इसके बाद और जाँच करने से पता लगता है कि इस रेहन के ऊपर लिए हुए क़र्जे का एक बहुत छोटा हिस्सा खेती की उन्नति करने के लिए ख़र्च किया जाता था। इसके विरुद्ध कोई बात किसी प्रांत में देखने में नहीं आई है, और अब यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि रेहन के ऊपर लिए हुए रुपये में से बहुत कम खेती की उन्नति के लिए ख़र्च किया गया है। जब बिना रेहन के क़र्ज़ा अधिक बढ़ जाता है जिसके बाद साहूकार और

उधार देने में भलाई नहीं समझता है तब फिर किसान लाचार होकर खेती के मामूली काम के लिए अपनी ज़मीन रेहन रख कर रुपये उधार लेता है। जहाँ ज़मीन को रेहन रख कर रुपये उधार लिए गए वहाँ यही समझिए कि कोई कमज़ोर किसान किसी चालाक साहूकार के चँगुल में फँसा। इस तरह के कर्ज़े के भारी बोझ से वास्तव में खेती-बारी में बड़ी हानि होती है। इसका मुख्य कारण यही है कि क़र्ज़ के एक मुख्य ज़रिये से आया हुआ पैसा अनुत्पादक कामों में ख़र्च हो जाता है और उन्नति के लिए जो उधार मिलता है वह क्षीण होता जाता है।

अब नीचे हम यह बताना चाहते हैं कि किसानों के इस क़र्ज़े के बोझ को कम करनें के लिए, उनकी फ़ज़ूल ख़र्ची की आदत को छुटा कर उनमें स्वावलंबन के भाव उत्पन्न करने के लिए, व उन्हें कम ब्याज पर खेती की यथार्थ उन्नति करने के वास्ते रुपये देने के लिए क्या क्या उपाय किये गए हैं व उनका क्या परिणाम निकला है। ज्वाइन्ट स्टाक (Joint Stock) बैंक नामक संस्था की स्थापना इसीलिए हुई है। इसको हिंदुस्तानी में हम सहयोगीसंपत्ति बैंक कह सकते हैं। ऐसे बैंकों का संबंध बड़े-बड़े ज़मींदारों तथा उन लोगों से रहता है जिनके क़र्ज़ की अमानत के लिए प्रत्यक्ष दीखने वाले (Tangible) पदार्थ हों जो बाज़ार में शीघ्र बेचे जा सकें। सहयोगीसंपत्ति बैंक बहुधा गोदाम में रखे हुए अनाज की अमानत पर उधार देते हैं। इससे हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इन बैंकों से साधारण किसानों को कोई ख़ास फ़ायदा नहीं हुआ है और न हो सकता है।

हमारे पास कई ऐसे भी उदाहरण मौजूद हैं जब कि स्वयं पूजीपति लोग खेती में उन्नति करने का भार अपने ऊपर लेते हैं। उनके पास ख़ुद की तो ज़मीन होती नहीं पर वे उन्नति के लिए जो कुछ काम करते हैं उसके लिए किसानों से उनकी उपज का कुछ हिस्सा लेते हैं। पंजाब के नैऋत्य दिशा में अरोरा जाति के पूँजीपति लोग बहुधा अपने पैसे से

किसानों को खेती में आबपाशी के लिए उनकी उपज के कुछ हिस्से लेने की शर्त पर कुएँ खुदवाते हैं। इसके सिवा पंजाब में कुछ ग़ैर सरकारी नहरें भी हैं जो पूँजीपतियों ने किसानों के लाभ के लिए बनवाई हैं। अपनी नहर का पानी देकर वे लोग किसानों से उनकी उपज का कुछ हिस्सा—बहुधा एक चौथाई—लेते हैं। इसके सिवा प्रत्येक राज्य में पूँजीपति तथा साहूकार लोग किसानों से उनकी ज़मीन के हक़ को प्राप्त कर लेते हैं। इससे यह होता है कि भूमिधर इन लोगों के हाथों में अपनी ज़मीन देकर केवल साधारण किसान रह जाते हैं। यदि इस प्रथा से काफ़ी रक़म ज़मीन की उन्नति करने में ही लगाई जाती तो इसके विरुद्ध किसी को आपत्ति नहीं होती, पर ऐसा बहुत कम होता है। ये नए पूँजीपति या साहूकार उस प्राप्त हुई ज़मीन की उन्नति करने की ओर ज़रा भी ध्यान नहीं देते। उसका लगान ही वसूल करके संतुष्ट रह जाते हैं। जो किसान वास्तव में अपनी ज़मीन में पैसा लगाकर उसकी उन्नति करना चाहते हैं उनके सामने से, जहाँ तक हो, नए क़ानून बनाकर उनकी यथार्थ बाधाओं को दूर कर देना चाहिए। निजी आर्थिक शक्ति के सिवा ज्वाइंटस्टाक बैंक भी उन्हें रुपये उधार देने को तैयार रहता है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। फिर उन्हें तक़ावी भी मिल सकती है।

गरीब किसानों की सहायता करने के लिए सरकार ने भी कुछ क़ानून बनाए हैं। सन् १८८३ ईस्वी में लैंड इम्प्रूवमेंट लोन्स एक्ट (Land Improvement Loans Act of 1883.) और सन् १८८४ ईसवी में एग्रीकलचरल लोन्स एक्ट (Agricultural Loans Act of 1884.) नामक दो क़ानून सरकार द्वारा बनाए गये थे। लैंड इम्प्रूवमेंट लोन्स एक्ट के सहारे प्रांतीय सरकार द्वारा बनाए गये नियमों के भीतर किसान को सरकार से सीधा कर्ज़ मिल जाता है। इस कर्ज़ पर व्याज का दर वही होता है जो बाज़ार में साधारणतया पाया जाता है।

पर बहुत से किसानों को इस क़ानून का अब तक पता नहीं है जिससे साधारण जनता पूर्णरूप से इस क़ानून से लाभ नहीं उठा सकती।

इन सब के सिवा "लैंड मॉर्गेज बैंक" भी होते हैं जो किसानों को उनकी ज़मीन की अमानत पर रुपये उधार देते हैं। सच पूछिये तो खेतों में उन्नति करने के लिए मूलधन की बहुत अधिक कमी नहीं है। कमी तो इस बात की है कि लोग इस मूलधन को किसी उत्पादक कार्य में यथोचित रूप से लगावें।

एग्रीकलचरल लोन्स एक्ट के द्वारा भी प्रान्तीय सरकार किसानों को खेती के उन कामों से लिए रुपये उधार देती है जिनके लिए लैंड इम्प्रूवमेंट लोन्स एक्ट के द्वारा नहीं दिया जा सकता था।

एग्रीकलचरल लोन्स एक्ट के अनुसार केवल उन्हीं किसानों को उधार दिया जाता है जिनके पास खेती के लायक़ ज़मीन हो। और इस क़ानून के अनुसार बीज, ढोर, आदि ख़रीदने के लिए ही रुपया उधार दिया जाता है। अकाल के दिनों में इस क़ानून से ग़रीब किसानों को सहायता मिली है। इस क़ानून के अनुसार दिये गये कर्ज़ का ब्याज जहाँ तक हो सकता है कम होता है। किन्तु इस कानून से खेती की सारी ज़रूरतें दूर नहीं हो सकतीं। इसका ख़ास प्रयोग अकाल के ही दिनों में होता है। आजकल सहयोगी बैंकों के द्वारा इस क़ानून का काम किया जा रहा है, क्योंकि सहयोगी बैंकों से खेती की सारी आर्थिक ज़रूरतें पूरी हो जाती हैं। पर जब तक सहयोगी बैंक कम-ख़र्ची की ओर लोगों का ध्यान न करा देवे और सहयोगी बैंकों के वसूलों का ख़ूब प्रचार न हो जावे तब तक इस क़ानून का बना रहना बहुत ज़रूरी है।

अब यहाँ पर हम किसानों के ऋणी बने रहने के विषय में कुछ और कह देना उचित समझते हैं। किसान अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिये रुपये तो लेता ही है साथ ही वह बहुधा भोग-विलास के लालच में भी पड़कर कर्ज़ लेता है। उधार लेने से ही कर्ज़ नहीं बढ़ता पर असल

में उस उधार को न छुटा सकने के कारण ही उसका कर्ज़ पड़ा रह जाता है। जैसे क़र्ज़ लेने के बहुत से कारण थे वैसे ही क़र्ज़ न छुटा सकने के भी बहुत से कारण उपस्थित हो जाते हैं। क़र्ज़ देनेवाला मुख्यत: अपने लाभ के लिए ही देता है। क़र्ज़दारों की लाचारी का वर्णन हिंदुओं की मनुस्मृति में, मुसलमानों के क़ुरान शरीफ़ में, व ईसाइयों की पवित्र बाइबिल में मिलता है। तात्पर्य कहने का यह कि क़र्ज़दारों की लाचारी हालत एक बहुत पुरानी बात है और इस समस्या ने पूर्व और पश्चिम सभी देशों के शासकों को परेशान कर रखा है तथा इसके दूर करने के लिए सभी देशों के शासकों ने भरसक प्रयत्न किए हैं व करते जा रहे हैं। क़ानून में उन्नति हो रही है, व्यापार वाणिज्य में उन्नति हो रही है, कचहरी अदालत में उन्नति हो रही है, सहयोगी संस्थाओं में उन्नति हो रही है; पर सब प्रकार की उन्नति होते रहने पर भी भारत में यहाँ के असली मालिक व अन्नदाता देहाती किसानों की शिक्षा में उन्नति नहीं हो रही है, क्योंकि अंग्रेजीफ़ौज, सिविलसर्विसवालों की पेंशन और कमीशन पर कमीशन बैठाने से इस काम के लिए रुपया नहीं बचता। परिणाम इस अशिक्षा का यह होता है कि किसानों में इतनी बुद्धि नहीं होती जिससे वे अपने सारे कर्ज़ का अलग-अलग हिसाब-किताब—कि कितना खेती के लिए लिया गया था और कितना निजी काम के लिए लिया गया था—आदि का ब्योरा रखें। वर्षों से वह इस ग़रीबी को निभाता आ रहा है और कई बार उसे अकाल का सामना करना पड़ा है। अशिक्षा के कारण वह अपनी ग़रीबी के कारणों से व उनके दूर करने के उपायों से बहुधा अनभिज्ञ रहता है। इसी से उसके क़र्ज़ का बोझ दिनों दिन बढ़ता चला जाता है।

क़र्ज़ बढ़ने के उपरोक्त कारणों के सिवा अन्यान्य कारण भी हैं। ग़रीब किसानों को उनके परिश्रम का दाम जितने अधिक विलम्ब में मिलता है उतना ही अधिक उन्हें उधार लेने की आवश्यकता पड़ती है।

उधार न ले तो फिर वह खावे ही क्या ? उसके पास कोई बपौती पूँजी तो जमा नहीं है। बाप-दादे बिचारे भी उसी की तरह ग़रीब थे। सो वे उसके लिये कहाँ से पूँजी जमा कर जाते। यदि किसानों को माहवारी या हफ़्तेवारी मज़दूरी मिलती जाती तो उन पर कर्ज़ का बोझ इतना न बढ़ता। पर यहाँ तो प्रत्येक फ़सल के बाद ही, अथवा छः-छः महीने में, या यदि किसी किसान के खेतों में एक ही फ़सल होती हो तो पूरे बारह महीने में उसे उसकी मेहनत का दाम मिलता है।

किसानों की कर्ज़दारी का एक और भी कारण है। साधारण शिक्षा तो उनमें रहती नहीं, भला क़ानून का ज्ञान उन्हें कहाँ से हो। उन पर ख़ुद के क़र्ज़ का बोझ तो लदा ही रहता है, पर बहुधा किसानों पर बपौती क़र्ज़े का भी बोझ आ पड़ता है। क़ानून तो यह कहता है कि लड़का बाप से जितनी सम्पति पावे वहीं तक वह बाप के क़र्ज़ का देनदार हो। और अगर बाप ने किसी अव्यवहारी काम के लिए उधार लिया हो तो लड़का ऐसे उधार का हर्गिज देनदार नहीं है। पर अशिक्षा के कारण हिन्दुस्तानी किसान इस डर से कि क़र्ज़े के पाप से मेरा बाप दूसरे जन्म में साहूकार के घर में औरत या बैल या गुलाम की योनि में पैदा न हो जावे, बाप का सारा क़र्ज़ क़बूल कर अपने ऊपर उसके चुकता कर देने की ज़िम्मेदारी ले लेता है। बहुत से लोगों की राय है कि बपौती क़र्ज़दारी वर्तमान किसानों की क़र्ज़दारी का एक प्रधान कारण है।

किसानों की इस विपत्ति को दूर करने के लिए नीचे लिखी हुई बातें अत्यंत आवश्यक हैं। ज़मीन का लगान कम कर दिया जावे ताकि लोगों को उधार लेने का बहुत कम मौका मिला करे, सरकार द्वारा क़र्ज़ देने की प्रथा बढ़ाई जावे, सहयोगी संस्थाओं का ख़ूब प्रचार किया जावे तथा सब से ज़रूरी उपाय यह है कि किसानों में यथोचित शिक्षा का प्रचार किया जावे ताकि वे कम-ख़र्ची का महत्व समझ सकें जिससे कम ख़र्च में ही उन्हें अधिक लाभ हो। जब तक इन संस्थाओं का पूरा-पूरा प्रचार

न हो जावे तब तक देहात के साहूकारों को दूर न किया जावे, क्योंकि आजकल यही साहूकार खेती की आर्थिक आवश्यकताओं को वास्तव में पूरा करते हैं। सहयोगी संस्थाओं के प्रचार से वे साहूकार आप ही दूर हो जावेंगे या अपना व्यवसाय उचित रीति से तथा ग़रीब किसानों का ध्यान रख कर चलाना आरम्भ कर देंगे।

हिन्दुस्तान में पहले सहयोगी संस्थाओं का आरम्भ सरकार ने १६०४ ईस्वी में किया था। चूँकि जनता को पहले सहयोगी संस्थाओं का अनुभव नहीं था इससे उसे इस विभाग के सरकारी अफ़सरों पर इन संस्थाओं के संचालन करने के लिये निर्भर रहना पड़ता था। हिंदुस्तान की सहयोगी संस्थाओं के विषय में तीन बातों पर ध्यान देना चाहिये—पहले इन सहयोगी संस्थाओं का काम केवल रुपये उधार देना निश्चय किया गया था। अब सभी आलोचकों की यही राय है कि उसकी यह नीति उचित ही थी। चूँकि यह बात हिंदुस्तान में नई थी इससे जब तक पूरा अनुभव प्राप्त न हो जावे तब तक धीरे-धीरे तथा नियमित क्षेत्र में ही काम करना उचित था। उन दिनों में इस विषय में अधिक साहित्य भी नहीं था। इससे इस ओर धीरे-धीरे ही उन्नति हो सकी थी। इस प्रकार पहले ये संस्थाएँ बहुधा कृषि-कर्म के लिये रुपये उधार देने का ही काम करती थीं।

हिन्दुस्तान की सहयोगी संस्थाओं के विषय में दूसरी बात यह है कि ये संस्थाएँ जनता के कहने से नहीं खोली गई थीं। जापान की तरह यहाँ की सरकार ने भी लोगों की अवस्था में सुधार करने के लिए इसके विषय में अपनी ही ओर से क़ानून बनाया। क़ानून बना लेने के बाद जन साधारण को ऐसी सहयोगी संस्थाओं के हानि लाभ का ज्ञान हुआ।

फिर तीसरी बात यह है कि चूँकि इस क़ानून को सरकार ने ही पहले अपनी ओर से बनाया इससे सरकार ने ही इसके लिये अपनी

ओर से एक विभाग खोला। फिर धीरे-धीरे जनता का भी ध्यान इस ओर आकर्षित किया जाने लगा। हम कह चुके हैं कि सहयोगी संस्था वाले पहले क़ानून के अनुसार केवल रुपये उधार देने वाली सहयोगी संस्थाओं का प्रचार हुआ। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के आर्थिक व्यवहारों का काम नहीं आरम्भ किया गया। इसकी पूर्ति सन् १९१२ ईस्वी में एक दूसरा क़ानून बनाकर की गई। यद्यपि अब ऐसी संस्थाएँ जिन्हें कोआपरेटिव सोसायटी कहते हैं अन्य प्रकार के आर्थिक व्यवहार करती हैं पर मुख्यत: उनका काम रुपये उधार देना ही रहता है। इसके कुछ कारण हैं। एक तो यह कि ग़रीब किसानों को अवश्य ही क़र्ज़ लेना पड़ता है और साहूकारों का व्याज का दर बहुत ऊँचा होता है। साहूकारों के मूलधन का ब्याज चुकता करने में ही बहुत से किसानों की सारी उपज ख़तम हो जाती है। फिर सहयोगी संस्थाओं द्वारा उधार लेने से किसानों में मितव्ययता की आदत पड़ती है व फ़िज़ूल ख़र्ची की आदत दूर हो जाती है क्योंकि ये संस्थाएँ बहुधा उत्पादक व कुछ अत्यंत आवश्यक कार्यों के लिये क़र्ज़ देती हैं।

यद्यपि ये संस्थाएँ पहले सरकार द्वारा ही कायम की गई थीं पर अब लोगों को इनकी उपयोगिता दिन-दिन मालूम होती जा रही है व उनका विस्तार दिन-दिन बढ़ता जा रहा है।

सन् १९५५-५६ में कृषि सहकारी समितियों की संख्या १ लाख ९८ हजार थी और इनके सदस्यों की संख्या १ करोड़ १२ लाख थी। यदि यह मान लिया जाये कि भारतीय परिवार में औसतन ५ व्यक्ति होते हैं तो ५ करोड़ ३० लाख व्यक्तियों को सहकारी आन्दोलन से लाभ हो रहा है। यह ग्रामीण जनता का करीब एक पंचमांश अर्थात् २० प्रतिशत से कम है। सहकारी विभाग के ५० वर्षों के प्रयत्नों का यह फल है। कृषि सहकारी समितियों में करीब ८० फी सदी कर्ज देने वाली

समितियाँ हैं। इनका सन् १९५५-५६ का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

औसत सदस्यों की संख्या (प्रतिसमिति)	४६
प्रतिसमिति औसत शेअर पूंजी	: १०५१ रु०
प्रति सदस्य औसत शेअर पूंजी	: २२ ,,
प्रतिसमिति लगभग जमा रक़म	: ४४१ ,,
प्रति सदस्य औसत जमा रक़म	: ६ ,,
प्रतिसमिति औसत कार्यकारी पूंजी	: ४६४६ ,,
प्रति सदस्य औसत कार्यकारी पूंजी	: १०२ ,,

उपर्युक्त तालिका से ज्ञात होता है कि प्रति सदस्य औसत शेयर पूंजी, औसत जमा रक़म, और कार्यकारी पूंजी बहुत ही कम है। सहकारी समितियों को अपने पैरों पर खड़ा करने के लिये यह आवश्यक है कि इसमें अधिक से अधिक रक़म आकृष्ट करने के लिये बराबर प्रयत्न किये जावें।

नीचे की तालिका संख्या ४ में भारत के प्रधान राज्यों की सन् १९५०-५१ की सहकारी समितियों की संख्या, सदस्यों की संख्या तथा कार्यकारी पूंजी की रक़म दी जाती है—

तालिका संख्या ४—१९५१ में सहकारी समितियाँ, सदस्यों की संख्या और कार्यकारी पूँजी

	राज्य: १९५७ के पहले के	जन-संख्या (लाख में)	समितियों की कुल संख्या (हजार में)	प्राथमिक समितियों की सदस्यों की संख्या (लाख में)	प्रति १००० व्यक्ति पर प्राथमिक समितियों के सदस्यों की संख्या	कार्यकारी पूँजी (लाख रुपयों में)
१	आसाम	९०	३	३	३१·६	१९६
२	बिहार	४०२	१५	६	१५·८	५२·०
३	बम्बई	३५९	१६	२२	६२·५	८३००
४	मध्यप्रदेश और बरार	२१२	१०	४	१९·८	९७२
५	मद्रास	५७०	२४	३४	५९·३	८५३२
६	उड़ीसा	१४६	५	३	१९·४	४२७
७	पंजाब और पाटियाला	१८८	१६	७·५	६१·०	१५०७
८	उत्तर प्रदेश	६३२	३६	१७·	२७·०	२३०३

९	पश्चिमी बंगाल	२४८	१५	६	३७'८	१७७८
१०	हैदराबाद	१८६	१५	१५	७८'३	१०१३
११	मध्यभारत और विंध्यप्रदेश	११५	७'५	२	५२'०	४१७
१२	मैसूर	६१	५	५	५४'४	६६०
१३	राजस्थान	१५३	३	१	६२'०	२२८
१४	सौरा ष्ट्र	४१	१	'५	१०'१	५१
१५	ट्रावनकोर कोचीन	६३	३	४'	३८'०	२६५
१६	हिमांचल प्रदेश	१०	१	'४	२४'०	२१
१७	भारत का शेष भाग	४६'३	६	४'	३८६	३५८
	सम्पूर्ण भारत	३५८२'३	१८१'५	१३७	३८'४	२७५८

इस तालिका से पता लगता है कि राजस्थान, बंबई और मद्रास तथा पंजाब राज्यों में प्राथमिक समिति के सदस्यों की संख्या अधिक है। बंबई में धारवाड़ ज़िले और पंजाब प्रांत के जालंधर ज़िले में वहाँ की जनता के एक चौथाई हिस्से का तथा मद्रास के दक्षिण कनाडा ज़िले में वहाँ की जनता के पाँचवें हिस्से का सम्पर्क सहयोगी संस्थाओं से है। अब तो सहयोगी संस्थाओं का ज्ञान लोगों में बढ़ रहा है, मित-व्ययता या कमख़र्ची की आदत पड़ रही है, पैसे के उपयोग व बैंकों के सिद्धांतों की शिक्षा दी जा रही है। जहाँ सहयोगी संस्थाएँ अच्छी तरह स्थापित हो चुकी हैं वहाँ साहूकारों के ब्याज का दर काफ़ी घट गया है और उनके शिकंजे कमज़ोर पड़ गये हैं। इस प्रकार कुछ सहयोगी संस्थाओं में काफ़ी उन्नति हो चुकी है। पर तो भी इस विषय में और भी उन्नति करने के लिए बहुत स्थान पड़ा हुआ है। इन संस्थाओं से केवल आर्थिक लाभ ही नहीं होता साथ ही लोगों की नैतिक उन्नति भी होती है।

केवल क़र्ज़ देने वाली सहयोगी संस्थाओं में बहुत से दोष भी पाये जाते हैं व उनकी उपयोगिता को बढ़ाने के लिए उन दोषों को दूर करना अत्यंत आवश्यक है। उन दोषों को दूर करने का सबसे मुख्य उपाय सहयोगी संस्थाओं के सिद्धांतों का अधिकाधिक प्रचार करना ही है। उक्त विषयक शिक्षा के अभाव से ही उन संस्थाओं में बुराइयाँ भरी हुई हैं।

---

*इन संस्थाओं की तरक्की के उपाय ग्राम्य-सुधार शीर्षक-अध्याय में बताये जावेंगे।

इक्कीसवाँ अध्याय

किसान के भूमि-सम्बन्धी क़ानून

देश-देश में अपनी-अपनी व्यावसायिक, आर्थिक, सामाजिक तथा अन्यान्य अवस्थाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के क़ानून चालू रहते हैं। इसी प्रकार भारतवर्ष में भी राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक पहलू के अनुसार अमीर व ग़रीब सभी के लिए सरकार द्वारा क़ानून बनाए गए

कसी देश के जन-साधारण के दैनिक व्यवहारों जैसे जीवन-निर्वाह के लिए परिश्रम करना, उस परिश्रम का मूल्य प्राप्त करना, फिर उस धन से अपनी नित्य की आवश्यकताओं को पूरा करना इत्यादि के लिए उस देश के आर्थिक क़ानून बड़े महत्व के होते हैं। यहाँ जितने मुख्य-मुख्य प्रकार के क़ानून बनाए गए हैं जैसे उत्तराधिकार के क़ानून, काश्तकारी के क़ानून, खान सम्बंधी क़ानून या अन्य व्यापार केंद्रों में काम करने व मज़दूरों के संबंध के क़ानून, रुपए उधार देने के क़ानून, ज्वाइंट स्टाक बैंक या सहयोगी बैंक आदि बनाने के क़ानून, इन सब का मनुष्य के आर्थिक जीवन पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए हिंदुओं तथा मुसलमानों के उत्तराधिकार के क़ानूनों को ही देखिए। इन पर देश में बड़े-बड़े रोज़गार क़ायम करना निर्भर है क्योंकि जिसके पास जितनी संपत्ति रहेगी व उस संपत्ति को जितने अधिक दिनों तक काम में रखने का उसे अधिकार होगा उसी के अनुसार ही वह उसे किसी छोटे-मोटे रोज़गार में लगावेगा। हमारे देश के धार्मिक व सामाजिक व्यवहार साम्यवाद के भाव से भरे हुए हैं। तभी यहाँ उन व्यवहारों के आधार पर एक ही आदमी के पास सारा धन इकट्ठा रखने के विरुद्ध नियम बनाए गए हैं। हिंदुओं में बपौती धन लड़कों में बराबर-बराबर

बँट जाता है। किन्तु स्वयं अर्जित धन के संबंध में पुरुष को किसी को भी इच्छा अनुसार दे देने का अधिकार है पर बहुधा वह धन भी वंशजों में ही बँट जाता है। मुसलमानी क़ानून इससे भी आगे बढ़ा हुआ है। वंश की पैत्रिक संपत्ति केवल वंश के क़तार में पुरुषों को ही नहीं मिलती वरन् स्त्रियों को भी मिलती है। परिणाम यह होता है कि यदि किसी आदमी के पास किसी समय कोई बड़ा सा व्यवसाय रहा तो उसके मरने के बाद उस व्यवसाय का सारा मूलधन उसके वंशजों में वंशावली के अनुसार टुकड़े-टुकड़े होकर बँट जाता है। इन वंशजों में कोई तो कुछ व्यवसाय करना चाहता है और कोई कुछ। पर हमारे इस क़ानून की बुराई हमारे यहाँ की खेती-बारी में और भी अधिक झलकती है। क्योंकि एक तो व्यवसायी लोगों में फूट के उतने कारण नहीं होते जितने कि किसानों में होते हैं। फिर खेती पेशेवालों की अपेक्षा व्यापार पेशेवाले कुछ अधिक समझदार होते हैं। भारतवर्ष में खेती-बारी ही सबसे मुख्य व्यवसाय है और हम इस व्यवसाय में लगभग ७० फ़ीसदी से भी कुछ अधिक लोगों को लगा हुआ देखते हैं। उपरोक्त क़ानून से खेती में होनेवाली बुराई का एक उदाहरण लीजिए। आगरा ज़िला, तहसील फ़ीरोज़ाबाद के विजयपुर गाँव में एक धनवान् किसान था। उसके पास १८ बीघे ज़मीन, एक हल और एक जोड़ी बैल था। वह उस रक़बे में अपना ही बीज आदि मूलधन लगाकर खेती कर लेता था व उसे महाजन के पास जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। उसके मरने के बाद उसके तीन लड़कों ने उसकी ज़मीन को आपस में बाँट लिया। परिणाम यह हुआ कि तीनों को अपना-अपना हल व बैल रखना पड़ा। बाप ने इतना धन तो अवश्य छोड़ दिया था कि जिससे उस रक़बे पर एक किसान खेती कर सकता था। पर उसकी छोड़ी हुई संपत्ति इतनी नहीं थी जिससे तीन किसान अलग-अलग खेती कर सकें। इससे उन तीनों किसानों को अपनी खेती के ख़र्चे

के लिए महाजन की शरण लेनी पड़ी। फिर उनका निर्वाह छः-छः बीघे में न हो सका। इससे कुछ शिकमी ज़मीन भी लेनी पड़ी। फिर इतनी सारी ज़मीन के लिए उन्हें बीज भी महाजन से क़र्ज़ लेना पड़ा। इस सब घटती का क्या कारण हो सकता है इसका हम यहाँ पर विचार करेंगे। वे उन्हीं उपायों को काम में लाते हैं जो उनके बाप-दादे काम में लाते थे। सब बातें तो वही हैं। कदाचित् कोई यह कहे कि चूँकि उन्होंने कुछ ज़मीन शिकमी काश्त पर ली इसी से उनकी यह हालत हुई। पर यह बात नहीं हो सकती। क्योंकि इन्हीं की तरह सैकड़ों शिकमी काश्तकार हैं जो मज़े से अपनी काश्तकारी चला रहे हैं। पर जब कुछ काश्तकारों में आपस में बँटवारा हो जाता है और बपौती ज़मीन के टुकड़े-टुकड़े करके सब काश्तकार अलग-अलग काश्तकारी करने लगते हैं तो वे प्रतिवर्ष क़र्ज़दार व ग़रीब होते जाते हैं। इसलिए उन तीनों की ग़रीबी का कारण ज़मीन का इस तरह से बटवारा होना ही है। इस प्रथा से ज़मीन केवल टुकड़े-टुकड़े ही नहीं हो जाती है, साथ-ही-साथ किसानों की क़र्ज़दारी भी बढ़ती जाती है। यदि वह ज़मीन सारे मूलधन के साथ केवल एक ही भाई को मिली तो कम से कम एक तो समृद्धिशाली किसान दिखलाई पड़ता। अर्थशास्त्र तथा कृषि-कर्म के दृष्टिकोण से एक समृद्धिशाली किसान तीन क़र्ज़दार किसानों से कहीं अच्छा है।

इतना ही नहीं, हमारे देश के उत्तराधिकार संबंधी नियमों के कुछ और परिणाम देखिए। इन नियमों से केवल यही नहीं होता कि ज़मीन टुकड़े-टुकड़े हो जावे और वह प्रति किसान को अर्थशास्त्र के सिद्धांत के विपरीत परिमाण में मिले जिसके कारण खेती-बारी में उन्नति करने में बाधा पहुँचे, पर साथ ही इन्हीं नियमों के फलस्वरूप किसान के खेत गाँव भर में या दो तीन गाँवों में बिखर जाते हैं जिसकी बुराई का वर्णन हम पिछले अध्यायों में कर चुके हैं। जब तक यहाँ के उत्तराधिकार के

नियमों में परिवर्तन न हो जावेगा तब तक चाहे कोई कितना प्रयत्न क्यों न करे यहाँ के खेतों की चकबन्दी करने में सफलता नहीं मिल सकती।

इसी प्रकार हमारे देश के कुछ क़ानूनों का यहाँ के निवासियों के आर्थिक जीवन से इतना घनिष्ट सम्बंध है कि जब तक कोई जिज्ञासु उन क़ानूनों का ज्ञान प्राप्त न कर ले तब तक वह इस देश के श्रमजीवियों के श्रम तथा उनके जीवन का यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। अब हम ऐसे ही कुछ कानूनों पर विचार करते हैं।

काश्तकारी के हिसाब से भारतवर्ष के दो भाग हो सकते हैं। एक भाग वह जहाँ तीन भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्ति एक साथ पाये जाते थे और उन तीनों का वहाँ की ज़मीन के साथ और आपस में संबंध होता था। ये तीन प्रकार के व्यक्ति सरकार, ज़मींदार या मालगुज़ार और किसान होते थे। इस स्थान को ज़मींदारी स्थान कहते थे। दूसरे वह जहाँ कि ज़मीन के ऊपर दो मनुष्य समूहों का आपस में संबंध होता है—सरकार और किसान। इसको रैय्यतवारी स्थान कहते हैं। बंगाल, आसाम, बिहार और उड़ीसा, मध्यप्रदेश, उत्तर-प्रदेश, और पंजाब प्रान्त में ज़मींदारी गाँव पाये जाते थे। मद्रास, बम्बई और बरार में रैय्यतवारी गाँव हैं। ज़मींदारी स्थानों में यद्यपि सरकार ने ज़मींदारों और मालगुज़ारों को उन हिस्सों का पूरा मालिक नहीं बना दिया था, पर व्यवहार में ज़मींदार और मालगुज़ार अपने-अपने हिस्से से पूरे मालिक की तरह फ़ायदा उठाते थे। वे अपनी ज़मींदारी बाप-दादों से हिंदू या मुसलमान क़ानून के अनुसार प्राप्त करते थे। उसे वे बेच सकते थे और रेहन रख सकते थे। हाँ, उनके अधिकार दो प्रकार से नियमित रहते थे। एक यह कि सरकार ने जो मालगुज़ारी उनकी ज़मीन पर लगा दी थी उसके अनुसार उन्हें सरकारी मालगुज़ारी अवश्य देनी पड़ती थी, और दूसरे यह कि उनसे नीचे के किसानों को क़ानून में जो हक़ मिले थे उन हकों का उन्हें पूरा-पूरा ख़्याल रखना पड़ता था।

भारत के उन भागों में जहाँ जमींदारी प्रथा प्रचलित थी, उन में से आसाम, बंगाल, बिहार और उत्तरप्रदेश के बनारस डिवीज़न में मालगुजारी हमेशा के लिए निश्चित कर दी गई थी। इस प्रथा का क्या आर्थिक प्रभाव पड़ा, इस प्रश्न पर अब हम विचार करते हैं।

स्थायी बन्दोबस्त

सन् १८६० के लगभग बंगाल के गवर्नर लार्ड कार्नवालिस ने सरकार की ओर से भारत के कुछ भागों में मालगुजारी की रकम हमेशा के लिए निश्चित कर दी। यह रकम किसानों से उस समय वसूल किए जाने वाले लगान की नब्बे फी सैकड़ा थी। इस बन्दोबस्त से सरकार को बँधी हुई रकम मिलने लगी और फिर हर साल के झंझट से छुट्टी हो गई। इसके अलावा सोचा गया कि हमेशा के लिए बन्दोबस्त हो जाने पर जमींदार किसान की पढ़ाई लिखाई, तन्दुरुस्ती, सफाई आदि का इन्तजाम करेंगे, लेकिन स्थायी बन्दोबस्त हो जाने की वजह से खेती में उन्नति होने पर सरकार की आमदनी नहीं बढ़ सकती थी। सन् १८६० से जमीन की पैदावार बहुत बढ़ गई है तथा जमींदार लगान के रूप में किसानों से उस समय की बनिस्बत कई गुना रुपया वसूल कर रहे थे, लेकिन सरकार को एक पाई ज्यादा नहीं मिली। आजकल देश की उन्नति तथा भलाई करने के लिए रुपये की बड़ी जरूरत है। कुछ जमींदार दयालु और परोपकारी अवश्य थे, लेकिन जो आशा की गई थी कि ऊपर बताये बन्दोबस्त के बाद वे लोगों की शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की उन्नति करेंगे वह बिलकुल पूरी नहीं हुई।

बंगाल का फ़्लाउड कमीशन :—१६४० में बंगाल सरकार ने श्रीफ़्लाउड महोदय की अध्यक्षता में वहाँ के जमीन बन्दोबस्त के सम्बन्ध

में एक जाँच कमीशन बिठाया था। इस कमीशन की राय यह है कि बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त से भूमि के प्रबन्ध और खेती में कोई सुधार नहीं हुआ। जमींदारों की जैसी आशा की जाती थी कि वे अपनी जमींदारियों की ओर ध्यान देंगे, ऐसा कुछ नहीं किया और उस प्रथा से किसानों की बहुत हानि हुई। वे भी भूमि तथा खेती की उन्नति नहीं कर पाते, साथ ही प्रादेशिक सरकार की एक बहुत बड़ी हानि यह हुई है कि उसकी मालगुजारी से होने वाली आमदनी सदैव के लिए निश्चित हो गई। वह कभी भी बढ़ाई नहीं जा सकती। कमीशन का अनुमान था कि आज के हिसाब से बंगाल में मालगुजारी लगाई जावे तो बंगाल को कई करोड़ रुपया का लाभ हो। अतएव कमीशन की राय थी कि बंगाल में जमींदारी प्रथा नष्ट कर दी जाये और अस्थायी बन्दोबस्त तोड़ दिया जावे। सरकार जमींदारों को बदले में रकम देकर उनसे जमींदारी ले ले।

अस्थायी बन्दोबस्त

भारत की अन्य जगहों में अस्थायी बन्दोबस्त है, अर्थात् वहाँ पचीस या तीस साल के लिए मालगुजारी निश्चित की जाती है। इसके बाद फिर से जमीन की जाँच की जाती है तथा उपज का अनुमान लगा करके मालगुजारी ठीक की जाती है। ज़्यादातर यह देखा गया है कि हर नये बन्दोबस्त के साथ मालगुजारी का भार बढ़ता ही रहता है। सरकार सीधे किसान से लगान वसूल करती है। किसान और सरकार के बीच में कोई जमींदार नहीं होता है।

सरकारी मालगुजारी नगद रुपयों में ली जाती है, अनाज वगैरह में नहीं। जिस साल पानी कम बरसता है या ओला, पाला, पड़ता अथवा टिड्डी आदि लग जाती है, उस साल फ़सल खराब हो जाती है, मालगुजार का कुछ हिस्सा माफ कर दिया जाता है। लोगों की शिका-

यत है कि छूट नुकसान के हिसाब से कम होती है। मालगुजारी की दर निश्चित करने की जो नीति बम्बई में चालू है वह सबसे अच्छी कही जाती है। वहाँ पर यह जानने की कोशिश की जाती है कि बन्दोबस्त के समय जो उपज हुई, उसकी कीमत क्या थी और उस उपज को पैदा करने के लिए क्या खर्च बैठा था। उपज की कीमत से यह खर्च निकाल कर जो बचता है उसका लगभग आधा भाग आगामी बन्दोबस्त तक के लिए मालगुजारी निश्चित की जाती है। किसानों को यह शिकायत रहती है कि उपज की कीमत बढ़ाकर और लागत खर्च घटाकर हिसाब लगाया जाता है। कहा जाता है कि इससे किसानों को पूरी मजदूरी भी नहीं मिल पाती, किसानों के कई महीने भूखे रहने का कारण यह भी है।

जमींदार और किसान

भारत में पूर्वी पंजाब, बंगाल, उत्तरप्रदेश, उड़ीसा, मध्यप्रदेश और मद्रास के उत्तरी जिलों में जमींदारी प्रथा प्रचलित थी तथा मध्यभारत, राजस्थान और विंध्य प्रदेश में जागीरदारी प्रथा थी। जमींदार किसानों से लगान वसूल करके आधी से कम रकम मालगुजारी के रूप में सरकारी खजाने में जमा कर देते थे और शेष उनकी आय होती थी। अधिकांश जमींदारों ने कभी अपना कर्त्तव्य पालन नहीं किया। वे किसानों से अधिक से अधिक लगान वसूल करने का प्रयत्न करते थे। जो मौरूसी काश्तकार नहीं थे, शिकमी काश्तकार थे, उनकी स्थिति तो बहुत दयनीय थी। उनको आये दिन बेदखल किया जाता था और अधिक लगान और नजराना लेकर दूसरों को जमीन उठा दी जाती थी। किसान को यह भरोसा नहीं रहता था कि उसके पास भूमि रहेगी या नहीं। केवल यही नहीं, जमींदार तथा जागीरदार किसानों से बेगार लेते थे। किसान को बिना कुछ दिये ये लोग अपने खेतों पर तथा मकान

पर काम करवाते थे। जमींदार तथा जागीरदार के पशुओं को चारा, लकड़ी, दूध इत्यादि मुफ़्त देना पड़ता था। इसके अतिरिक्त जमींदार और जागीरदार अनेक प्रकार की लागतें (कर) किसानों से जबरदस्ती वसूल करते थे। इस प्रकार जमींदार किसानों का शोषण करता था। वे गाँव में मनोरंजन तथा विलासिता के साधन न होने के कारण गाँव छोड़कर शहरों में रहते थे। गाँव का धन उनके द्वारा खिचकर शहरों को जाता था और गाँव निर्धन हो रहे थे। गाँव में जमींदारों के कारिन्दे या कामदार काम करते थे जो किसानों का और भी अधिक शोषण करते थे। इन सब का परिणाम यह हो रहा था कि गाँव की स्थिति दयनीय होती जा रही थी और ऐसी स्थिति में खेती की उन्नति नहीं हो सकती थी। खेती की उन्नति के लिये यह आवश्यक था कि जमींदारी और जागीरदारी को समाप्त कर दिया जावे और किसान को भूमि का स्वामी बना दिया जावे। यही कारण है कि पूर्वी पंजाब, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, बंगाल, मध्य प्रदेश, मद्रास, मध्य भारत और राजस्थान में जमींदारी-उन्मूलन कानून बना दिए गए और जमींदारों और जागीरदारों को साधारण हर्जाना देकर समाप्त किया जा रहा है।

उत्तरप्रदेश में जमींदारी-उन्मूलन कानून

उत्तर प्रदेश में पहली जुलाई १९५२ से जमींदारी-उन्मूलन और भूमिसुधार-कानून (१९५१) लागू हो गया है। इसके अनुसार कुछ क्षेत्रों को छोड़कर अन्य स्थानों की सभी भूमि पर से जमींदारों के अधिकारों का अन्त हो गया है। प्रत्येक जमींदार को उसके वास्तविक मुनाफे पर उपयुक्त मुआवज़ा दिया जा रहा है। किसानों की तीन श्रेणियाँ हैं—१—भूमिधर, २—सीरदार, ३—आसामी। नाबालिक, विधवा, अपंग व्यक्ति, सेना में नौकरी करने वाले या विद्यार्थियों की भूमि के काश्तकारों को और बाग या चरागाह के काश्तकारों को आसामी मान लिया गया

है। आसामी को भूमि पर कोई स्थायी अधिकार प्राप्त नहीं है। वह अपनी जमीन को बेच नहीं सकता और न उसे गिरवी ही रख सकता है। पुराने जमींदारों को उनकी सीर और खुदकाश्त भूमि तथा बाग में भूमिधर के अधिकार मिल गये हैं। अन्य सब काश्तकारों को सीरदार के अधिकार प्राप्त हो गये हैं। जो सीरदार किसान अपनी लगान का दस गुना एक साथ सरकार को दे देता है, वह भी उस भूमि का भूमि-धर कहलाता है। उन्हें भूमि पर मौरुसी हक प्राप्त हो गया है। भूमिधर किसान अपनी जमीन को बेंच सकता है और गिरवी रख सकता है। सीरदार किसानों को भी मौरुसी हक है, परन्तु वह भूमि को न बेच सकता है और न गिरवी रख सकता है। भूमिधर बनने के लिए लगान की दसगुना रकम जो सरकार को मिल रह है उसमें से जमींदारों को मुआविजा दिया जा रहा है। जो दस साल का लगान पेशगी देकर भूमिधर का अधिकार प्राप्त किये हैं उनका लगान जो आज वे देते हैं, उसका आधा कर दिया गया है। भविष्य में केवल नाबालिग, विधवा, अपंग अथवा शारीरिक दृष्टि से अशक्त व्यक्ति और सेना में नौकरी करने वाले या विद्यार्थी ही अपनी भूमि को अपने आसामी को लगान पर उठा सकेंगे। भविष्य में किसी एक व्यक्ति के पास ३० एकड़ भूमि से अधिक भूमि नहीं रहेगी। इसके अतिरिक्त कानून में भूमि को सवा छः एकड़ से छोटे टुकड़ों में न बँटने देने तथा सहकारी खेतों की भी व्यवस्था की गई है। अन्य प्रदेशों में भी जमींदारी प्रथा का अन्त हो रहा है।

जमींदारी प्रथा के विनाश का प्रभाव

उत्तर प्रदेश में जमींदारी प्रथा के विनाश का परिणाम यह हुआ है कि किसान स्वयं भूमि का मालिक हो गया है। वह यदि अपनी भूमि में सुधार करके, कुआँ खोदकर तथा अन्य प्रकार से परिश्रम करके भूमि की

उपजाऊ शक्ति को बढ़ावेगा तो उसको लाभ होगा। वह भूमि पीढ़ी दर पीढ़ी उसके वंशजों के अधिकार में रहेगी। अतएव किसान भूमि का सुधार करने, उसमें पूँजी और श्रम लगाने में संकोच नहीं करेगा। इसका परिणाम यह होगा कि खेती की उन्नति होगी। आज जितनी पैदावार होती है उससे अधिक पैदावार होगी और किसान समृद्धिशाली बनेगा। जब तक कि जमींदारी प्रथा विद्यमान थी तब तक किसान की आर्थिक दशा ठीक नहीं हो सकती थी और न खेती की ही उन्नति हो सकती थी।

बाईसवाँ अध्याय

किसान के भूमि-संबन्धी क़ानून

पिछले अध्याय में हम काश्तकारों के अधिकारों का वर्णन कर चुके हैं। अब हम इस बात की जाँच करेंगे कि भारतवर्ष के काश्तकारी क़ानून सदोष हैं या नहीं। पर इसकी विवेचना करने के पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि यदि ये सदोष हैं तो किस कारण से। कोई प्रथा ज़मींदारों के ख्याल से अच्छी हो सकती है पर वही प्रथा जनता के लिए नुक़सानदेह हो सकती है। जैसे बंगाल का इस्तमरारी बंदोबस्त या कोई प्रथा कुछ समय के लिए व्यक्तिगत काश्तकारों के लिए अच्छी हो सकती है, पर अंत में वही प्रथा राष्ट्र के लिए हानिकारक हो सकती है, जैसे कुछ पिछड़े हुए प्रदेशों में किसानों द्वारा ज़मीन के स्वामित्व (peasant proprietorship) की प्रथा। इसलिए पहले यह निश्चय कर लेना चाहिए कि भारतवर्ष के काश्तकारी क़ानून का हम किस दृष्टिकोण से विचार करेंगे। यहाँ पर हम व्यक्ति-विशेष या किसी विशेष संप्रदाय का विचार न करेंगे। इस विषय की विवेचना हम राष्ट्रीय दृष्टि से ही करेंगे। राष्ट्रीय लाभ पर राष्ट्र की लगभग सभी शाखाओं और उपशाखाओं का लाभ निर्भर रहता है, और काश्तकारी क़ानून के आदर्श नमूनों का वर्णन करते समय भी हम राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ही विचार करेंगे। आदर्श काश्तकारी प्रथा पर विचार करते समय इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखेंगे कि राष्ट्र के लगभग सभी व्यक्तियों को खेती के काम चलाने में पूरी स्वतंत्रता मिले और अन्य उद्योग-धंधों में सफलता प्राप्त करने में वे सहायक हों। कम से कम ऐसा न हो जिससे देश के और कारबार में अड़चन पड़े।

फिर काश्तकारी क़ानून में किसी भी प्रकार का सुधार करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि किसी मनुष्य को लाचार होकर कोई उद्यम ग्रहण न करना पड़े। जैसी जिसकी रुचि और योग्यता हो उसी के अनुसार वह उद्यम ग्रहण करे। वर्तमान काश्तकारी क़ानून में जब हिन्दुओं और मुसलमानों के उत्तराधिकार के नियमों के अनुसार किसी काश्तकार के मर जाने पर उसकी ज़मीन का बटवारा होता है तो लाचार होकर उसके बाल बच्चों को भी काश्तकारी करनी पड़ती है क्योंकि बटवारे की उपरोक्त विधि से प्रत्येक उत्तराधिकारी को कुछ-न-कुछ ज़मीन मिल ही जाती है। इस प्रथा से बहुत से ऐसे किसान पैदा हो जाते हैं, जो अपनी खेतों की थोड़ी-थोड़ी आमदनी से अपना पेट नहीं भर सकते, इससे वे पैसा पैदा करने के लिए स्वयं शहर में चले जाते हैं। फिर पीढ़ी पर पीढ़ी जो मौरूसी काश्तकारी चली आती है उससे कोई बड़ा ताक़तवर किसान नहीं होने पाता जो अच्छी तरह से जूट, कपास, गन्ना जैसी मुख्य-मुख्य फ़सल की खेती करके देश की सम्पत्ति को बढ़ावे। इस प्रथा के कारण खेतों की चकबंदी होने में बड़ी बाधा पहुँचती है। पाठकों को याद होगा कि एक क़िस्म के सारे खेतों का एक चक होने से कितना लाभ होता है।

आदर्श काश्तकार की कुछ आवश्यक बातें—

(१) किसानों का खेती पर अरसे तक कब्जे का क़ायम रखना (Continuity of Possession)—खेती में उच्चश्रेणी की उन्नति करने के लिये यह परमावश्यक है कि एक किसान के पास उसकी ज़मीन लगातार बनी रहे। ऐसा होने से किसान उस ज़मीन की उन्नति के लिए अधिक से अधिक परिश्रम करेगा और पैसा लगावेगा।

यह सच है कि जितने ही ज़्यादा समय तक किसान के पास उसकी ज़मीन रहेगी उतना ही अधिक वह उसमें परिश्रम करेगा और रुपया

ख़र्च करेगा, तो हमको चाहिये कि हम उसे ज़मीन का एकदम मालिक बनादें। लेकिन हमें एक बात और ध्यान में रखनी चाहिये। वह ऐसी बात है कि जिससे ऊपर के कथन का कुछ काट होता है और जो कि खेती बारी में उन्नति होने के लिए उतनी ही ज़रूरी है जितनी कि पहली बात और वह यह है, कि हर किसान इस बात में स्वतंत्र हो कि जब चाहे तब वह अपने खेतों का रक़बा अपने परिश्रम व आर्थिक शक्ति के हिसाब से घटा-बढ़ा ले। अगर वह ऐसा नहीं कर सकता तो जो ज़मीन उसके परिवार, उसके परिश्रम और उसके मूलधन के अनुसार आर्थिक परिमाण की थी वही दूसरे के लिये जिसका परिवार या मूलधन कम या ज़्यादा हो इसके विपरीत हो जावेगी। ऐसा करने के लिए उसपर कोई दबाव न डाला जावे बल्कि उसको हर प्रकार का सुभीता रहे। हाँ, ऐसा करते समय यह अवश्य ध्यान में रहे कि इससे दूसरे काश्तकारों की हानि न होने पावे।

(२) **किसान के खेतों का एक चक होना**—इस संबंध में हम पिछले अध्यायों में बहुत कुछ कह चुके हैं। यहाँ पर इतना कह देना काफ़ी होगा कि एक ही किसान के सारे खेतों को एक ही चक में रखने के लिए प्रयत्न करना अत्यंत आवश्यक है और ऐसा भी क़ानून बनाना चाहिये कि जिससे आयंदा चक-बंदी न टूटे।

(३) **ज़मीन एक ही उत्तराधिकारी को मिले**—हिंदुओं और मुसलमानों के वर्त्तमान उत्तराधिकार-क़ानून के विपरीत यह नियम बना दिया जावे कि बपौती ज़मीन का सभी भाई बहनों में बटवारा न किया जावे। बल्कि जिसकी रुचि और योग्यता खेती करने की हो उसे ही वह ज़मीन मिला करे। उत्तराधिकार की वर्त्तमान प्रथाओं को बार-बार दुहराने की आवश्यकता नहीं है। पर यहाँ इतना कह देना अत्युक्ति न होगी कि यह किसानों की ग़रीबी का एक मुख्य कारण है। यही नहीं बल्कि खेती-बारी का स्थायी मूलधन भी उसी उत्तराधिकारी को मिले जिसको

कि वह ज़मीन दी गई हो। बाक़ी सम्पत्ति भाई-बंधुओं में इस प्रकार बाँट दी जावे कि सभी उत्तराधिकारियों को उनके हक़ के अनुसार ही मिले। कोई घाटे में न रहने पावे। फिर यह ज़मीन टुकड़े-टुकड़े करके रेहन या बैय न की जा सके। जिसको रेहन या बैनामा दिया जावे उसको पूरी ज़मीन दी जावे। जो ख़ुद खेती करना चाहता है और दूसरे को पट्टे पर नहीं देना चाहता, ऐसे आदमी के हाथ रेहन या बैनामा किया जाय।

(४) काश्तकार अपने समय में खेतों में जो उन्नति करे उस पर लगान न बढ़ाया जाय—यह तो हम ऊपर कह ही चुके हैं कि अगर किसानों को हक़ दख़ीलकारी दिया जावे तो काश्तकारों के लगान का घटाना-बढ़ाना सरकार को अपने ही हाथ में रखना उचित होगा। अब यहाँ पर यह कह देना चाहिये कि लगान में परिवर्तन तभी किया जावे जब फिर से बन्दोबस्त किया जाता हो। इस बीच में किसान ने जो उन्नति की हो, उस पर लगान न लगाया जावे। और जब एक बार लगान बढ़ाया जा चुका हो तो फिर कुछ नियत समय के लिए लगान दुबारा न बढ़ाया जावे। लगानबंदी के दो मौक़ों के बीच केवल किसी विशेष कारण से ही परिवर्तन किया जावे। जैसे या तो ज़मीन में बहुत खराबी आ गई हो जिससे लगान के उस दर में काश्तकार को बहुत घाटा पड़ता हो, या उसमें बहुत उन्नति हो गई हो जिससे काश्तकार कुछ अधिक फ़ायदा उठाता हो। लगान पैदावार के १/५ भाग से अधिक न होना चाहिये। जिन स्थानों में लगान पैदावार के १/५ भाग से अधिक हो उन स्थानों में लगान कम करने की व्यवस्था की जानी चाहिये।

जब तक कि खेती के और कुछ उन्नतिशील उपाय, विशेषकर कृषि संबंधी नवीन यंत्रों का उपयोग जिनका आविष्कार दिन-प्रतिदिन होता जा रहा है, और उत्तम प्रकार के बीज, खाद आदि का उन किसानों को भलीभाँति ज्ञान न हो जावे तब तक लगान कम करने और

चकबन्दी से कोई ख़ास फ़ायदा नहीं हो सकता। और इन सबके ज्ञान से भी उसे कोई ख़ास फ़ायदा नहीं हो सकता जब तक उसके पास कृषि-संबंधी उन्नति के तरीक़ों को काम में लाने के लिए पैसा न हो। तब कृषि व्यवसाय में उन्नति करने के लिए सरकार को सबसे पहले कृषक-समाज में उक्त विषयक ज्ञान प्रचार करना होगा। फिर चार-चार पाँच-पाँच गावों के बीच में तथा ज़िले-ज़िले और प्रत्येक राज्य में प्रयोग-शालायें खोलनी होंगी जिससे इन उन्नतिशील व्यवहारों का किसानों को वास्तविक ज्ञान हो जावे। हर खेत में आबपाशी और सिंचाई करने के लिए पानी निकालने की नालियाँ बनवाना अथवा इसी प्रकार की अन्यान्य उन्नति करनी होगी, जिनके करने की शक्ति धनी किसानों में भी नहीं रहती। फिर सरकार को सहयोगी बैंकों की स्थापना करने के लिए कोई विशेष इंतज़ाम करना पड़ेगा जैसा कि सरकार बहुत कुछ अब भी लाचार होकर कर रही

सन् १९५२ में सामुदायिक विकास योजनाओं द्वारा ग्रामवासियों की आर्थिक दशा सुधारने का कार्य किया जा रहा है। इस संस्था के कार्यों का वर्णन २७ वें अध्याय में किया जावेगा।

तेइसवाँ अध्याय

खेती के सहायक तथा खेती पर निर्भर व्यवसाय

भारतवर्ष के जीवन का सच्चा दृश्य कलकत्ता व बंबई जैसे शहरों में नहीं देखा जा सकता। जैसा कि हम कह चुके हैं, हिंदुस्तान के ९० फ़ी सदी लोग गाँवों में रहते हैं व लगभग ७२ फ़ी सदी लोग खेती बारी से अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। हम यह भी लिख चुके हैं कि प्रत्येक किसान का साल में लगभग चार-छः महीना बेकार जाता है। साल के प्रत्येक दिन खेती बारी का काम नहीं रहता। इससे प्रत्येक किसान के पास जितनी परिश्रम-शक्ति रहती है वह सबका सदुपयोग नहीं कर पाता और अपनी थोड़ी-सी ज़मीन पर जो कुछ भी परिश्रम करके पैदा करता है उसमें से साहूकार का क़र्ज़ चुका देने, सरकारी लगान देने व गाँव के कुम्हार, धोबी, नाई इत्यादि को दे देने के बाद उसके पास बहुत कम रह जाता है। खेती करने के पहले जो उसकी अवस्था थी वह अवस्था उस ख़र्च के बाद कुछ सुधर नहीं जाती। उलटे बार-बार किसी-न-किसी कारण से अदालत में पहुँचने के कारण बहुधा उसकी लुटिया तक बिक जाती है। इसी से बैल इत्यादि से भी अधिक परिश्रम करने पर भारतवर्ष का ग्रामीण समाज या यों कहना चाहिए कि हमारा असली भारतवर्ष ग़रीब है। फिर किसानों का उनकी ज़मीन के साथ जो संबंध होता है उसके कारण ही वे उसे छोड़कर शहरों में पैसा पैदा करने के लिए नहीं जा सकते। इसी बेकारी ने देश के असली शुभचिंतकों के हाथ पैर जकड़ रक्खे हैं। जिस ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्य कभी अस्त नहीं

होता, जो संसार के सबसे बड़े पाँच महाराष्ट्र—अर्थात् ब्रिटेन, अमेरिका, फ्राँस, इटली और जापान में एक है, और जो स्वतंत्र राष्ट्र कहलाता है, वहाँ के सदस्य संसार के कोने-कोने में जीविका निर्वाह के लिए पहुँच कर वहाँ के आदिम निवासियों पर आधिपत्य जमाए हुए हैं। ऐसे ब्रिटिश साम्राज्य में जिसका पाया गत योरोपीय महायुद्ध भी नहीं हिला सका था वहाँ भी बेकारी की समस्या है और वहाँ की सरकार ब्रिटिश जाति के लोगों की बेकारी दूर करने के लिए रूस से संबंध क़ायम करती है। क्योंकि रूस में व्यापार का बड़ा भारी केंद्र है। वहाँ के बेकार देहातियों को भारतवर्ष की फ़ौज में भारतवर्ष की राष्ट्रीय सम्मति के विपरीत भारतीय सिपाही से पँचगुना वेतन देकर ज़बर्दस्ती भरती किया करती है। और वहाँ की बेकारी को दूर करने के लिए वहाँ के लोग भारतवर्ष में तरह-तरह के कमीशनों के मेम्बर बना-बना कर भेजे जाते हैं जिससे भारतवर्ष का लाखों रुपया बर्बाद होने के सिवा कोई ख़ास फ़ायदा नहीं होता। इनके पास जीवन-निर्वाह के अन्य समुचित साधन भी नहीं हैं, और न इनकी उचित शिक्षा का प्रबंध ही है, जिससे वे अपनी समुचित उन्नति कर सकें। यहाँ के लिए तो बेकारी की समस्या दिन-प्रतिदिन उग्ररूप धारण कर रही है। इसलिए वर्तमान दशा को सुधारने के लिए केवल एक ही उपाय है। वह यह कि कुछ ऐसे रोज़-गार क़ायम किए जावें जिन्हें किसान अपने बेकार समय में घर बैठे कर सकें।

बहुधा लोगों की यह राय है कि खेती के रक़बे को क्यों न बढ़ाया जावे? हमारा उत्तर यह है कि अवश्य बढ़ाया जावे। जहाँ-जहाँ खेती के लिए जितनी ज़मीन और मिल सके उतनी ज़रूर खेती के काम में लाई जावे इससे कुछ लाभ अवश्य ही होगा। पर हमारे आलोचकों को दो बातें अवश्य ही ध्यान में रखनी चाहिए। एक तो यह कि इस प्रकार ज़मीन बढ़ाने की संभावना प्रत्येक स्थान में नहीं है। वह जहाँ

कहीं बढ़ाई जा सकती है वहाँ भी एक हद से आगे नहीं बढ़ाई जा सकती। दूसरे यह कि खेती के रक़बे को बढ़ाने से प्रत्येक किसान का रक़बा तो बढ़ ही जावेगा पर इससे उनकी दर्मियानी बेकारी की समस्या पूरी तौर पर हल न हो जावेगी। पर खेती एक ऐसा उद्यम है जिसमें साल के ३६५ दिन काम नहीं हो सकता। शायद यह कहा जावे कि किसान अपने बड़े रक़बे पर इस तरीक़े से बोए कि साल के बारहों महीने उसमें काम रहे। पर कठिनता इस बात की है कि फ़सल भी तो दो ही हैं। फिर यह भी तो है कि किसान की बेकारी के कुल दिन एक साथ ही नहीं उत्पन्न होते बल्कि साल भर में बिखरे हुए रहते हैं। इससे उस बटे हुए रक़बे में एक दिन या दो दिन, एक सप्ताह या दो सप्ताह भला क्या खेती कर लेगा।

इससे भारतवासियों की बेकारी दूर करने के लिए गाँवों में कुछ ऐसे उद्योग-धंधे शुरू किये जावें जो या तो कृषिकर्म में सहायक हों या जो कृषिकर्म पर निर्भर हों। इससे न केवल उनकी बेकारी ही दूर होगी पर साथ-ही-साथ उनके कृषिकर्म में सहायता भी मिलेगी।

पर किसी भी सहायक उद्योग धंधे के क़ायम करने के पहले निम्न-लिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए। वे धंधे ऐसे न हों जिन्हें बीच-बीच में छोड़ते रहने से उनकी हानि हो या उनमें लगा हुआ मूलधन व्यर्थ ही जकड़ा हुआ पड़ा रहे, जैसे कपड़ा बनाने के कारख़ाने इत्यादि। वे मौक़े-मौक़े पर चालू रखने लायक़ हों जैसे, चर्खे इत्यादि।

फिर वे धंधे ऐसे न हों जिनको चलाने के लिए किसी विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता हो। जिन किसानों को साधारण शिक्षा ही दुर्लभ है उन्हें भला कहाँ से किसी विशेष प्रकार की शिक्षा मिल सकती है। वे अपनी खेती छोड़कर कब उस शिक्षा को ग्रहण करने जावेंगे। फिर उद्योग धंधा तो ऐसा हो जिसे स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध सभी कर सकें, और जिसमें मूलधन अधिक न लगे। बिचारे किसानों के पास अगर

मूलधन ही होता तो क्या वे कृषि दशा न सुधार सकते थे ? फिर उनके लिए यह रोना ही क्यों होता और असल में ग़रीबी दूर करने के लिए ही बेकारी को दूर करने की समस्या है।

वे उद्योग धंधे भी ऐसे हों जिनकी पैदावार किसानों की खेती के काम आ सके या गाँव की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ हो या जो सर्वग्राह्य वस्तु हो। गाँव में हेज़लीन स्नो, मुँह में व दाँत में लगाने के पाउडर इत्यादि बनाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इनकी खपत वहाँ असंभव है। फिर यह बात भी ध्यान में रखना अत्यंत आवश्यक है कि ग्रामवासियों के लिए एक ही उद्योग धंधा नहीं बताया जा सकता। गाँव में ऐसे दो चार धंधे चला दिये जावें जिसे प्रत्येक आदमी अपनी-अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार कर सके। उनके बेकार समय का कई प्रकार से सदुपयोग हो सकता है। आर्थिक दृष्टि से किसान को उसी उपाय का अवलंबन करना चाहिये जिससे उसे अधिक से अधिक लाभ हो सके। इसके लिए कोई सार्वजनिक सिद्धांत नहीं बताया जा सकता जिसके अनुकरण करने से सभी लोगों के बेकार समय का एकसा सदुपयोग हो सके। यह तो देश काल और अवस्था पर निर्भर है। कौन मनुष्य किस उद्योग धंधे का अवलंबन करे, यह निश्चय करने के पहले बहुत सी बातों पर विचार करना होगा। जैसे उसके गाँव की अवस्था—उसके पास नदी, पहाड़, जंगल, खान वग़ैरह हैं या नहीं, उसकी शिक्षा, उसका सामाजिक जीवन अमुक काम करने से उसे जाति दंड का भागी तो न होना पड़ेगा, उसके घर की अवस्था, उसके घर में कितने स्त्री-पुरुष हैं व कौन-कौन किस काम के लायक़ हैं, इत्यादि।

किसानों के बेकार समय के लिए दो प्रकार के काम चुने जा सकते हैं। एक तो वे जो खेती के लिए सहायक हों, दूसरे वे जिनका संबंध खेती से थोड़ा बहुत हो या न भी हो पर वे ग्राम्य जीवन के लिए उपयोगी हों।

पहली प्रकार का काम है, गाय, भैंस पालकर दूध, दही इत्यादि का रोज़गार करना। गाय-भैंस पालने से केवल दूध, घी, दही का ही व्यापार नहीं होता पर साथ-ही-साथ गाय-भैंस के बच्चे खेती के काम में आते हैं। गाय का गोबर और मूत्र खाद के काम आता है।

दूसरे प्रकार के काम हैं तरकारी, भाजी या फल-फूल पैदा करना, बेत, बाँस या सरकंडे से मेज़, कुर्सी, टोकरी, मोढ़ा, चिक आदि बनाना, सन या मूँज से रस्सी बनाना, लकड़ी या मिट्टी से खिलौने बनाना, कपड़े बुनना, मुर्ग़ी पालकर अंडे का रोज़गार करना, ताड़ या खजूर के पत्ते से पंखे बनाना इत्यादि।

बंबई के कोआपरेटिव सोसायटी के भूतपूर्व रजिस्ट्रार मिस्टर यु० बैंक (Mr. Ewe Bank) ने यह पता लगाया है कि भारतवर्ष में एक करोड़ सत्तर लाख आदमी छोटे-छोटे कारख़ानों में काम करते हैं। यह सच है कि देश में बहुत से कला-कौशलों में कारीगरों की वह पुरानी निपुणता नहीं रही, और उनकी कार्य-प्रणाली तथा उनके औज़ार बहुत मामूली हो गये हैं। पर मनुष्य संख्या के बढ़ने के कारण गाँव में ऐसे बहुत से छोटे-मोटे धंधे बढ़ रहे हैं जिनमें विशेष कला कौशल व निपुणता की आवश्यकता नहीं रहती और उन उद्योग धंधों को थोड़े से ही परिश्रम से सीखा जा सकता है। इन धंधों को करने के लिए कच्चा सामान (Raw material) वहीं गाँवों में मिल जाता है। जर्मनी के गृह उद्योग धंधों (Cottage industries) में वहाँ की जनता का $\frac{२}{८}$ भाग लगा हुआ है और उन धंधों की संख्या वहाँ के कुल धंधों के हिसाब से ९० फ़ी सदी है। इसी प्रकार डेनमार्क के ८० फ़ी सदी कारख़ाने ऐसे छोटे-छोटे हैं जिनमें पाँच या पाँच से भी कम लोग काम करते हैं। भारतवर्ष के बहुधा गृह-उद्योग धंधों का नाश तो इसीलिए हो जाता है क्योंकि उनके चलाने के लिए सुभीते से मूलधन नहीं मिलता। भारतवर्ष के कारीगर ग़रीबी के कारण एजेंटों व विज्ञापनों के न चल सकने से केवल

अपनी उपज बेंचने में ही असमर्थ नहीं हैं पर साथ ही अपनी उपज के लिए वे अच्छी सामग्री व अच्छे औज़ार का उपयोग भी नहीं कर पाते जिससे उनकी उपज भी ऊँचे दर्जे की नहीं होती। बहुत से कारीगर महाजनों के क़र्ज़दार रहते हैं और अपने-अपने महाजनों के कहने के अनुसार उनके लिए वस्तु उत्पन्न करने में अपना जीवन बिता देते हैं। महाजनों को कभी भी यह शौक़ नहीं होता कि उनके देश में अच्छी-अच्छी व सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ बनें। वे लोग अपना तुरन्त का फ़ायदा देखते हैं और काम चलाने लायक़ सस्ता व सादा माल ही बनवाना पसंद करते हैं।

गृह-उद्योग के लिए कर्ज़ व सहयोगी संस्थाओं के सुभीते

यूरोप के महाद्वीप में वहाँ के भिन्न-भिन्न देश की सरकारें कारीगरों को यंत्र आदि उधार देकर उनके कलाकौशल को बढ़ाती रहती हैं। हंगरी देश की सरकार ने सन् १८६६ और १६०६ ईसवी के बीच १६२२ कारीगरों को लगभग ३७,६२,५६७ क्राउन अथवा १,३६,३६,-२७३ रुपयों की मशीन की सहायता दी थी। इस प्रकार मशीन और रुपये उधार देकर पाश्चात्यदेशों की सरकार कारीगरों की सहायता तो करती ही है, इसके सिवा सहयोगी बैंक इत्यादि खोल कर भी उनकी कमी को दूर करती है। भारतवर्ष के कई स्थानों में कारीगरों की एक प्रकार की सहयोगी संस्थाएँ खुल चुकी हैं जिनकी आर्थिक व्यवस्था करने के लिए कई व्यावसायिक संघ खुल चुके हैं। इन संस्थाओं से कारीगरों को काफ़ी फ़ायदा हो रहा है। पर व्यावसायिक संघों के नियमों को कुछ नम्र और सर्वग्राह्य होना चाहिए जिससे वे भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में लागू हों। इन संस्थाओं से कारीगरों को बीजक या मज़दूरी चिट्ठी पर उधार मिल जाना चाहिए अर्थात् कारीगर अपनी चीज़ें बनाकर बेचनेवाली सहयगोगी संस्था को दे देता है और संस्था उसको चिट्ठी देती है जिसमें कि उसके माल का पूरा विवरण और दाम लिखा रहता है। कारीगर को इस चिट्ठी की अमानत

पर बैंकों से रुपया मिल जाता है। स्विट्ज़रलैण्ड के बैंक वहाँ के कारीगरों को ककून (कीड़ों द्वारा बनाया हुआ रेशमी अण्डे) की अमानत पर रुपया उधार देते हैं। क़र्ज़दार से यह शर्त करा लेते हैं कि जब तक वह बैंक का कर्ज़ न चुका देगा तब तक वह अपना माल बाहर नहीं बेंच सकेगा। इसी प्रकार ढाका, मुर्शिदाबाद, मथुरा, बनारस तथा और केंद्रों के जुलाहों के लिए तरह-तरह से सुभीता कर देने की आवश्यकता है। जुलाहों को इस बात की शिक्षा दी जानी चाहिये कि वे अपने कपास व रेशम के तार अपनी सहयोगी संस्थाओं से ख़रीदें। उन लोगों को कच्चा माल या उत्तम प्रकार के चरख़े व करघे ख़रीदने के लिए रुपये उधार दिये जाने चाहिये व उन्हें यह सिखाना चाहिये कि वे अपना माल अपनी सहयोगी संस्थाओं के हाथ ही बेंचा करें, जो उन्हें इतनी सहायता दे रही हैं। इसी प्रकार रंगरेज़, चमार, बढ़ई, लोहार, सुनार, कसेर, ठठेर आदि अमीर या ग़रीब सभी कारीगरों को भिन्न-भिन्न प्रांतों में भिन्न-भिन्न सहयोगी संस्थाएँ बना देनी चाहिये। ब्रह्मदेश में सहयोगी प्रथाओं द्वारा सहायता करने के लिए कपड़े बुनने, बर्तन बनाने और लाख की पालिश करने के काम चुने गये हैं व उनके लिए कई सहयोगी संस्थाएँ भी स्थापित की गई हैं। उड़ीसा के वैद्यराजपुर में काँसे के बर्तन बगाने के लिए एक व्यापारी संघ खोला गया है। यूरोप में सहयोगी संस्थाओं के द्वारा जिनके पास ख़ुद की मशीनें, बिजली की रोशनी, व शक्ति (Power) इत्यादि रहती है, पैदावार में उन्नति करने, उसमें नये आविष्कार करने व हर प्रकार से उन्नति करने के लिए गृह उद्योग (Cottage industries) को वही सहायता मिलती है जो किसी बड़े भारी कारख़ाने को प्राप्त हो सकती है। जहाँ कोआपरेटिव सोसायटी या सहयोगी संस्थाएँ आगे नहीं बढ़ती हैं वहाँ कारीगरों और कोआपरेटिव सोसायटी के बीच एक व्यापारी मंडल क़ायम कर देना चाहिए। स्विटज़रलैंड देश के व्यापार

के विषय में, जिसमें देहात के ३४,००० हज़ार मज़दूर काम करते हैं, यह एक बात जानने लायक़ है कि उन्हें क़ीमती औज़ार उसी प्रकार के व्यापारी मंडल से उधार मिलते हैं. जिनसे वहाँ बहुत लाभ हो रहा है।

गृह उद्योग धंधों (Cottage industries) का संगठन

गृह-उद्योग में व्यापारी मंडल के न होने से बहुत बाधा पहुँचती है। बिखरे हुए व असंगठित गृह उद्योग में महाजनों द्वारा लूट मची रहती है। जर्मनी के छोटे-छोटे रोज़गारियों के समुदाय एक में मिलकर कच्चा माल ख़रीदते हैं, एक में मिलकर मशीनों को बर्तते हैं और एक साथ मिलकर अपनी उपज को बेचते हैं। जो कुछ पैदा होता है वह व्यक्तिगत कारीगरों की सम्पत्ति होती है। इसी प्रकार भारतवर्ष में कुछ उन्नति ज़रूर ही हो रही है। मैसूर सरकार ने गृह उद्योगकला द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुओं के प्रचार के लिए बहुत प्रयत्न किया है। प्रत्येक प्रांत में व्यापार के बड़े-बड़े केन्द्र व गोदाम खोले जा चुके हैं जैसे यू० पी० आर्ट्स एण्ड क्रैफ्ट्स इम्पोरियम, (उत्तरप्रदेश का कला कौशल भवन) लखनऊ, और पंजाब आर्ट्स एण्ड क्रैफ्ट्स इम्पोरियम, पर इसमें भी अधिक की आवश्यकता है। प्रत्येक प्रांत में अच्छे-अच्छे नमूने, अच्छे-अच्छे यंत्र, व्यापार कला आदि के प्रचार व विज्ञापन के लिए केन्द्र खोलने चाहिये। जर्मनी में सरकार की सहायता में कई उद्योग-धन्धे खड़े हो गये हैं जैसे घड़ी बनाना, पेंसिल बनाना, हाथी दाँत, सीप, व कछुवे की खोपड़ी आदि के व्यापार। भारतवर्ष में भी व्यापार की ओर यदि सरकार अग्रसर हो तो देश के मुख्य-मुख्य उद्योग धन्धों के सिवा प्राचीन काल के और भी बहुत से उद्योग धन्धे चलने लग जावें और किसानों की बेकारी दूर हो जावे जिससे देश एक बार फिर धनधान्य से परिपूर्ण हो जावेगा। खिलौने बनाना, काग़ज़ के

फल-फूल बनाना, दफ़्ती के डब्बे व सन्दूक बनाना, घास की चटाई व फ़र्श बनाना, गोटे किनारी बनाना तथा अन्यान्य प्रकार के कलाबत्तू के काम संभव हैं। स्थान व अवस्था भेद के अनुसार ऊपर लिखे हुए कामों के सिवा अन्यान्य उद्योग-धन्धे भी खेती के साथ गाँवों में चलाये जा सकते हैं।

सरकार को लोगों में भिन्न-भिन्न प्रकार के कला-कौशल की शिक्षा प्रदान करना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार की शिक्षा की पद्धति इस तरह कर दी जावे कि विद्यार्थी स्कूल से निकलते ही उत्तम श्रेणी की वस्तुएँ बना सकें। इन स्कूलों को पड़ोस के ऐसे स्कूलों से भी सम्बन्ध बनाये रखना चाहिये जिससे कि वे एक दूसरे की निपुणता को सीखते रहें।

चौबीसवाँ अध्याय

ग्राम्य जीवन का पुनरुद्धार–विषय का दिग्दर्शन

ज़रा ध्यान देने से मालूम होगा कि हिन्दुस्तान की ग़रीबी के जितने कारण हैं उन सब कारणों का एक चक्र-सा बन गया है। यह चक्र सदा ग़रीब भारतवासियों के गले पर चलता चला आता है जिससे कटते-कटते आज वे अत्यन्त ही हीन दशा को प्राप्त हो गये हैं। एक विपत्ति किसी दूसरी विपति का कारण है तथा उस विपत्ति का कारण कोई और विपत्ति है। इस प्रकार एक दूसरे से कारण-कार्य का कुछ ऐसा सम्बन्ध हो गया है कि यह निश्चय कर लेना आसान काम नहीं है कि उनकी ग़रीबी का सर्व प्रथम कारण कौन सा है। किन्तु कदाचित् मूल कारण सर्वसाधारण की अशिक्षा है। (शिक्षा का यहाँ बहुत विस्तृत अर्थ लगाना होगा)। अशिक्षा से लोगों के रहन-सहन का दर्जा बहुत घट जाता है। नीचे दर्जे के रहन-सहन से संतान और वस्तु-उत्पादन क्रियाओं में बहुत लापरवाही आ जाती है। इससे मनुष्य तो बढ़ जाते हैं पर जीवन-निर्वाह की सामग्रियाँ बहुत कम हो जाती हैं। जीवन निर्वाह की सामग्री की कमी से समुचित शिक्षा के साधन नहीं प्राप्त होते। इस प्रकार दुर्भाग्य का यह कुचक्र सदैव चलता रहता है।

भारतवर्ष में ग़रीबी का सबसे मुख्य कारण सार्वजनिक शिक्षा का अभाव है। शिक्षा का अर्थ यहाँ केवल अक्षर ज्ञान से नहीं है जिससे केवल पढ़ना व लिखना आ जाता है, पर उसका मतलब उस सार्वजनिक

शिक्षा व अभ्यास से है जिससे मनुष्य को मनुष्यों व वस्तुओं के सार तत्व का ज्ञान हो जाय और जिससे उसकी ज्ञानेन्द्रियों की पूरी तरह से उन्नति हो सके।

शिक्षा के विस्तृत अर्थ को छोड़कर यदि उसका अर्थ यहाँ पर केवल अक्षर ज्ञान ही लगावें तो हमें मालूम हो जावेगा कि इस अक्षर-ज्ञान से हीन होने से बहुत बुराइयाँ पैदा होती हैं। बिना लिखना-पढ़ना जाने मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों का विकास नहीं हो सकता। पर इस अभाव का सीधा असर भी मनुष्य पर पड़ता है। जीवन के किसी कार्य-क्षेत्र में देखिये, अशिक्षा उन्नति के मार्ग में बड़ा भारी रोड़ा है। हमारे समाज-सुधारक गला फाड़-फाड़ कर व्याख्यान देते हैं। लेख लिख-लिखकर दस्तों व रीमों काग़ज़ बर्बाद कर देते हैं; पर उनकी पुकार को केवल अरण्य-रोदन समझिये। असंख्य भारतवासी जो शहरों से दूर एकान्त ग्राम्य-जीवन व्यतीत कर रहे हैं उनके कानों तक सुधारकों की आवाज नहीं पहुँचती, क्योंकि वे पढ़ना-लिखना नहीं जानते। उन्हें ज्ञान तक नहीं है। विद्वानों द्वारा प्रस्ताव पास होते हैं, व्याख्यान दिये जाते हैं, साहित्य पर साहित्य तैयार होता है। पर हमारे देहाती समाज के लिए, जो कि भारतवर्ष के असली बाशिन्दे हैं, अन्त में वही कहावत रही कि "भैंस के आगे बीन बजावे भैंस बैठ पगुराय।" मान लीजिए हमारी संस्था द्वारा नियुक्त कृषि विशेषज्ञ ने वर्षों सपरिश्रम अन्वेषण करके कृषि-अवस्था सुधारने के लिए एक बिल्कुल समुचित सिद्धांत निकाला जिससे यथार्थ में बहुत हो सकता है, किन्तु जिनको इन अन्वेषणों, व्याख्यानों, लेखों व सुधारों की आवश्यकता वास्तव में है, उनके अपढ़ होने के कारण ये सब काला अक्षर भैंस बराबर है। धन्य है हमारे सुधारकों को और धन्य है हमारी उस सरकार को जो सदैव इन दरिद्र नारायण की दुहाई देते रहते हैं किन्तु जिनके पढ़ने-लिखने का ऐसा अच्छा प्रबंध है कि आज तक वे पढ़ ही न सके। कृषि संबंधी कमीशन पर लाखों

रुपये ख़र्च करने के बजाय यदि सरकार इसी पैसे को किसानों की ग़रीबी के वास्तविक कारण अशिक्षा को दूर करने में लगाती तो कहीं ज़्यादा फ़ायदा होता। भारतवर्ष में सहयोगी संस्था संबंधी वर्तमान साहित्य के पढ़ने से यह मालूम हो जावेगा कि जो लोग इससे संबंध रखते हैं उन लोगों की यही राय है कि निरक्षरता ही सहयोगी भावों की उन्नति करने में बड़ी भारी बाधा है।

जब शिक्षा का विस्तृत अर्थ लगाते हैं तो ऐसी शिक्षा का अभाव तो और भी ग़ज़ब ढा रहा है। इसी अभाव से हमारी जनता के विचार बहुत संकुचित रहते हैं। उनमें सदैव उदासी छाई रहती है व उनके ध्यान में यह कभी भी नहीं आता कि उनकी अवस्था सुधर सकती है। यह सच नहीं कि वे अपनी अवस्था सुधारना नहीं चाहते या यदि उन्हें उच्च दर्जे का जीवन-पथ बताया जावे और उसे पाने की उन्हें संभावना हो तो वे इन्कार कर देंगे। पर यह सच है, कि वे अपनी इस अवस्था को असाध्य समझते हैं और इसीसे उन्हें जो कुछ मिल जाता है उसी पर संतुष्ट रहकर जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। भविष्य में उन्नति की आशा उनके लिए इतनी बार भंग हो चुकी है कि उन्हें अपना भविष्य अंधकारमय दीखता है। इससे अक्षरज्ञान और वास्तविक शिक्षा के बिना भारतीय जीवन का आदर्श नीचे गिर जाता है। इन दोनों का परिणाम हमारे सारे कार्यों पर पड़ता है। यह निर्विवाद है कि रहन-सहन के दर्जे से और मनुष्य की उत्पादक शक्ति से घनिष्ठ संबंध है। एक में अन्तर होने से दूसरे में अवश्य ही अन्तर होता है। जिस मनुष्य की उत्पादक शक्ति कम है उसकी आय भी कम होगी और जिसकी आय कम है उसका रहन-सहन भी हल्का होगा। जिसका रहन-सहन ऊँचे दर्जे का होगा उसमें अधिक उत्पादक शक्ति भी होगी क्योंकि वह अधिक समझदारी के साथ व अधिक समय तक काम कर सकेगा। ऊँचे दर्जे के रहन-सहन वाला मनुष्य सब उत्पादक उपायों का संगठन अच्छी तरह से करेगा जिससे परिश्रम की उत्पादक

शक्ति और भी बढ़ जावेगी। इससे आय भी बढ़ जायेगी और आय के बढ़ने से रहन-सहन का दर्जा और भी बढ़ जावेगा।

समाज के रहन-सहन के दर्जे और उत्पादक शक्ति में जिस प्रकार घनिष्ठ संबंध है उसी प्रकार उसके रहन-सहन के दर्जे और संतानोत्पत्ति में संबंध है। यहाँ पर भी ऊपर कहे अनुसार एक दूसरे में कारण और कार्य का संबंध है। जिन लोगों का रहन-सहन ऊँचे दर्जे का होता है जब तक उन्हें यह विश्वास न हो जाय कि वे अपनी संतान का उचित पालन पोषण व शिक्षा का प्रबन्ध कर सकेंगे, ताकि वे आर्थिक दृष्टि से अधिक-से-अधिक काम करके अपने समुचित आराम के लिए काफ़ी रुपये पैदा कर लेंगे, तब तक वे संतान उत्पन्न करना नहीं चाहते। "समुचित आराम" की व्याख्या भी माता-पिता के रहन-सहन के दर्जे पर निर्भर रहती है। उनको संतान की अमुक संख्या उत्पन्न करने पर सदैव इन विचारों की लगन लगी रहती है कि कहीं ऐसा न हो कि अधिक संतान उत्पन्न कर लेने से जो आराम व सुख हमारे पास अभी है उसमें कमी हो जावे या जिसे प्राप्त करने की हमें आशा है उसे प्राप्त न कर सकें। जिस प्रकार रहन-सहन का दर्जा उत्पादक शक्ति पर निर्भर रहता है उसी प्रकार संतान-उत्पत्ति का भी रहन-सहन पर बड़ा असर पड़ता है। यहाँ पर ध्यान में रखना चाहिए कि संतान-उत्पत्ति का रहन-सहन पर सीधा असर नहीं पड़ता बल्कि पहले इसका असर वस्तु उत्पादन शक्ति पर पड़ता है और फिर इसी से मनुष्य के रहन-सहन पर भी पड़ता है।

हममें हमारी रहन-सहन की श्रेणी नीची होने से दोहरी बुराई पैदा होती है। वस्तुओं का उत्पादन कम होता है, असंगठित रहता है, उनकी उन्नति नहीं हो सकती और साथ ही अयोग्य समझ और कमज़ोर लोगों की संख्या बढ़ती जाती है, जिनमें उन्नति करने की न तो आकांक्षा है न तो साहस ही है।

इस विषय में हम यहाँ पर जनसंख्या और वस्तु-उत्पादन की विशेष-

ताओं की कुछ चर्चा कर देना अनुचित नहीं समझते। हिंदुस्तान में लोगों का अकसर कम उम्र में विवाह कर दिया जाता है। इस कुप्रथा को रोकने के लिए श्रीयुत रायसाहेब हरविलासजी शारदा के प्रयत्न से सरकार ने जो सन् १६२६ ईसवी में एक बाल-विवाह विरोधक क़ानून बनाया था उसके जारी होने के पहले, अर्थात् पहली अप्रैल सन् १६३० ईसवी के पहले, उस क़ानून से बचने के लिए हिन्दू मतानुसार लगन न होने पर भी देवोत्थान के बाद से होली तक हिन्दुस्तान में एक साथ ही हज़ारों विवाह हो गए हैं। यहाँ तक कि कलकत्ता, बंबई जैसे बड़े-बड़े शहरों में एक-एक दिन में विवाहों की संख्या एक हज़ार तक पहुँच गई थी। एक एक दो-दो वर्ष के बच्चों का विवाह गोद में लेकर कर दिया गया है। बाल-विवाह के कारण एक दंपत्ति की बहुतसी संतानें पैदा हो जाती हैं। देखा गया है कि हिंदुस्तान में किसी-किसी लड़की के बारह वर्ष की ही उम्र में संतान होने लगती है। इससे संतान दुर्बल पैदा होती है। संतान की यह दुर्बलता प्रत्येक दस वर्ष के बाद बढ़ती जाती है। किसी भी भारतीय परिवार में जाकर देखिए; बाबा तो ६० वर्ष की उम्र में काफ़ी मज़बूत मिलेगा, उसका चालीस वर्ष का लड़का तुलनात्मक दृष्टि से उससे कमज़ोर मिलेगा और नाती का तो बीस वर्ष की उम्र में जो ठीक लड़कपन के दिन हैं चेहरा पीला, आँखों पर चश्मा और गालों में गड्ढे दीख पड़ेंगे। यह सब विचार करने की बातें हैं कि आर्थिक जीवन पर व हिंदुस्तान की ग़रीबी पर इसका क्या असर पड़ता है। इसका प्रकट प्रभाव तो यहीं पड़ता है कि चूंकि हिंदुस्तानी औसतन शरीर और दिमाग़ से कमज़ोर होते हैं इससे पाश्चात्य देशवासियों की अपेक्षा उनकी वस्तु-उत्पादन शक्ति बहुत क्षीण होती है। फिर चूंकि दूसरे देशों की अपेक्षा औसतन भारतीय मनुष्य का जीवन काल बहुत कम होता है, इसमें दूसरे देशों की अपेक्षा उस परिमित समय में परिश्रम करने पर भी देश को बहुत कम लाभ होता है। सुभीते के लिए साधारण सा उदाहरण ले

लीजिये। मान लीजिये कि अ और ब नामक दो देश हैं। अ देशों में मनुष्य की औसतन उम्र पचास वर्ष की है और ब देश में केवल ३५ वर्ष की है। दोनों देशों के मनुष्य २० वर्ष तक शिक्षा पाते हैं। उनमें से प्रत्येक की शिक्षा में तीन-तीन हज़ार रुपये लगते हैं। शिक्षा के बाद उनमें से प्रत्येक की आमदनी १००) रुपये मासिक है। अब यही देख लीजिये कि उन दोनों में उत्पादन शक्ति के लिए जो खर्चा हुआ है उसके अनुसार किस देश के आदमी ने अधिक पैदा किया। अ देश के मनुष्य ने सौ रुपये मासिक के हिसाब से बाक़ी के तीस वर्षों में ३६ हज़ार रुपये कमाये और उसी हिसाब से ब देश के मनुष्य ने अपने बाक़ी के १५ वर्षों में केवल १८ हज़ार रुपये पैदा किये। हम अब ज़रा यह विचार करें कि इस प्रकार की कमी का राष्ट्रीय जीवन पर क्या असर पड़ता है।

किसी देश की वस्तु-उत्पादन क्रिया पर तीन तरीक़ों से विचार कर सकते हैं—कृषि, उद्योग-धंधा और वाणिज्य व्यवसाय।

(अ) कृषि—भारतवर्ष का कृषि कर्म यहाँ की प्राकृतिक, धार्मिक, सामाजिक अवस्थाओं तथा देश में प्रचलित क़ानून पर निर्भर है। इनमें से प्रत्येक अवस्था का एक दूसरे पर असर पड़ता रहता है। इस बात का ध्यान रखना बहुत ज़रूरी है कि कृषिकर्म पर देश की प्राकृतिक अवस्था के सिवा उपरोक्त अन्य अवस्थाओं का भी असर पड़ता है क्योंकि इसी जानकारी के आधार पर वर्त्तमान दशा को सुधारने के लिए उपाय किये जा सकते हैं। बहुधा लोगों की तो यह राय है कि इन अवस्थाओं के सुधार करने के लिए एक साथ ही प्रयत्न किये जावें क्योंकि जिन भिन्न-भिन्न आर्थिक समस्याओं का असर खेती पर पड़ता है उनमें आपस में घना संबंध है।

अमरीका और फ्रांस की तरह यहाँ की प्राकृतिक अवस्थाएँ आशा-जनक नहीं हैं। यहाँ की ज़मीन में खनिज पदार्थ, ख़ासकर चूना और फ़ास्फेट (Phosphate) बहुत कम हैं जिसका यह परिणाम होता है

कि यहाँ के अनाज वज़न में बहुत हल्के होते हैं। फिर चूँकि खेती की सारी ज़मीन तक नदियों की पहुँच नहीं है इससे यहाँ की खेती वर्षा पर बहुत निर्भर रहती है। इसी परवशता के कारण यहाँ बराबर अकाल पड़ा करते हैं जिससे कि यहाँ के लोग प्रारब्ध-वादी हो जाते हैं। इसी प्रारब्ध-वाद के कारण उनके अन्यान्य कामों के सिवा उनकी खेती बारी में बड़ी बाधा पहुँचती है। जब तक एक कुटुंब संगठित रहता है तब तक तो सब काम अच्छी तरह से चलता है परंतु परिवार में फूट होते ही जो बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं उन सबों का ज्ञान पाठकों को हो चुका है। जब तक जनसंख्या अधिक नहीं रही तब तक उत्तराधिकार के वर्त्तमान नियमों से कोई अधिक हानि नहीं होती थी पर अब इस बुराई को जहाँ तक हो सके शीघ्र ही नाश कर देने में भलाई है।

विद्वानों का कथन है कि ग़रीबी ग़रीबों का सत्यानाश कर देती है। इस कथन की सचाई भारतवर्ष के किसानों को देखकर पूरी तौर से ज्ञात होती है। ग़रीबी के कारण वे लोग न तो उच्चश्रेणी के औज़ार ही ले सकते हैं और न उन्नतिशील उपायों को ही काम में ला सकते हैं। सदैव पुराने-पुराने औज़ारों से पुरानी प्रथा के अनुसार काम करते रहने से समय और परिश्रम शक्ति की बहुत हानि होती है।

ग़रीबी के कारण इतना पैसा भी नहीं जुटा पाते कि छप्परदार खलि-हान या कोठार बना सकें। फ़सल के बाद सब काम खुली जगह में ही होते हैं जिससे पानी बरस जाने पर सब बना-बनाया काम बिगड़ जाता है। पाश्चात्य देशों में फ़सल काटने के बाद उसे साये में रखते हैं फिर वहीं से बाज़ार के लिए तैयार करते हैं।

हिंदुस्तान के कृषि-कर्म में बहुत से दोष हैं जिनसे खेती की वार्षिक उत्पत्ति में बहुत कमी आ जाती है। स्वार्गीय राय बहादुर गंगाराम के अनुसार इसका प्रधान कारण यह है कि जो ज़मीन जिस फ़सल के

लायक़ है वह उसी फ़सल के पैदा करने में विशेषतया नहीं लगाई जाती। ब्रिटिश भारत की कृषि-तालिका के देखने से यह मालूम होता है कि भिन्न-भिन्न स्थानों में एक ही रक़बे में भिन्न-भिन्न परिमाण में वही-वही अनाज पैदा होता है। ज़मीन की योग्यता का ध्यान न रखकर सब स्थानों में प्रत्येक प्रकार की फ़सल पैदा की जाती है। जब यातायात के सुभीते नहीं थे तब ऐसा करना ठीक भी था। पर अब तो असुविधाएँ दूर हो गई हैं, अब सब प्रकार की उपज को एक ही स्थान में पैदा करने की प्रथा को दूर कर देना चाहिए। उपज में विशेषता प्राप्त करने से जो लाभ होता है उसके विषय में कुछ अंक देकर हम यह बता देना चाहते हैं कि उपज में इसके बिना कितनी कमी हो जाती है। उत्तर-प्रदेश और बिहार में एक-एक एकड़ ज़मीन में ११½ मन तक गेहूँ पैदा होता है। यदि प्रत्येक राज्य अपनी-अपनी ज़मीन के अनुसार फसल पैदा करने लगे तो सारी राष्ट्रीय उपज में बहुत उन्नति हो।

फिर हमारे किसान रबी की फ़सल के बाद ज़मीन को बिना जुताई किये ही छोड़ देते हैं। नतीजा यह होता है कि मई-जून की गरमी से ज़मीन सूख कर बहुत कड़ी हो जाती है जिससे बरसात में पानी उस ज़मीन को पूरी तोर से लाभ नहीं पहुँचा सकता।

संक्षेप में कृषि की ग़रीबी के दो मुख्य कारण हैं। इस किताब के इन तेइसों अध्यायों को पढ़ लेने पर स्वयं पाठक ही यह नतीजा निकाल लेंगे कि हिन्दुस्तान की ग़रीबी के मुख्य दो कारण हैं। पहला कारण है अभाव (want) और दूसरा कारण है अपव्यय (waste)। यहाँ निपुण और संगठित आयोजना की कमी है। परिश्रम और मूलधन में संगठन और आर्थिक परिमाण में खेती के रकबे के न होने की कमी है और दूसरी ओर बर्बादी है। पुराने औज़ार व असंगठित परिश्रम शक्ति के कारण समय की बर्बादी, परिश्रम शक्ति की बर्बादी और इस समय खेती के लिए जो कुछ भी सामग्री मिल सकती है सदुपयोग न करने के

कारण, उसकी भी बर्बादी होती है। इन्हीं दो मुख्य दोषों के कारण हमारा देश ग़रीब है और इन्हीं दोषों को दूर करके दूसरे देश धनवान् हो गये हैं। इससे गाँवों को फिर से संगठित करते समय इन दोनों दोषों को दूर कर देने की बड़ी आवश्यकता है।

पचीसवाँ अध्याय

ग्रामीय जीवन का पुनरुद्धार---शिक्षा

पिछले अध्याय में भारत की दीन दशा और उसकी कृषि की हीनता की विवेचना कर लेने के बाद हम इस नतीजे पर पहुँच चुके हैं कि इन सब के दो मुख्य कारण हैं—अभाव और बर्बादी। इन दोनों दोषों को दूर करने के केवल दो मुख्य उपाय हैं—एक तो शिक्षा और दूसरे सहयोगी तथा विकास संस्थाओं का प्रचार। शिक्षा से किसान को कृषि के उन्नतिशील उपायों का तथा कृषि संबंधी अन्यान्य आर्थिक पहलुओं का समुचित ज्ञान हो जावेगा और सहयोगी तथा विकास संस्थाओं से उसकी कमी तो पूरी हो ही जावेगी पर साथ ही उसको फ़िज़ूल खर्च न करने की आदत पड़ जाने से बर्बादी से भी उसकी बचत हो जावेगी।

सन् १६१६ ई० के सुधार क़ानून के बाद से प्रत्येक प्रांत में शिक्षा की उन्नति होती जा रही है और ग्रामों में प्रारंभिक शिक्षा पर बहुत ज़ोर दिया जा रहा है। यद्यपि गत दस वर्षों में इस विषय में बहुत कुछ उन्नति की गई है पर सच पूछा जावे तो अभी सार्वजनिक शिक्षा की समस्या एक अंशमात्र ही हल हो पाई है। इसका कारण यह नहीं है कि लोगों में विद्या पढ़ने का उत्साह नहीं है। पर असली कारण पैसे की कमी ही है। यह आशा की जाती है कि भविष्य में इस काम के लिए अधिक पैसा मिल जावेगा और सार्वजनिक शिक्षा की अधिक उन्नति होती जावेगी।

पर हमें ऐसा मालूम होता है, हमारी शिक्षा संबंधी उन्नति के मसविदों में एक बात का ज़रा भी ख़्याल नहीं किया गया है। वह यह कि शिक्षा-पद्धति कुछ ऐसी हो जावे कि विद्यार्थी विद्या प्राप्त करके गाँवों से

अपना संबंध और सहानुभूति न तोड़ दें। लोगों की यह धारणा बहुत दिनों से चली आरही है कि वर्तमान शिक्षापद्धति बहुत ही अव्यवहारिक है और अभीतक ऐसी कोई भी कोशिश नहीं की गई है जिससे कि शिक्षा समाप्त करने के बाद विद्यार्थी इस लायक़ हो जावे कि आर्थिक-जीवन के किसी भी क्षेत्र—यथा व्यापार, कलाकौशल व्यवसाय, कृषि इत्यादि में बिना किसी कठिनाई के प्रवेश कर सके। उचित शिक्षा का मतलब उस शिक्षा से है जिससे उसके सब अवयव पूर्ण सज्ञान हो जावें, उसमें मनुष्यत्व की पूर्ण मात्रा आ जावे, उसके विचारों में स्वतंत्रता आ जावे, सांसारिक विवेचना करने की शक्ति आ जावे और उसे भले और बुरे की विवेचना करने का ज्ञान हो जावे। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में इन शक्तियों के बीज रहते हैं। उन बीजों से अंकुर फूटना, उसमें पल्लव लगकर उसका पूर्ण विकास होना उसकी शिक्षा पर निर्भर रहता है। रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा उठाने के लिए ऐसी ही शिक्षा की आवश्यकता होती है जिससे मनुष्य की सारी योग्यताओं को उत्साह मिले और उनका विकास संपूर्ण रूप से हो जावे। यदि हम मनुष्य जीवन की व्याख्या करें तो उसकी तीन प्रकृतियाँ निकलती हैं भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक। भौतिक का अर्थ उसके शरीर तथा उसकी कर्मेन्द्रियों से है। मानसिक का अर्थ उसकी ज्ञानेन्द्रियों तथा मन के द्वारा सांसारिक बातों के जानने की शक्तियों से है। आध्यात्मिक का उसके दिल और दिमाग़ से संबंध है, जिसकी मदद से मनुय को संगत और असंगत, भले और बुरे का ज्ञान होता है तथा उसका सांसारिक वस्तुओं और ईश्वर के साथ क्या संबंध है, इसका ज्ञान होता है। मानसिक और आध्यात्मिक विवेक के बीच अंतर निकालना कुछ सरल काम नहीं हैं, क्योंकि आध्यात्मिक विवेक मनुष्य की मानसिक अवस्था का ही विकास मात्र है, जिसमें मनुष्य की मानसिक वृत्ति ही कार्य करती है। दोनों में अंतर उनके विभिन्न दृष्टिकोण और उनके अंतिम उद्देश्यों में है। प्रत्येक मनुष्य में इन प्रकृतियों की ये सब

अवस्थाएँ थोड़ी बहुत वर्तमान रहती हैं। अंतर केवल यही होता है कि किसी में एक प्रकृति कम और दूसरी ज़्यादा और किसी में इन तीनों का भलीभाँति मेल होता है। यदि इन सर्वव्यापी सामूहिक अवस्थाओं में से किसी मनुष्य में भौतिक प्रकृति का विकास ज़्यादा हुआ तो फिर वह मनुष्य पशु तुल्य हुआ। और यदि उसमें केवल आध्यात्मिक प्रकृति का बहुत ज़्यादा विकास हुआ तो यह मनुष्यता को छोड़कर अधिकतर देवत्व की ओर झुकने लगता है। इन दो प्रकार के विकासों का चाहे जो कुछ महत्व हो पर चूंकि हम इस मनुष्य समाज में रहते हैं इससे हमको पशुत्व अथवा देवत्व के विकास से उतना संबंध नहीं है। हमको मनुष्यत्व के ही विकास की अधिक आवश्यकता है। और मनुष्यत्व का विकास ऊपर कही हुई तीनों अवस्थाओं के उचित संयोग से ही हो सकता है।

इससे किसी भी देश व किसी भी काल में शिक्षा की पद्धति इस प्रकार हो जिसमें मनुष्यत्व की सभी प्रकृतियों का संयोग हो सके। न तो वह पाश्चात्य देशों की तरह पूर्ण रूप से अर्थवाद (materialism) से भरा हो और न प्राचीन भारत की तरह पूर्ण रूप से अध्यात्मवाद से भरा हो। मनुष्य के शिक्षा-क्रम में पाश्चात्य देशों ने यदि अध्यात्मवाद को स्थान न देकर भूल की है तो हम भारतवासियों ने इससे भी भयंकर भूल की है। क्योंकि हमारी शिक्षा-प्रणाली से न तो भौतिक जीवन, न मानसिक जीवन और न आध्यात्मिक जीवन ही बनता है। केवल विदेशी भाषा अंग्रेजी लिखने-पढ़ने की योग्यता आ जाती है जो सरकार के काम चलाने के लिए अत्यंत आवश्यक है। तब फिर आश्चर्य्य नहीं कि देश के इतने विश्वविद्यालय और इतने कालेजों के होते हुए भी वास्तविक शिक्षित लोग इतने कम हैं। असली ज्ञान, वास्तविक शिक्षा तथा लाभ-दायक खोज ये हमारी शिक्षा के विधाताओं के उद्देश्य नहीं हैं। फिर ये अमूल्य पदार्थ हमें कहां मिलें? कुछ विरले ही चमत्कारिक पुरुष या ऐसे

पुरुष जिनमें वंशपरंपरा से अपूर्व ज्योति फैल रही है, आजकल के इस अर्थवाद पूर्ण जीवन में चमक उठते हैं। पर यदि उनके चारों तरफ की अवस्थाएँ उनके अनुकूल होतीं तो उनका यह चमत्कार अवश्य ही अधिकाधिक बढ़ता।

यदि हम हिंदुस्तान में रहन-सहन के दर्जे को बढ़ाना चाहते हैं, जो केवल यहाँ की कृषि की उन्नति पर निर्भर है, तो यहाँ की शिक्षापद्धति में अवश्य ही परिवर्तन कर देना चाहिए। उसको अधिक उदार और विस्तृत बना देना पड़ेगा। उसके उद्देश्य को बदल देना पड़ेगा। उसका यह उद्देश्य हो जाना चाहिए कि शिक्षा प्राप्त करने से मनुष्य की प्राकृतिक योग्यताएँ खूब विकसित हो जावें। ऐसे बहुत कम लोग हैं जो नितांत जड़ स्वभाव के हों और समाज का उनमें उन्नति करने के लिए प्रयत्न करने पर भी उनकी अवस्था में परिवर्तन न हो सके। आमतौर से प्रत्येक मनुष्य में कुछ न कुछ योग्यता अवश्य ही होती है जिसका पता लगा कर उन्नति करने से अवश्य ही उस मनुष्य में यह योग्यता परिपूर्ण हो जाती है। और तब वह अपनी योग्यता के अनुकूल उस काम को भली भाँति कर सकता है। इस योग्यता को उस मनुष्य की रुचि कहते हैं।

इस रुचि के विषय में एक और आवश्यक बात है और वह यह कि एक ही रुचि वाले मनुष्यों में उस रुचि के भिन्न-भिन्न पहलू पाये जाते हैं और एक-एक पहलू एक-एक मनुष्य में पुष्ट होता जाता है तथा उसके अनुसार एक मनुष्य उस कार्य के एक विभाग में निपुण होता जाता है। मान लीजिए कि दो विद्यार्थी जो अपने-अपने विषय में विद्वान हैं, दोनों को अध्ययन से प्रेम है, पर उनमें से एक तो अर्थशास्त्र का शिक्षक हो जाता है और दूसरा दर्शनशास्त्र का और दोनों अपने अपने काम में पूरे दक्ष हो जाते हैं। एक मनुष्य का एक मार्ग में इस प्रकार की विशेषता का अर्थ यह नहीं हैं कि यदि किसी कारण से उसे दूसरे विषय की शरण लेनी पड़ती तो वह उसमें बिलकुल असफल हो जाता। हमारे कहने का

तात्पर्य इतना ही है कि वह दूसरे विषय में उतनी योग्यता नहीं पा सकता जितनी कि वह अपनी रुचि के अनुकूल विषय में पा सकता था।

अन्यान्य रुचि के तथा उनके विभिन्न पहलुओं के साथ उन पहलुओं की विभिन्न श्रेणियां होती हैं जिनके अनुसार एक ही कार्यक्षेत्र में लगे हुए अनेकानेक लोगों में विभिन्न मात्रा में निपुणता होती है। इससे प्रत्येक शिक्षा पद्धति इस प्रकार की हो जिससे कि मनुष्य की रुचि तथा उस रुचि के विशेष पहलू का पता लग जावे और फिर उस पहलू का उस मनुष्य में जहाँ तक हो सके वहाँ तक विकास हो।

पर किसी भी शिक्षा पद्धति का उद्देश्य मनुष्य की रुचि का पता लगाने उसका विकास करने से ही पूरा नहीं हो जाता। एक मनुष्य में अथवा एक संप्रदाय के संप्रदाय में काम करने की चाहे पूरी शक्ति हो, जैसा कि भारतवर्ष व यूरोप दोनों स्थानों में बहुधा पाया जाता है, पर सब योग्यताओं का सार मनुष्यत्व यदि किसी मनुष्य में नहीं तो उस मनुष्य को मनुष्य नहीं केवल एक यंत्र समझना चाहिए। मनुष्यों में एक और उच्च विचार—एक सद्गुण की आवश्यकता होती है जो व्यक्तिगत उन्नति के लिए भले ही ज़रूरी न हो पर राष्ट्रीय जीवन के लिए उसकी बड़ी भारी आवश्यकता होती है। इस उच्च विचार का नाम स्वदेश प्रेम है। स्वदेश प्रेम व्यक्ति-विशेष में दृष्टिकोण विस्तृत, हृदय उदार, सहिष्णुता का विकास और अपने भाइयों के प्रति सहानुभूति पैदा करना है। मनुष्य को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि नागरिक की हैसियत से उसका देश के प्रति क्या कर्त्तव्य है तथा मनुष्य की हैसियत से उसका अन्तर्राष्ट्रीय समाज में क्या कर्त्तव्य है। उसे अपने अधिकारों और उत्तरदायित्व का पूरा ज्ञान हो जाता है।

इसलिए हमारी शिक्षा पद्धति का दूसरा उद्देश्य यह होना चाहिए कि मनुष्यों में इन सद्गुणों का पूर्ण रूप से विकास हो क्योंकि मनुष्य-जीवन के लिए इन गुणों की बड़ी आवश्यकता है।

शिक्षा-पद्धति के आदर्श सिद्धांत

किसी भी आदर्श शिक्षा-पद्धति का सर्व प्रथम सिद्धांत यह होना चाहिए कि प्रत्येक शिक्षा-पद्धति की दो विभिन्न अवस्थाएँ हों। पहली अवस्था में तो विद्यार्थियों की रुचि का पता लग जावे और दूसरी अवस्था में उस रुचि का जहाँ तक हो सके वहाँ तक विकास हो जावे। फिर पहली अवस्था के भी दो भेद करने चाहिए। पहले में तो विद्यार्थी में केवल लिखने-पढ़ने की योग्यता आजानी चाहिए। भाषा का यथोचित ज्ञान जहाँ तक हो जल्द हो जावे। इस उद्देश्य के लिए ऐसी भाषा पढ़ाई जानी चाहिए जिसे विद्यार्थी जल्दी-जल्दी सीख सकें। इसके प्रत्येक विद्यार्थी को उसकी मातृ भाषा ही सबसे सरल होगी। भाषा ऐसी अप्राकृतिक न हो जैसे हिंदुस्तान में अंग्रेजी भाषा है। जिसका साधारण ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा में ही अमूल्य जीवन का बहुत सा समय लग जाता है। प्रारंभिक शिक्षा का उद्देश्य केवल भाषा का ज्ञान करा देना ही न होना चाहिए। इसी अवस्था में प्रत्येक विद्यार्थी को गणित, भूगोल, राष्ट्रीय-इतिहास, धर्म, नीति, स्वास्थ्य शास्त्र तथा कुछ अन्य प्राकृतिक विषयों का भी प्रारंभिक ज्ञान करा देना चाहिए। दूसरी अवस्था में, जिसका कि उद्देश्य मनुष्य की रुचि का जानना है, शिक्षा-क्रम बहुत विस्तृत होना चाहिए। इस अवस्था में सभी विषयों का कुछ न कुछ ज्ञान करा देना चाहिए और शिक्षकगण इस बात का ध्यान रखें कि किस विद्यार्थी की रुचि किस ओर को है। यहाँ ऊपर कहे गये विषयों के सिवाय अन्यान्य विषय, कारीगरी व हस्त-कला के काम भी सिखाये जाने चाहिए जैसे—नाव चलाना, बढ़ई गिरी, बाग़-वानी इत्यादि।

तीसरा सिद्धांत यह होना चाहिए कि देश के मनुष्यों की भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार प्रत्येक विषय के विद्यालय हों जिससे एक-एक विषय की सविस्तार शिक्षा दी जा सके और जिससे विद्यार्थी की विशेष योग्यता

का पूर्ण विकास हो सके और जब विद्यार्थी किसी विषय में अपनी शक्ति के अनुसार शिक्षा प्राप्त करले और उससे आगे न बढ़ सके तो फिर उसे उसी विषय में या उस विषय से मिलते जुलते हुए किसी अन्य विषय में उस सीमा तक व्यावहारिक ज्ञान दिया जाना चाहिए जिस सीमा तक उसे उस विषय का शाब्दिक ज्ञान हो चुका है।

चौथा सिद्धांत यह होना चाहिए कि विद्यार्थियों में मौलिकता का भाव बढ़े। उन्हें स्वयं पढ़ने से रुचि हो जावे, स्वयं किसी बात को सोच लें और स्वयं उसके किसी नतीजे पर पहुँच सकें। इस सिद्धांत का तो महत्व केवल वे लोग ही समझ सकते हैं जिन्होंने किसी हिंदुस्तानी विश्वविद्यालय और किसी पाश्चात्य विश्वविद्यालय दोनों स्थानों में शिक्षा प्राप्त नवयुवकों को तुलनात्मक दृष्टि से देखा हो। इस देश की प्रत्येक शिक्षा पद्धति कुछ ऐसी है जिससे यहाँ के विद्यार्थियों में मौलिकता का भाव नहीं आने पाता। पाश्चात्य देशों में इस भाव का उत्पन्न करना वहाँ की शिक्षा का प्रधान उद्देश्य है।

पाँचवाँ आवश्यक सिद्धांत यह है कि शिक्षा की प्रत्येक अवस्थाओं में मनुष्य की तीनों प्रकृतियों अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक की संयुक्त उन्नति करने का सदैव ध्यान रखा जाय क्योंकि इन्हीं तीनों प्रकृतियों के मेल से मनुष्य वास्तव में मनुष्य बनता है जैसा कि हम पहले कह चुके हैं। युवा अवस्था की अपेक्षा अधिकतर प्रारंभिक काल में ही शारीरिक और आध्यात्मिक प्रकृतियों की उन्नति करने का ध्यान रखना चाहिए क्योंकि इसी अवस्था में लगभग पाँच वर्ष से लेकर अठारह वर्ष की उम्र तक कच्ची लकड़ी की तरह बच्चों के शरीर और आचरण जिधर चाहें उधर झुकाए जा सकते हैं। इस अवस्था में जो उन पर छाप लग जाती है वह आगे चलकर बहुत मुश्किल से मिटती है।

इसी उम्र में हम स्वदेश प्रेम के भाव उत्पन्न करने पर अधिक ज़ोर देंगे। शिक्षा ऐसी हो ताकि प्रत्येक के हृदय में स्वदेशाभिमान उत्पन्न

हो। वह स्वदेशाभिमान ऐसा न हो जिससे लोग दूसरे राष्ट्रों को घृणा की दृष्टि से देखने लगें। बल्कि स्वदेशाभिमान से लोगों के हृदय में वह उत्साह आ जाय जिससे उनके हृदय में उदारता, साहस और उत्तर-दायित्व के भावों का संचार हो। यह तो तभी तक हो सकता है जब कि मनुष्य उस विशेष अवस्था में न पहुँचा हो जहाँ कि उसको अपनी शक्ति किसी विशेष काम में लगा देनी पड़ती है। यानी शिक्षा प्रणाली की उस अवस्था में जहाँ कि उसकी रुचि की खोज होती है। इन गुणों को उत्पन्न करने के लिए इतिहास, साहित्य, दर्शन, कला, धर्मादि विषयों की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। हिंदुस्तानी विद्यार्थियों को बहुधा विदेशी बातें सिखाना व विदेशी आदर्श उनके सामने रखना, जिनसे कि उन्हें सहानुभूति नहीं है, नितांत मूर्खता है और अपने देश की अच्छी-अच्छी बातों को छोड़ देना तो और भी बड़ी भारी मूर्खता है। इससे गुलामी के भाव पैदा होते हैं और लोग अपने को दूसरी क़ौमों से नीचा समझने लगते हैं। मनुष्यत्व के नाम पर ऐसे भाव कभी भी किसी देश के मनुष्यों में पैदा नहीं किए जाने चाहिए। शिक्षा की प्रत्येक अवस्था में धार्मिक शिक्षा भी देना अत्यन्त आवश्यक है। किंतु स्मरण रहे कि धर्म के नाम से धर्मान्धता न सिखलाई जावे। हमारे विचार में धर्मज्ञान के बिना शिक्षित से शिक्षित मनुष्य भी निरा पशु है और हिंदुस्तान में ऐसे शिक्षित लोग बहुत पाए जाते हैं। इसी से हम इस बात पर अधिक ज़ोर दे रहे हैं। हम चाहे सभी बातों को छोड़ दें पर धर्म जिसका वास्तविक अर्थ, ईश्वर में अनन्य विश्वास और लोकसेवा है, कभी नहीं छोड़ सकते।

शिक्षा की पद्धति को इन आदर्शों के अनुसार बदल देने से मनुष्य का जीवन उच्च हो जावेगा जिससे उसका रहन-सहन भी ऊँचे दर्जे का हो जावेगा। हमारे देश में ज़्यादातर लोगों का रहन-सहन बहुत हल्का होता है। जिस प्रकार इंगलैण्ड में सामाजिक और राजनैतिक विशारदों

को सदैव वहाँ के लोगों में अध्यात्मवाद तथा धन लोलुपता के नाश के भाव फैलाने की चिंता रहनी चाहिये उसी प्रकार हिंदुस्तान में लोगों की ग़रीबी को दूर करने और उनके रहन-सहन के दर्जे को बढ़ाने की चेष्टा की जानी चाहिए। महात्मा गाँधी की शिक्षाओं की हिन्दुस्तान की अपेक्षा यूरोप में अधिक आवश्यकता है क्योंकि हिन्दुस्तान के वर्तमान काल की समस्या धन के वितरण की नहीं उसकी उत्पत्ति की है। पर हमारे देश में भी बहुत से ऐसे साहूकार, व्यापारी, ज़मींदार तथा अन्य पूँजीपति हैं जो पाश्चात्य देश के मनुष्यों को तरह अत्यंत धनलोलुप हो गये हैं और अपने ग़रीब भाइयों को उस वैभव के सुख में हिस्सा देने में मुँह मोड़ते हैं। इनके लिए भी महात्मा गाँधी की शिक्षा की आवश्यकता है। महात्मा गाँधी की शिक्षाओं का राष्ट्रीय संगठन और स्वराज्य की दृष्टि से चाहे जो महत्व हो पर इन धनलोलुपों के लिए तो उनकी शिक्षाओं और सिद्धांतों की नितांत आवश्यकता है। हमारे विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा के सर्वथा अभाव होने पर भी पाश्चात्य अर्थवाद के विपरीत देश की प्रकृति अध्यात्मवाद की ओर झुक रही है। यह हमार लिए गौरव की बात है।

यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दुस्तान अंत में पश्चिम के अर्थवाद की ओर अथवा पूर्व के प्राचीन सौम्य तथा स्वस्थ जीवन की ओर झुकेगा। पर संसार में ऐसी अनेकानेक शक्तियाँ काम कर रहीं हैं जिन्हें देखने से यह पता लगता है कि इन दोनों सिद्धांतों का भविष्य में संयोग हो जावेगा। न तो मर्यादाहीन अर्थवाद रह जावेगा और न अध्यात्मवाद ही। यदि संसार में शीघ्र प्रलय न होना हो तो इस प्रकार के संयोग की परमावश्यकता है। हमारे विचार में तो इस प्रकार के संयोग के लक्षण भी प्रकट हो रहे हैं। एक ओर तो विशेषकर पाश्चात्य देशों में स्वार्थ, लालच, जातीयता इत्यादि विनाशक शक्तियाँ काम कर रही हैं। दूसरी ओर विशेषकर पूर्व की ओर सब से अधिक हिन्दुस्तान में विश्व

प्रेम और मनुष्यत्व के लक्षण दिखलाई दे रहे हैं। साधारण व्यक्ति को तो रूस का साम्यवाद, इंगलैण्ड में मज़दूरों का आंदोलन और हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय आंदोलन शांति भंग के कारण मालूम होते हैं। पर हमारी राय में उथल-पुथल एक अवश्यम्भावी विश्वप्रेम, स्वार्थत्याग और विश्व-व्यापिनी शांति के सूचक हैं।

छब्बीसवाँ अध्याय

ग्राम्य जीवन का पुनरुद्धार—सहयोगी संस्थायें

संक्षेप में गाँवों में तीन प्रकार के सुधार करने चाहिए—अच्छी खेती, अच्छा व्यवसाय, और अच्छा जीवन। अच्छी खेती के माने ये हैं कि खेती वर्तमान वैज्ञानिक उपायों से करनी चाहिए। अच्छे व्यवसाय के लिए व्यवसाय के आधुनिक सिद्धांतों को काम में लाना चाहिए। गाँवों में अच्छे जीवन के लिए गृहस्थ और सामाजिक जीवन को संगठित कर देने की आवश्यकता है जिससे लोगों का झुकाव शहरों के रहन-सहन की ओर न होने पावे। यह तो तभी हो सकता है जब ग्राम्य जीवन में सभी सुख प्राप्त हो सकें और ग्रामीण पुरुष की योग्यताओं को इस प्रकार विकसित होने का अवसर दिया जावे जिससे केवल व्यक्तिगत ग्रामीण का ही नहीं बल्कि सारे समुदाय का लाभ हो सके। गाँवों की उन्नति करने के लिए एक प्रधान मुख्य उपाय यह है कि ग्रामीणों के आर्थिक संगठन करने के उद्देश्य से उनकी सेवा के लिये कुछ ऐसी संस्थाएँ खोली जावें जिससे उनमें मितव्ययता का ज्ञान आवे और उनके व्यवसाय में उन्हें अधिक लाभ हो, तथा उन संस्थाओं को सभी ग्रामीण आपस में मिलकर चलाते रहें।

हिन्दुस्तान में अब संस्थाओं में परिवर्त्तन होना आरंभ हो गया है और यहाँ के लोग बहुत सी प्राचीन बातों को छोड़कर नवीनता की ओर झुक रहे हैं। वर्तमान आर्थिक शक्तियों का ही यह असर है कि गाँवों का पतन होता जा रहा है और भारत का मुख्य व्यवसाय कृषि शिथिल पड़ता जा रहा है, क्योंकि उससे अब यथोचित लाभ नहीं होता। रहन-सहन

के दर्जे के ऊँचे हो जाने से और आवश्यकताओं के बढ़ जाने से गाँव वालों की आर्थिक दशा बहुत शोचनीय होती जा रही है। शहरों का बढ़ना गाँवों के पतन का कोई बड़ा कारण नहीं है। समस्या यह नहीं है कि गाँव वाले शहरों में जाकर बसते जा रहे हैं, पर समस्या यह है कि शहरवाले स्वयं गाँववालों का दरवाज़ा खटखटा रहे हैं। हमें यह ध्यान से देखना चाहिए कि शहर की सभ्यता किस प्रकार गाँवों में धीरे-धीरे किंतु निश्चयात्मक रूप से प्रवेश कर वहाँ की पुरानी प्रथाओं को नष्ट-भ्रष्ट कर रही है। शहरवालों का यह सिद्धांत है कि ग़रीबों को पछाड़कर ही धनिक अधिक धनवान् बन सकता है, इसी से वे लोग ग़रीब किसानों की ग़रीबी और अज्ञानता से मनमाना फ़ायदा उठाने में लगे हैं। इसी से पूँजीपति ग़रीबों को निचोड़ रहे हैं। एक ओर तो धनिक अधिक धनी होते जा रहे हैं, दूसरी ओर ग़रीब और भी अधिक ग़रीब होते जा रहे हैं। पर ग्रामीणों का सिद्धांत इससे बिल्कुल विपरीत है। इस प्रकार दो विरुद्ध सिद्धांतों के संघर्ष से बहुत हानि हो रही है। गाँवों में अब एक दूसरे की सहायता के बदले एक दूसरे पर घोर अविश्वास करने लगे हैं। मुक़दमे-बाज़ी बढ़ती जा रही है जिससे ग्रामीण समाज का पतन होता जा रहा है। अब गाँव-वालों का ध्यान उनकी ज़मीन और उसकी उन्नति की ओर नहीं है। क्योंकि अब उन्हें यह मालूम हो गया है कि खेती में अब कोई विशेष फ़ायदा नहीं रह गया है और वे शहरों में जाकर अधिक पैसा कमा सकते हैं। जब तक ग्रामीण के पास पैसा है जिससे वह अपना जीवन-निर्वाह कर सके, तब तक उसे खेती पर निर्भर रहना उचित नहीं, जिसका परिणाम सदैव अनिश्चित रहता है।

गाँवों की उन्नति करने में हमें ऐसी ही समस्याओं पर विचार करना पड़ेगा। केवल खेती की उन्नति, गाँवों की सफ़ाई या ढोरों की अच्छी नसल पैदा करने से ही काम न चलेगा। गाँवों की उन्नति करने के लिए सब से भारी आवश्यकता शिक्षा की है, जिसका वर्णन हम पिछले अध्याय

में कर चुके हैं। हम यह भी बता चुके हैं कि वास्तविक शिक्षा का क्या रूप होना चाहिए।

गाँवों की उन्नति की ओर बहुत दिनों से सरकार और जनता का ध्यान आकर्षित हो रहा है और दोनों की ओर से इसके लिए कुछ कोशिशें भी की गई हैं। पर जन साधारण में शिक्षा का अभाव होने से इन कोशिशों से कोई लाभ नहीं हुआ है। गाँवों में उन्नति के जो कुछ उपाय हम बतावें, हमें उन लोगों पर उन उपायों का असर स्थायी रखना चाहिए। पर ऐसा करना उन लोगों की अशिक्षा के कारण संभव नहीं है।

गाँवों में करने लायक़ सारी उन्नति पर एक साथ ध्यान रखना चाहिए। एक-एक उन्नति के काम को छिन्न-भिन्न कर देने से समय और पैसे दोनों की हानि होती है। एक-एक काम के लिए अलग-अलग इतने सरकारी और ग़ैर-सरकारी लोगों का दौरा होता है, जिससे उन्नति होना तो दूर रहा बल्कि उलटे गाँव वाले ही ऊब जाते हैं। यदि उतने ही पैसे से एक विशेष विभाग, जिसका काम ग्राम्य जीवन की उन्नति करना हो, क़ायम कर दिया जावे तो बहुत लाभ हो। पर बिना शिक्षा की उन्नति के किसी भी उपाय से लाभ न होगा। सार्वजनिक शिक्षा के विषय में हम पिछले अध्याय में बहुत कुछ लिख चुके हैं। इससे उसके यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

सार्वजनिक शिक्षा के साथ सम्बन्ध रखनेवाली एक गूढ़ समस्या सार्वजनिक आर्थिक संगठन की है, जो गाँवों की उन्नति के लिए अत्यंत आवश्यक है। किसान को उसकी भूमि से अधिक-से-अधिक लाभ होना चाहिए और उसे उसकी उपज का पूरा दाम मिलना चाहिये। कहने का तात्पर्य्य यह है कि उपज, वितरण, उपयोग और खपत सभी में पूरा लाभ होना चाहिये। गाँव वालों के लिए रुपये पैसे को सावधानी से मिलने की समस्या को सार्वजनिक कार्य से हल करना गाँव वालों के पारस्परिक

सम्मेलन पर निर्भर है। भारत में इस आधार पर बनी हुई सहयोगी संस्थाओं का आरंभ हो चुका है, जिससे गाँवों के रोज़गार के लिये रुपये उधार मिला करते हैं। सहयोगी संस्थाओं ने कार्य आरंभ कर दिया है, जिसके समुचित संगठित हो जाने से गाँवों की उन्नति करने में बड़ी सहायता मिल सकती है। भारत में सहयोगी संस्थाओं ने जड़ जमा ली है, यह इस बात के देखने से प्रगट हो जावेगी कि इस देश में सन् १९५१ में लगभग १ लाख ८१ हजार सहयोगी कृषि संस्थाएँ स्थापित हो चुकी हैं जिसमें लगभग १ करोड़ ३७ लाख सदस्य हैं। इनमें २७ करोड़ ५८ लाख की कार्यकारी पूँजी लगी हुई है। मूलधन चलतू हिसाब में लगा हुआ है। सहयोगी संस्थाओं से जो लाभ होते हैं वे पाठकों को इस पुस्तक में पहले बताये जा चुके हैं। हिन्दुस्तान की उपरोक्त करीब २ लाख संस्थाएँ कृषि समाज को बहुत से लाभ अब भी पहुँचा रही हैं। पर अभी इसके सम्मुख एक बड़ा विस्तृत कार्य-क्षेत्र पड़ा हुआ है। यद्यपि इन संस्थाओं से कुछ निर्धन किसानों को रुपये की सहायता मिल जाती है पर अब भी बहुत से ऐसे किसान पड़े हैं जिन्हें बनियों या महाजनों की कृपा पर निर्भर रहना पड़ता है। हमारे पाठकों को यह मालूम हो चुका है कि महाजनों की ग़रीब किसानों पर कितनी कृपा रहती है। सभी किसानों को सहयोगी संस्थाओं से मदद नहीं मिल सकी है इसका कारण यह है कि अभी इन सहयोगी संस्थाओं का प्रचार पूरी तरह नहीं हुआ है। जिन लोगों पर इस कार्य की ज़िम्मेदारी है उन्होंने सहयोगी संस्थाओं को बढ़ाने में देश की प्रचलित प्रथाओं का ध्यान नहीं रखा, नहीं तो इन संस्थाओं से देश को आज तक अधिक लाभ पहुँच गया होता। हिन्दुस्तान के गाँवों में सामाजिक संस्थाओं व अन्य कार्यों में सामाजिक एकता का बहुत प्रचार हो चुका है। सब लोगों के लिए एक चरागाह, लकड़ी काटने में समाज का अधिकार, आबपाशी का सम्मिलित प्रबन्ध, पूरे ग्राम की ओर से बढ़ई लोहार का लगाना इन सब बातों की

उत्तमता देखने से यही धारणा होती है कि यहाँ गाँवों के प्राचीन सहयोगी सिद्धांतों को कायम रखना ज़रूरी है। जापान, रूस और इटली में इसीलिए वहाँ की सहयोगी संस्थाओं को बहुत सफलता मिली है। इससे गावों की सहयोगी संस्थाओं में धनी व ग़रीब सभी को मिलाकर एक सूत्र में बाँध रखना चाहिये। संभव है कि इससे कहीं-कहीं धनी लोग ग़रीबों पर अत्याचार करने की कोशिश करें पर इस दोष के दूर करने के लिए इन संस्थाओं पर अधिकारी वर्ग की निगाह रहनी चाहिये।

यदि सहयोगी संस्थायें सब प्रकार से लाभदायक हैं तो उन्हें उन सब कार्यों को अपने ऊपर ले लेना चाहिये जिन्हें आज तक गाँव के साहूकार और महाजन लोग करते रहे हैं। जैसे, कम सूद पर रुपया उधार देने के सिवाय अन्यान्य प्रकार से संस्था के सदस्यों को उनकी आर्थिक अवस्थाओं की उन्नति करने के लिए सहायता देना, उनकी उपज शक्ति को बढ़ाना और उनकी उपज का पूरा-पूरा मूल्य दिलाना इत्यादि। केवल खेती की पैदावार में उन्नति कर लेने से क्या हो सकता है जब कि किसान को उसकी उपज का उचित मूल्य नहीं मिल सकता। इसलिए हमारी संस्थाओं में कुछ परिवर्तन कर देने की बड़ी भारी आवश्यकता मालूम होती है। इन एक उद्देशीय संस्थाओं से गाँव की कोई ख़ास उन्नति नहीं हो सकती है। हानि भले ही हो जावे। हमें ऐसी बहु उद्देशीय सहकारी संस्थाओं की आवश्यकता है जो रुपये उधार देने का काम करें, किसानों को सस्ते दामों में उनके व्यवसाय की सामग्रियों को दिलाने का काम करें तथा उनकी उपज का पूरा मूल्य दिलाने का कार्य करें। उनके व्यवसाय में उनकी आय से सब प्रकार के खर्चों को काट कर जो कुछ बचा रहे, उसीसे यह संस्थायें गाँवों में शिक्षा आदि का प्रबंध करें, जिससे गाँवों की वास्तविक उन्नति हो सके। इन संस्थाओं का प्रबंध गाँवों के स्कूल-मास्टरों द्वारा राज्य के केन्द्र स्थल के बैंक की

सहायता से हो सकता है। केन्द्रस्थल के बैंकों में भी संगठन की आवश्यकता है।

अब हम देखते हैं कि इस प्रकार शहरों के असर से गाँवों को बचा रखने में ही उनकी भलाई है। गाँव वालों के सामने ऊँचे दर्जे के रहन-सहन का आदर्श रख कर उनको स्वावलंबन की शिक्षा दी जानी चाहिए। इस आशा से वे अवश्य ही अधिक कर्त्तव्यशील हो जावेंगे और जैसा हमने आरंभ व बीच-बीच में कहा है वैसे ही यहाँ पर भी कहे देते हैं कि पूरी उन्नति व आदर्शवाद का मूल्य सार्वजनिक शिक्षा ही है।

ग्रामों की उन्नति करने में कई प्रकार की बाधाएँ पड़ेंगी। कई बार स्वयं गाँववाले भूल से कुछ उन्नतिशील उपायों का विरोध करेंगे पर इससे क्या? सुसंगठित रूप से सब कार्य करने से शीघ्र ही सफलता मिल जावेगी।

———

सत्ताइसवाँ अध्याय

ग्राम्य जीवन का पुनरुद्धार—विकास संस्थायें

भारत के स्वतंत्र होने के पहिले अंग्रेजी सरकार ने ग्रामवासियों की दशा सुधारने का कोई भी ठोस प्रयत्न नहीं किया, उनके समय में ग्रामवासियों का शोषण खूब हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि ग्रामवासियों की दशा बराबर खराब होती गई। सन् १९४७ से भारत की राष्ट्रीय सरकार का ध्यान ग्रामवासियों की दशा सुधारने की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में सामूहिक विकास योजना द्वारा ग्राम-सुधार का कार्य करने की व्यवस्था की गई।

सामुहिक विकास-योजना

२ अक्तूबर १९५२ को भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में ४४ सामुहिक विकास क्षेत्र और ३२ विकास खंड स्थापित किये गये। प्रत्येक सामुहिक क्षेत्र में तीन विकास खंड सम्मिलित थे। २ अक्तूबर १९५३ से राष्ट्रीय विस्तार सेवा का आरम्भ किया गया और २५२ नये विकास खंड खोले गये। १९५३ के बाद प्रति वर्ष नये विकास खंड खोले जा रहे हैं और सन् १९६१ तक उनकी संख्या ५००० तक बढ़ जायेगी और भारत का प्रत्येक गाँव किसी-न-किसी विकास खंड के अन्दर अवश्य आ जावेगा। विकास खंड का कार्य समझने के लिये उसका संगठन समझ लेना आवश्यक है। प्रत्येक विकास खंड का क्षेत्र करीब १०० ग्रामों का होता है। प्रत्येक विकास खंड में एक विकास खंड अधिकारी (बी० डी० ओ०) नियुक्त किया जाता है और वही ग्रामसुधार-संबन्धी सब कार्यों के लिये

जिम्मेदार रहता है। इस अधिकारी की सहायता देने के लिये निम्न-लिखित कार्यकर्ता रहते हैं :—

कृषि-निरीक्षक, सहकारी समितियों का इंस्पेक्टर, पंचायतों का इंस्पेक्टर, समाज-शिक्षा-व्यवस्थापक, डाक्टर, कम्पाउन्डर, स्वास्थ-निरीक्षक, ओवरसियर, पशुचिकित्सक, १० ग्राम सेवक और २ ग्राम सेविकायें, लिपिक, चपरासी, और चौकीदार।

राष्ट्रीय विस्तार के विकास खंड में तीन वर्षों में साढ़े-सात-लाख रुपये खर्च करने की व्यवस्था की गई है। जो विकास खंड सामुहिक विकास क्षेत्रों में स्थापित किये गये हैं, उनमें तीन वर्षों के लिये १५ लाख रुपये खर्च करने की व्यवस्था है।

विकास खंड के कार्यों के आधार भूत उद्देश्य नीचे लिखे अनुसार हैं:—

१—प्रत्येक सम्भव उपाय द्वारा कृषि की उपज को बढ़ाना, २—ग्रामीण क्षेत्रों में बेकारी की समस्या को हल करना, ३—गाँव के याता यात साधनों को सुधारना, ४—गाँव में शिक्षा, स्वास्थ्य तथा मनोरंजन के साधनों का प्रबन्ध करना, ५—मकानों में सुधार तथा देशी कारीगरी और छोटे व्यवसायों की उन्नति करना, ६—सब कार्यों के लिये ग्राम-वासियों का सहयोग प्राप्त करना।

प्रत्येक विकास खंड में निम्नलिखित कार्यों के सम्बन्ध में ध्यान दिया जा रहा है:—खाद के गड्ढ़ों का खुदवाना, रासायनिक खादों का प्रचार, नये और उत्तम बीजों का प्रचार, मशीनों या यंत्रों का प्रचार, खेती के नये तरीकों का प्रचार, पशुओं को टीका लगवाना, कमजोर साँड़ों को बधिया कराना, सिंचाई के साधनों को बढ़ाना, गन्दे पानी के गड्ढ़ों को खुदवाना, गन्दे पानी के लिये नालियों का बनवाना, नये पाठशालाओं को स्थापित करना, प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों को चलाना, भजन मंडलियों को स्थापित करना, सड़कों का बनवाना, दस्तकारी के केन्द्रों को स्थापित करना और ग्रामीण उद्योगों को प्रोत्साहित करना।

१९५६ के सितम्बर मास तक सरकार द्वारा विकास खंडों के कार्यों पर ७५ करोड़ रुपये खर्च हो चुके हैं। ग्रामवासियों ने श्रमदान-द्वारा जो कार्य किये हैं उनकी कीमत का अनुमान ४५ करोड़ रुपया लगाया गया।

गत छः वर्षों में विकास खंडों में जो कार्य हुये हैं उनके संबन्ध में यह कहा जाता है कि बेकारी की समस्या को हल करने के लिये कुटीर उद्योग धंधों को प्रोत्साहित करने, सहकारी खेती के लिये ग्रामवासियों को सुविधा देने और चारे की मात्रा बढ़ाने की ओर बहुत कम ध्यान दिया जा रहा है। केवल उन कार्यों की तरफ विशेष ध्यान दिया जा रहा है, जिनका प्रत्यक्ष फल अल्पकाल में ही देखा जा सकता है, और उन कार्यों की तरफ ध्यान नहीं दिया जा रहा है जिनका स्थायी फल दीर्घ काल में ही मिल सकता है। इस प्रकार जो कुछ उन्नति के लक्षण दिखाई दे रहे हैं वे अल्पकालीन हैं और उनसे स्थायी उन्नति की आशा नहीं की जा सकती। विकास खंडों में कार्य करने वाले कई कर्मचारियों में सेवा भाव की कमी पाई गई है और आर्थिक लाभ कुछ थोड़े से ग्रामवासियों को ही मिल पाया है और उन ग़रीब और असहाय ग्रामवासियों को जिनको सहायता की सब से अधिक आवश्यकता है, कुछ भी लाभ नहीं मिल पाया है।

ग्राम-सेवक

विकास खंड के कार्यों में ग्राम-सेवक का विशेष स्थान है। उसके कार्यों का क्षेत्र साधारणतः दस ग्रामों तक सीमित रहता है। उसका प्रधान कार्य अपने क्षेत्र के ग्रामवासियों को विकास सम्बन्धी कार्यों के लिये प्रोत्साहित करना तथा सहायता करना है। वह विकास खंड के अधिकारियों को बतलाता है कि ग्रामवासियों की प्रधान आवश्यकतायें क्या हैं और वह इन अधिकारियों से जो कुछ सुझाव पाता है उनको ग्राम-

वासियों को समझा देता है। ग्राम सेवक को अपने क्षेत्र के प्रत्येक गांव के लिये एक सर्वे रजिस्टर रखना पड़ता है, जिसमें प्रत्येक कुटुम्ब के सम्बन्ध में सामाजिक दशा तथा शिक्षा के अनुसार व्यक्तियों की संख्या कितनी जमीन में किस-किस प्रकार की फसल बोई गई इसका व्योरा रहता है। परन्तु उसमें बेकारी के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं रहती। उसको एक ऐसा रजिस्टर रखना पड़ता है जिसमें प्रत्येक गांव में जो कुछ कार्य किया जा चुका है उसका पूरा वर्णन रहता है। उसको प्रत्येक मास में दो बार अपने कार्यों की रिपोर्ट विकास खंड के अधिकारी के पास भेजनी पड़ती है। ग्राम सेवक अपने कार्यों की रिपोर्ट प्रायः बढ़ा कर दे दिया करते हैं। जब कभी इन सब कार्यों की जांच गांव में जाकर की जाती है तो प्रायः किये हुये कार्य, रिपोर्ट में दिये हुये कार्यों से कम ही पाये जाते हैं।

ग्राम सेवक को खाद के गड्ढे खुदवाने में, गन्दे पानी के गड्ढे खुदवाने में, गंदे पानी की नाली बनवाने में और शिक्षा के केन्द्रों को चलाने में ग्रामवासियों की सहायता करना पड़ता है। सड़क बनवाने या पाठशाला की इमारत बनवाने के कार्य में वह श्रमदान देने के लिये ग्रामवासियों को प्रोत्साहित करता है। ग्राम के प्रत्येक कुटुम्ब के लिये विकास कार्यों की योजना बनाना भी उसी का काम है और इन योजनाओं के आधार पर प्रत्येक ग्राम के लिये उसे प्रति वर्ष एक योजना बनाना पड़ता है। परन्तु बहुत कम ग्रामसेवक प्रत्येक कुटुम्ब के लिये कोई योजना बनाते हैं और ग्राम की योजना भी ठीक तरह से नहीं बनाई जाती। ग्रामवासियों को अल्पकालीन ऋण दिलाने के लिये विकास खंड के अधिकारियों को राजी करना उसी का काम है और इस ऋण को वसूल करने की जिम्मेदारी भी उसी की होती है।

ग्रामसेवक के कार्य इतने अधिक हैं कि यदि कोइ ग्राम सेवक अपना कार्य ईमानदारी से करना चाहे तो दस ग्रामों के लिये कदापि नहीं कर

सकता। इस का परिणाम यह होता है कि ग्राम सेवक थोड़ा बहुत कार्य उसी ग्राम में अधिक करने का प्रयत्न करता है जिसमें उसे ग्राम वासियों का सब से अधिक सहयोग मिलता है ; और शेष ग्रामों में कुछ भी कार्य नहीं हो पाता। सब ग्रामों में कार्य ठीक ढंग से किये जाने के लिये यह आवश्यक है कि ग्राम सेवक का कार्य क्षेत्र दस ग्रामों से कम करके पांच गांव कर दिया जावे और उसको यह आदेश दिया जावे कि सप्ताह में एक दिन वह प्रत्येक गांव को अवश्य दिया करे।

ग्राम-सेवक का कार्य ठीक ढंग से तभी हो सकता है जब उसका प्रत्येक कार्य सेवा भाव से किया जाया करे। परंतु दुर्भाग्य से ग्राम सेवकों में सेवा भाव की बहुत कमी पायी जाती है। यदि विकास खंड के अधिकारी और कार्यकर्ताओं में सेवाभाव की कमी हो जाती है तो उसका प्रभाव ग्रामसेवकों पर बहुत बुरा पड़ता है। विकास खंड के कर्मचारियों की नियुक्ति करते समय इस बात का ध्यान नहीं रक्खा जाता कि उनको सेवाभाव से कार्य करने का कितना अनुभव है। केवल पुस्तकी योग्यता, परीक्षा या सिफारिश के आधार पर नियुक्ति होने से ऐसे व्यक्तियों को नौकरी करने का अवसर मिल जाता है जिनका मुख्य उद्देश्य पैसा कमाना ही होता है। राष्ट्रीय दृष्टि से ग्राम सेवक का कार्य कितना महत्त्वपूर्ण है इसका वे कुछ भी अनुभव नहीं कर पाते हैं। यदि विकास खंड के सब कार्यकर्ता अपने कार्य इमानदारी और सेवाभाव से करने लगें तो ग्रामवासियों की दशा अवश्य ही सुधर जावे।

ग्रामवासियों की बेकारी दूर करना

ग्रामों में बेकारी की समस्या को हल करने के लिए कुटीर-उद्योग-धंधों को प्रोत्साहित करना बहुत आवश्यक है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य की ओर विकास खंड के कर्मचारियों का बहुत कम ध्यान गया है।

प्रत्येक विकास खंड के अधिकारी का यह कर्त्तव्य होना चाहिये कि

अपने खंड के सब गांवों का सावधानी पूर्वक निरीक्षण करके यह पता लगावे कि कौन से कुटीर उद्योग उसके क्षेत्र में चल रहे हैं। उनकी वर्तमान कठिनाइयाँ क्या हैं और कौन-कौन से कुटीर उद्योगों के लिये कच्चा माल तथा योग्य श्रमी उस क्षेत्र में मिल सकते हैं। इसके बाद ग्रामसेवकों की सहायता से उसे यह पता लगाना चाहिये कि वर्ष के भिन्न-भिन्न महीनों में बेकार व्यक्तियों की संख्या प्रत्येक ग्राम में कितनी रहती है। इतनी सब जानकारी प्राप्त कर लेने पर उसको अपने क्षेत्र में उद्योग-धंधों को प्रोत्साहित करने के लिये ऐसी योजना तैयार करनी चाहिये जिससे अपने क्षेत्र के बेकार व्यक्तियों को बराबर काम मिलता रहे और कोई भी व्यक्ति बिना काम का न रहने पावे।

कुटीर उद्योग धंधों को प्रोत्साहित करने के सम्बन्ध में एक और कठिनाई उपस्थित होती है। आज-कल ग्राम वासियों की रुचि में परिवर्तन हो रहा है। बीस वर्ष पहले ग्रामवासी अपने ग्राम तथा आस-पास के ग्रामों में तैयार की हुई वस्तुओं का ही अधिकतर उपयोग करते थे। परन्तु आजकल वे ऐसी वस्तुएँ अधिक पसंद करते हैं जो देखने में भड़कीली हो चाहे वह टिकाऊ कम ही हो। ग्राम जुलाहों द्वारा तैयार किये हुये कपड़ों के बदले में अब वे मिल द्वारा तैयार किये कम टिकाऊ महीन कपड़े अधिक पसन्द करते हैं। इस रुचि परिवर्तन का यह परिणाम हो रहा है कि ग्रामीण क्षेत्रों में बनी हुई वस्तुओं की मांग कम हो रही है, और यदि इन वस्तुओं की उत्पति बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है तो मांग की कमी के कारण वस्तुएँ बिक नहीं पातीं और वस्तुओं की उत्पत्ति करने वालों को वस्तुओं की उत्पत्ति में कमी करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। कुटीर उद्योग धंधों की स्थायी उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि ग्रामवासियों की इस प्रवृति को रोका जावे और उनको अधिक परिमाण में स्थानीय वस्तुओं का अधिक उपयोग करने के लिये प्रोत्साहित किया जावे। विकास खंड के प्रत्येक कार्यकर्त्ता,

विशेष कर ग्राम सेवक का यह प्रधान कर्तव्य होना चाहिये कि जहां तक हो सके वह अपने विकास खंड में तैयार की हुई वस्तु का प्रयोग करे और अपने उदाहरण द्वारा ग्रामवासियों को स्थानीय वस्तु का प्रयोग करने के लिये प्रोत्साहित करता रहे ग्राम सेवक के कार्य की सफलता इस बात पर भी निर्भर होना चाहिये कि वह किस सीमा तक अपने क्षेत्र के ग्रामवासियों को स्थानीय वस्तुओं के उपयोग कराने में सफल हुआ है।

ग्राम-दान से प्राप्त ग्रामों में विकास कार्य

अपने आश्रितों को मिलाकर भूमि रहित किसानों की संख्या भारत में साढ़े चार करोड़ है। जमींदारी प्रथा समाप्त हो जाने पर इन भूमिरहित मज़दूरों को कोई लाभ नहीं हुआ, क्योंकि इन लोगों को भूमि का कोई भाग नहीं प्राप्त हुआ। इन लोगों के कल्याण के लिये आचार्य विनोबा-भावे ने सन् १९५१ में भूदान आंदोलन प्रारम्भ किया। इस आंदोलन द्वारा भारत की सामाजिक कार्य शक्ति तथा त्याग की भावना को एक नया क्षेत्र प्राप्त हो गया है। सन् १९५७ के अन्त तक करीब ४४ लाख एकड़ भूमि दान रुप में प्राप्त हो चुकी है। जनवरी सन् १९५७ से आचार्य भावे ने ग्राम दान का आंदोलन आरम्भ किया। सन् १९५७ के अन्त तक नीचे लिखे अनुसार ३५४३ गाँव ग्रामदान से प्राप्त हो चुके हैं।

आसाम	...	...	७७ ग्राम
आंध्र	...	...	२७० ”
बिहार	...	...	६७ ”
बम्बई	...	...	३४० ”
केरल	...	...	५४१ ”
मद्रास	...	...	२१८ ”
मध्य-प्रदेश	...	...	६४ ”

मैसूर	...	...	१५ ग्राम
उड़ीसा	...	...	१६३३ "
राजस्थान	...	...	१४ "
उत्तर-प्रदेश	...	...	१६ "
पश्चिमी बंगाल	...	...	८ "
योग	...	...	३५४३ "

इन ग्रामों में अखिल भारत सर्वसेवा संघ द्वारा ग्राम सुधार का कार्य किया जा रहा है। सर्वसेवा संघ का प्रधान कार्य सर्वोदय समाज की स्थापना करना है। सर्वोदय का उद्देश्य सत्य और अहिंसा की नींव पर एक ऐसा समाज बनाने की कोशिश करना जिसमें जात-पांत न हो, जिससे किसी को शोषण करने का मौका न मिले, और जिसमें समूह और व्यक्ति दोनों का सर्वाङ्गीण विकास करने का पूरा मौका मिले। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये नीचे के कार्यक्रम पर अमल किया जाता है :—

१—साम्प्रदायिक एकता

२—अस्पृश्यता निवारण

३—जातिभेद निराकरण

४—प्रान्तीय संकीर्णता का निवारण

५—स्त्रियों के लिए पुरुषों के बराबरी के हक और समाज में स्त्री-पुरुषों की बराबरी की प्रतिष्ठा

६—आर्थिक समानता

७—खेती की उन्नति

८—खादी और दूसरे ग्रामोद्योग को प्रोत्साहन

९—नयी तालीम

१०—विद्यार्थी संगठन

११—मजदूर संगठन

१२—आदिम जातियों की सेवा

१३—संकट निवारण और दुखियों की सेवा

१४—गोसेवा

१५—ग्राम सफाई

१६—आरोग्य और स्वच्छता

१७—प्राकृतिक चिकित्सा

१८—नशाबन्दी

१९—कुष्ठरोगियों की सेवा

२०—देश की भाषाओं का विकास

२१—इसी तरह के दूसरे काम

ग्रामदानी ग्रामों में विकास सम्बंधी कार्य सर्वोदय के निम्नलिखित पाँच सिद्धांतों के अनुसार आरम्भ किया गया है :—

१—प्रत्येक व्यक्ति को मन बचन कर्म से अहिंसक होना चाहिये। दूसरों के स्वार्थों का उसको उतना ही ध्यान रखना चाहिये जितना वह अपने स्वार्थों का रखता है।

२—प्रत्येक व्यक्ति को सादा जीवन बिताना चाहिये और अपनी आवश्यकताओं का जान-बूझ कर नियंत्रण करना चाहिये।

३—प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक परिश्रम द्वारा ही अपनी जीविका प्राप्त करनी चाहिये और मानसिक शक्ति का उपयोग समाज के कल्याण के लिये अवैतनिक रुप से करना चाहिये।

४—प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सब संपत्ति को समाज के धरोहर के रुप में मानना चाहिये और उस का उपयोग समाज के कल्याण के लिए ही करना चाहिये।

५—खेती और उद्योग धंधों का विकेंद्रीकरण होना चाहिये, जिस से किसी व्यक्ति के पास आर्थिक शक्ति का केंद्रीकरण न होने पावे।

ग्रामदानी गाँवों में प्रत्येक व्यक्ति सादा जीवन बिताने के लिये अपनी आवश्यकताओं का नियंत्रण जान-बूझ कर करने का अभ्यास करता है

इसलिये मादक वस्तुओं का उपयोग बन्द हो गया है और विलासिता की वस्तुओं की माँग बहुत कम हो गई है। प्रत्येक परिवार अपनी आमदनी को बहुत सोच विचार कर के जीवन रक्षक पदार्थ तथा निपुणता-दायक पदार्थों पर अधिक खर्च करता है, और अपना मकान तथा उसके आस-पास का भाग साफ़ रखने का प्रयत्न करता है। ग्रामीण उद्योग धंधों को प्रोत्साहित करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति जहाँ तक हो सके अपने ग्राम में ही बनी हुई वस्तुओं का प्रयोग करता है, और ग्राम के अन्य व्यक्तियों के स्वार्थों का उतना ही ध्यान रखता है जितना वह अपने स्वार्थों का रखता है। प्रत्येक ग्राम के सब व्यक्ति अपने को एक कुटुम्ब का सदस्य समझते हैं, और जब कभी किसी लड़के या लड़की का विवाह होता है तो उसका सब खर्च गाँव वाले आपस में बाँट लेते हैं। लड़के या लड़की के माता-पिता को उस के लिये कर्ज लेने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

ग्रामदानी गाँवों में गाँव की सब ज़मीन का मालिक गाँव समाज ही माना जाता है। गाँव समाज प्रत्येक परिवार को उसकी जन-संख्या के अनुसार गाँव की ज़मीन बराबर हिस्से में बाँट देता है। इस ज़मीन पर प्रत्येक परिवार ग्राम पंचायत के आदेशानुसार खेती करता है, और खेती से जो उत्पन्न होता है उस पर उसका अधिकार रहता है। परन्तु ज़मीन पर उसका कोई अधिकार नहीं रहता। न तो वह ज़मीन बेच सकता है और न उसे गिरवी ही रख सकता है। वहाँ खेती किसान की और खेत समाज का माना जाता है। गाँव के सब परिवारों के पास ज़मीन हो जाने से कोई भी भूमि हीन किसान नहीं रहता। भिन्न-भिन्न परिवार के लोग एक दूसरे की खेती संबन्धी कार्यों में सहायता करते रहते हैं।

प्रत्येक किसान अपने छोटे खेत में अच्छे बीज सिंचाई और उचित खाद का उपयोग कर जहाँ तक हो सके खेती से अच्छी उपज प्राप्त करता है। गाँव की सहकारी समिति भी उसे आवश्यकतानुसार आर्थिक

सहायता देती है, और उसे अपनी फ़सल की अच्छी कीमत प्राप्त करने में सहायक होती है। प्रत्येक व्यक्ति खेती के साथ-ही-साथ अन्य कोई उद्योग जैसे गौ पालन, वस्तु-निर्माण, चर्खा द्वारा अपनी आमदनी बढ़ाने का प्रयत्न करता है। ग्राम-पंचायत उसको इस कार्य में पूरी सहायता देती है। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति बेकार नहीं रह पाता।

ज़मीन पर किसी व्यक्ति का निजी अधिकार न होने के कारण लगान की कोई समस्या नहीं उपस्थित होती। सब व्यक्ति अपने-अपने खेतों पर स्वंय काम करते हैं, इसलिये किसी को मज़दूर रखने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। सहकारी समिति से प्रत्येक व्यक्ति को खेतों के खर्च के लिये रुपया कम सूद पर मिल जाता है। इसलिये उसे साहूकार से अधिक सूद की दर पर कर्ज लेने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। प्रत्येक गाँव में कुछ उत्साही और स्वार्थत्यागी नवयुवकों का ग्राम सेवादल स्थापित हो गया है जो ग्रामवासियों की हर प्रकार से यथासम्भव सहायता करता है, और ग्राम को साफ़ रखने का प्रयत्न करता है। ग्राम-पंचायत ग्रामसंबन्धी सभी विकास कार्यों को ठीक तरह से जिम्मेदारी से करती है।

सब व्यक्ति की खेती छोटे-छोटे खेतों पर होती है। इसलिये किसी को अधिक मुनाफे की गुन्जायश नहीं रहती और भिन्न भिन्न परिवारों की आमदनी में अधिक अन्तर नहीं रहता। इसलिये गाँव में आर्थिक समानता बढ़ती जाती है। यद्यपि प्रति व्यक्ति को आमदनी अधिक नहीं होती तो भी उसका वितरण प्रायः बराबर रहता है और आर्थिक शोषण बन्द हो गया है। इस प्रकार इन ग्रामदानी गावों में ऐसे शोषण हीन समाज की स्थापना हो रही है जिसमें आर्थिक समानता पायी जाती है। महात्मा गाँधी जी ने जिस राम राज्य की कल्पना की थी, उसके दर्शन अब इन ग्रामदानी गाँवों में होने लगे हैं।

अट्ठाइसवाँ अध्याय

ग्राम्य-जीवन का पुनरुद्धार—शेषांश

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में हिंदुस्तान बहुत कुछ स्वावलम्बी देश था। यद्यपि यह कहना उचित न होगा कि वह दूसरे देशों को माल नहीं भेजता था और दूसरे देशों से माल नहीं मँगाता था, पर यह कहना असत्य न होगा कि उसकी जितनी संकुचित आवश्यकताएँ थीं उनको पूरा कर लेने के लिए सभी सामग्री, अनाज व अन्यान्य वस्तुएँ वह उत्पन्न कर लेता था। ऐसी बहुत कम वस्तुएँ थीं जो हिंदुस्तान से विदेशों को भेजी जाती थीं व हिंदुस्तान में विदेशों से मंगाई जाती थीं। निर्यात (Export) की मुख्य वस्तुएँ मलमल, शाल और कलावत्तू के काम किए हुए कपड़े (Brocades) थे, और आयात (Import) की वस्तुएँ मसाला, हथियार, हाथी दाँत और ऊनी कपड़े थे। देश की प्रत्येक वस्तु सादे औज़ारों की सहायाता से हाथ से ही बनाई जाती थीं। पर निरंतर इसी प्रकार काम करते रहने से कारीगरों में वह निपुणता, वह हाथ की सफ़ाई आ गई थी जिससे बड़ी-बड़ी मशीनवाले सुन्दर वस्तुएँ बनाने में उनकी बराबरी नहीं कर सकते थे। उनकी इसी कला-कुशलता के कारण इन बनी हुई चीज़ों को देखकर विदेशी लोग मोहित हो जाते थे, माध्यमिक काल की इस व्यावसायिक अवस्था के साथ-साथ उस समय के लोगों का रहन-सहन भी बहुत सरल और विनम्र था। मलमल और कीमख़ाब जो आज-कल साधारण श्रेणी के लोग पहनते हैं, वही उन दिनों में बड़े-बड़े राजे, महाराजे और और रईसों के घर की शोभा बढ़ाते थे। वस्तु उत्पादन की और रहन-सहन की उस समय की सादगी के संयोग

से उस समय का भारतीय जीवन साधु था। जीवन की प्रत्येक अवस्था में एक ऐसी शांति छाई रहती थी जो वर्तमान भारत में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती।

ज्यों-ज्यों पाश्चात्य देशों से सम्पर्क बढ़ने लगा त्यों-त्यों आवागमन के सुभीते के बढ़ने से और पाश्चात्य लोगों के यहाँ आधिपत्य बढ़ाने से इस देश के प्राचीन व्यावसायिक व्यवहार बदलने लगे। भारत की पराधीनता, उद्योग-धंधों में नई-नई खोज तथा विदेशों के कलाकौशल में उन्नति, इन तीनों कारणों से इस देश के प्राचीन उद्योग-धंधों का पाया हिलने लगा। इस प्रकार की क्षीणता और असमर्थता ५० वर्ष तक चली आई जिसके बाद हिंदुस्तान की वह हालत हो गई कि जो वस्तुएँ यहाँ बन कर विदेशों में भेजी जाती थीं उन्हीं वस्तुओं को अब विदेशों से मंगाना पड़ता है। पर जब हिंदुस्तान में भी वस्तु उत्पादन के पाश्चात्य उपायों का प्रचार होने लगा तो यहाँ की अवस्था फिर से बदलने लगी। इस प्रकार हिंदुस्तान के उद्योग-धंधों की उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग में पूरी तरह से नया रूप मिल गया और तब से इस ओर दिन-प्रतिदिन उन्नति हो रही है। इस औद्योगिक परिवर्तन के साथ-साथ हमारे रहन-सहन व आचार में भी परिवर्तन हो रहा है।

जिस प्रकार पाश्चात्य देशों में मशीनों के उपयोग से और मशीनों के परिणाम स्वरूप बड़ी मात्रा में उत्पादन से घनी आबादियाँ, शराबख़ोरी, बीमारी, व्यभिचार तथा मृत्यु बढ़ने लगी उसी प्रकार हिंदुस्तान में भी पाश्चात्य देशों के उद्योग-मार्ग के अनुकरण करने से वही परिणाम प्रगट हो रहे हैं। जैसे पाश्चात्य देशों में वर्तमान औद्योगिक अवस्था के कारण रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होने लगा, पूँजीपति बहुत हो गए और ग़रीबों में बेचैनी हो गई है। वही सब बातें आज हम अपनी आँखों हिंदुस्तान में देख रहे हैं। हिंदुस्तान में भी, यद्यपि पाश्चात्य देशों से कम परिमाण में, प्रत्येक मनुष्य को धन संचय करने को अपार इच्छा हो रही है। इसी पूंजीपति

प्रथा के बढ़ने से जो बुराइयाँ हो सकती हैं वे प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ रही हैं। सार्वजनिक असंतोष फैल रहा है, और पूंजीपति तथा मज़दूर दल में अविराम युद्ध हो रहा है। आज सुनने में आता है कि गिरनी कामगार यूनियन ने तीन महीने से हड़ताल कर दी है तो कल जमशेदपुर से ख़बर आती है कि वहाँ की ताता कम्पनी के लोग पूंजीपतियों के अत्याचार से पीड़ित हो कर हड़ताल कर रहे हैं। कभी रेलवे के हड़तालियों में उनके स्वामियों के कारण दुर्भिक्ष-सा पड़ रहा है तो कहीं गोलमुरी में टिन प्लेट मज़दूरों के आर्तनाद सुने जा रहे हैं।

इन्हीं कष्टों को देखकर महात्मागाँधी ने इस नवीनता के विरुद्ध घोर प्रतिवाद किया और हिंदुस्तान को प्राचीन गृह-उद्योगकालीन सभ्यता की ओर ले आने के लिए अटूट परिश्रम किया तथा और बहुत से देश-भक्त भी इन पूंजीपतियों से मज़दूरों की रक्षा करने के लिए ही किसान और मज़दूर सभा खोलने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी लोग हैं जो इस परिवर्तन को अनिवार्य और उसकी बुराइयों को आवश्यक समझते हैं। हम यहाँ पर यह दिखलाने का प्रयत्न करेंगे कि उद्योग-धंधे के वर्तमान उन्नतिशील कार्य का अनुसरण किस प्रकार से किया जावे जिससे उपरोक्त बुराइयाँ पैदा न हों। हमारे निम्नलिखित विषय को 'सरल और उच्च विचार' शीर्षक दिया जावे तो अनुचित न होगा।

हम कह चुके हैं कि माध्यमिक काल में हिन्दुस्तान की एकांत ग्राम्य-आर्थिक जीवन और आर्थिक स्वावलम्बन के अनुसार औद्योगिक अवस्था थी। पर अब वह एकांतावस्था, वह आर्थिक स्वावलम्बन, वह सरल जीवन सभी लुप्त होते जा रहे हैं। जो लोग वर्तमान पाश्चात्य देशों की औद्योगिक अवस्थाओं का अध्ययन करके यह कहते हैं कि भारतवर्ष में उन उपायों को ग्रहण करने से ही बुराइयाँ आ गई हैं, उन लोगों के इस कथन से हम असहमत नहीं हैं। पर जब वे लोग यह कहते हैं कि

वर्तमान परिस्थितियों को छोड़ कर हम लोगों को एक दम प्राचीन पद्धति की ओर फिर वापस जाना चाहिए तो हम उनकी इस धारणा को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि एक तो हम उस प्राचीनता से इतने आगे बढ़ गए हैं कि फिर से उसी प्राचीन रूप को ग्रहण करना असंभव मालूम होता है। फिर दूसरे यह कि पाश्चात्य देशों की वर्तमान उद्योग-धंधे की प्रथा की जो बुराइयाँ हैं वे हमें असाध्य नहीं मालूम होतीं। न तो पाश्चात्य देशों की तरह हमारी अवस्थाएँ हैं और न व्यवस्थाएँ, फिर हमारा औद्योगिक संगठन व जीवन उन्हीं की तरह कैसे हो सकता है।

जो लोग प्राचीनता के उत्कट पक्षपाती हैं उनका कहना है कि हमारे धार्मिक, आर्थिक, औद्योगिक व व्यावसायिक जीवन में इतना परिवर्तन हो जाने पर भी हम प्राचीन सभ्यता की सरलता को अपना सकते हैं जिससे जीवन की सरलता व व्यक्तिगत स्वतंत्रता बनी रहे। इन विचार-वादियों की यह भी राय है, क्योंकि वे देशभक्त भी हैं, कि देश में रेल, नहर, जहाज़ आदि भी बने रहें, देश में राष्ट्रीय फ़ौज व जहाज़ी बेड़ा क़ायम हो जावे, देश में कला व विज्ञान के आधुनिक सिद्धांत भी प्रचलित हो जावें। पर साथ ही वे यह भी चाहते हैं कि प्रत्येक गाँव स्वावलंबी हो। यद्यपि यह संयोग बहुत ही उत्तम व ग्राह्य होगा पर उन्हें यह भी तो विचार करना चाहिए कि क्या वे सब बातें हमारे देश के इन सामाजिक व आर्थिक अवस्थाओं में संभव हो सकती हैं? देश को स्वतंत्र होने पर तो हमारा यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि किसी भी अन्य देश के बराबर हमारा देश भी सब बातों से सुसज्जित हो जावे। नवीन अवस्थाएँ अब एक अंतर्राष्ट्रीय विषय हो गई हैं। हमारे राष्ट्र को साथ साथ चलना होगा।

इन विचार-वादियों के दूसरी ओर कुछ ऐसे भी हास्यास्पद लोग हैं जो यह कहा करते हैं कि चूँकि हमारी पुरानी हालत कुछ बदल गई है इससे हमारे सारे जीवन व औद्योगिक अवस्थाओं को भी बिल्कुल बदल

देना पड़ेगा, सब गृह-उद्योगों के स्थान में बड़े-बड़े कारख़ाने खुल जाने चाहिए, गाँवों की जगह में बड़े-बड़े शहर बस जाने चाहिए और अपनी अपनी अवस्थाओं के अनुसार प्रत्येक स्थान वही वस्तुएँ उत्पन्न करे जिसके लिए वह स्थान उचित है। संक्षेप में इनका कहना यह है कि दूसरे देशों से सम्पर्क हो जाने से यह आवश्यक हो जाता है कि हमारे देश का रहन-सहन व औद्योगिक संगठन की सारी अवस्थाएँ उन्हीं देशों के अनुसार हो जावें। ऐसे लोगों के मन में यह बात ज़रा भी नहीं आती कि किसी देश की वस्तु उत्पादन शक्ति उस देश की केवल प्राकृतिक अवस्थाओं पर ही निर्भर नहीं रहती पर साथ ही उसपर उस देश के सामाजिक व धार्मिक जीवन का भी बड़ा भारी असर पड़ता है।

इस सारे वातावरण का एक रहस्य है। प्रत्येक समुदाय एक बार इस समस्या के केवल एक ही पहलू की ओर ध्यान देता है। प्राचीनता का पक्षपाती इस बात को भूल जाता है कि भारत का विदेशों से संपर्क का यहाँ के उद्योग-धन्धों पर क्या असर पड़ता है। संपूर्ण परिवर्तनवादी इस बात को भूल जाते हैं कि देश के उद्योग-धंधों पर उसके धार्मिक व सामाजिक प्रवाह का क्या असर पड़ता है। हम इस समस्याओं को एक ही प्रकार से हल करते हैं—वस्तु उत्पादन करने के उपाय तो बिल्कुल वर्तमान और उन्नतिशील हों पर रहन-सहन हिंदुस्तानी हो। इस शर्त के अनुसार न तो यही होगा कि हिंदुस्तान के सब गृह-उद्योग टूट जावें और सब काम बड़ी-बड़ी मशीनों से बड़े-बड़े कारख़ानों में हुआ करें और न यह होगा कि हिंदुस्तान वस्तु उत्पादन के आधुनिक उन्नतिशील उपायों को एक दम से छोड़ कर बिल्कुल पीछे हट जावे। भारत में भविष्य में ऐसी औद्योगिक अवस्थाएँ हो जानी चाहिए जिससे अपने-अपने क्षेत्र में गृह-उद्योग व फ़ैक्टरी दोनों साथ-साथ काम करते रहें। गृह उद्योग द्वारा और फ़ैक्टरी (कारख़ानों) द्वारा, केवल वही काम किये जावें जिनसे हमारे मज़दूर और मूलधन विदेशों की प्रतिद्वन्द्विता कर सकें। यह कोई

प्राकृतिक नियम नहीं है कि मशीन द्वारा किया गया काम सदैव हस्तकला से बाज़ी मार ले। बाज़ी मारना तो हस्तकला, मशीन या बिजली द्वारा उत्पन्न किये हुए वस्तु के तुलनात्मक दाम पर निर्भर है। यूरोप और अमरीका में, जहाँ कि यह अन्ध विश्वास फैल रहा है कि जिस राष्ट्र की आवश्यकताएँ जितनी ही ज़्यादा होती हैं उतना ही वह राष्ट्र सभ्य माना जाता है, हस्तकला का कोई स्थान नहीं और उन सभ्य समाजों की बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए मज़दूरों को मशीनों का सहारा लेना पड़ता है। पर भारत में अब भी ऐसी बहुत सी चीज़ें हैं जो कि हाथ से बनाई जाती हैं और जिनका मूल्य मशीन की बनाई हुई चीज़ों की बनिस्बत सस्ता पड़ता है। हम यह मानते हैं कि अभी हमारे यहाँ के गृह उद्योग दूसरे देशों की तरह सस्ते में काम नहीं चला सकते पर अगर भारतवासियों में भी जर्मनी और जापान के कारीगरों की तरह निपुणता आजावे और यदि उन्हें इनकी मज़दूरी से आधा भी मिलने लगे तो फिर वे भी उन्हीं के टक्कर की चीज़ें बनाने लगेंगे और उनसे प्रतिद्वंद्विता करने में समर्थ हो जावेंगे। हममें वह सभ्यता न आने पावे जिसका कि यह सिद्धांत है कि सभ्य वही है जिसकी आवश्यकताएँ अपार हैं। हमारे कथन का मतलब यह नहीं है कि हमारे मज़दूरों को आजकल की तरह आवश्यकता से कम खाना और कपड़ा मिला करे। उनके जीवन को सुखमय बनाने के लिए हर तरह से प्रयत्न किया जाना चाहिए। पर एक हद के भीतर। यदि हम संयम और संतोष के साथ अपना जीवन व्यतीत करें तो अवश्य ही मशीन द्वारा बनाई हुई वस्तुओं की बराबरी कर सकेंगे।

इसी प्रकार—अर्थात् उद्योग धंधों में नये-नये उपायों को काम में लाकर जीवन को भारत के प्राचीन आदर्श के अनुसार सरल बनाये रख कर ही हम सस्ते दामों में वस्तु उत्पन्न करके वर्तमान पाश्चात्य सभ्यता की बुराइयों से बच सकते हैं। पाश्चात्य देशों के उद्योग कला के इतिहास

हमारे सामने वर्तमान हैं। हमें चाहिए कि उनकी बुराइयों को दूर कर केवल उनकी अच्छाई को ही ग्रहण करें ताकि हमारे देश में बड़े-बड़े कारख़ाने खुलने पर भी हमारा देश सभ्य और स्वस्थ बना रह सके। कारख़ानों के कारण बहुधा शहरों में जो अधिक आबादी हो जाने से लोगों का व्यवहार और स्वास्थ्य भ्रष्ट हो जाता है उससे बचने के लिए हमारा कर्तव्य है कि मज़दूरों के लिए साफ़ और स्वस्थ मकान बनावें तथा उनके पूंजीपति मालिकों में सदैव मनुष्यत्व के भाव पैदा करते रहें जिससे वे लोग अपने मज़दूरों से सहिष्णुता का व्यवहार करते रहें। उनसे अधिक समय तक काम न लिया करें जिसमें उनको अपना स्वास्थ्य सुधारने के लिए भी समय मिल जाया करे। जिस प्रकार मज़दूरों को एक सीमा के भीतर ही अपनी आवश्यकताएँ बढ़ानी चाहिए उसी प्रकार पूँजीपतियों को भी एक सीमा के भीतर ही अपने व्यवसाय से लाभ उठाना चाहिए। पूँजीपतियों और मज़दूरों के बीच में अच्छी तरह से समझौता हो जाने पर पाश्चात्य औद्योगिक अवस्था की बहुत सी बुराइयों से छुटकारा मिल जावेगा। फिर हमें बड़े-बड़े कारख़ानों से पूरा लाभ उठाने में कोई बाधा न पड़ेगी। निस्संदेह ही इसके लिए पूँजीपतियों को बड़ा भारी स्वार्थ त्याग करना पड़ेगा। यदि वे लोग यह त्याग स्वयं न करेंगे तो देश में ऐसी कई शक्तियाँ काम कर रही हैं जिससे उन्हें लाचार होकर यह काम करना पड़ेगा।

फिर बड़े कारख़ानों से वस्तु उत्पन्न करने में यहाँ के लोगों के बसने के ढँग में भी तबदीली करनी पड़ेगी। हम ऐसी औद्योगिक अवस्था से आगे बढ़ रहें हैं जब कि लोग देश में चारों तरफ़ बिखरे हुए थे और अब उस ओर जा रहें हैं जब कि बहुत से लोगों को कुछ चुने हुए स्थानों में एकत्रित होकर रहना पड़ेगा। हमारे उस समय में भी परिवर्तन हो गया है जब कि देश में बहुत से राजा एक दूसरे से स्वतंत्र होकर राज्य करते थे और अब यह अवस्था आ गई है जब कि सारे देश में एक ही

राज्य स्थापित हो गया है। इस अवस्था में अपनी आबादी को पुरानी प्रथा के अनुसार बनाए रखना असंभव है। हमें अब शहरों की संख्या बढ़ानी पड़ेगी। कितने शहर और बढ़ाने पड़ेंगे यह इस बात पर निर्भर है कि अब प्राचीन प्रथाओं में हम कितना परिवर्तन कर देंगे। पर चूँकि तब भी भारतवर्ष का मुख्य रोज़गार खेती रहेगा इससे यह संभव नहीं कि यहाँ सब गाँव लुप्त हो जावें। हमारी नई सभ्यता में ये गाँव भी मौजूद रहेंगे। निस्संदेह ही गाँव की कुछ अन्यान्य संस्थाओं में परिवर्तन हो जावेगा। पर इन नई संस्थाओं के आ जाने से गाँवों का लुप्त हो जाना ज़रूरी नहीं है। गाँवों में से बेकार मध्यम श्रेणी के लोग शहरों में पैसा पैदा करने के लिए चले जावेंगे। गाँवों से साहूकार लोग लुप्त हो जावेंगे और उनकी जगह में सहयोगी बैंक स्थापित हो जावेंगे जिससे ग्राम्य-जीवन सुखकर और लाभदायक हो जावेगा। पर इस प्रकार की नवीनता से काश्तकार के मिट जाने का कोई डर नहीं है। यदि हिंदुस्तान का मुख्य रोज़गार खेती रहा तो ज़मीन के जोतने वाले तो अवश्य ही रहेंगे। काश्तकारों की अवस्था भी भविष्य में आजकल की तरह न रहेगी, पर यह सोचना भी ग़लत है कि उनके मकान खेतों में बनवा दिए जावेंगे। शिक्षा के प्रचार से उनकी दशा अब से अवश्य ही कुछ अधिक सुधर जावेगी।

भविष्य के गाँवों में गाँव के नौकर-चाकर, नाई, धोबी आदि बने रहेंगे। खेती के उत्तम उपायों को ग्रहण करने व संगठन के प्रचार से कुछ गाँवों में संभव है बढ़ई, कुम्हार, लुहार आदि की संख्या घट जावे। अभी जैसे प्रत्येक गाँव में एक बढ़ई, एक लोहार, एक कुम्हार होता है वैसे ही संभव है कि भविष्य में दस-दस गाँवों के बीच एक लुहार, एक बढ़ई, और एक कुम्हार रह जावे। इससे एक दो गाँव को भले ही हानि हो जावे पर सब गाँवों को इकट्ठा मिलकर इस घटती से लाभ ही होगा। इन लोगों को अब तक जो उनके त्योहारों में एक नियमित परिमाण में

अनाज दिया जाता था संभव है कि वह भविष्य में पैसे के रूप में दिया जावे। इस प्रकार के साधारण परिवर्तनों के सिवाय यह नहीं कहा जा सकता कि गाँवों में कुछ अधिक परिवर्तन हो जावेगा।

ऊपर जो कुछ कह चुके हैं उससे मालूम होता है कि भविष्य में भारतवर्ष के औद्योगिक जीवन में ऐसा परिवर्तन न हो जावेगा जिसे देख कर कोई पहचान न सके कि क्या यह भारतवर्ष ही है या इंगलैण्ड? हमारे विचार में तो गाँवों की प्राचीन अवस्था का ही एक उन्नतिशील रूप प्रगट हो जावेगा। परिवर्तन काल में कुछ उथल-पुथल अवश्य ही होगा पर अंत में आदर्श उसी जीवन की ओर पहुँच जावेगा जिसकी अब तक केवल कल्पना करते रहे हैं। यदि हम इसी परिवर्तन काल में अपना आदर्श निश्चय कर लें तो भविष्य में नाना प्रकार के प्रयोग करके हमें अपना समय नष्ट न करना पड़ेगा।

———

तालिका संख्या—६

भारतवर्ष में खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रत्येक फ़सल का प्रतिशत भाग

वर्ष	भारतवर्ष में खेती को ज़मीन का कुल रक़बा	चावल	गेहूं	जौ	कपास	ईख	जूट	चना	ज्वार	बाजरा	अलसी	सरसों	तिल	नील	चाय	मक्का	रागी
१८९१—१८९४	१९३६८६	३४	११	२	५	१·४	१	५	११	६	२	...	१	·७	·२	२	२
१८९४—१८९७	१८७६७८	३६	१०	३	५	१·५	१	६	११	६	१·५	...	१·७	·९	·२	३	३
१८९७—१९००	१९१०४५	३८	१०	४	५	१·५	१	५	१२	६	१	१	१·७	·६	·३	३	३
१९००—१९०३	२००६८८	३५	१०	[illegible]	५	१·३	१	५	११	७	१	१·७	२	·४	·२	३	३
१९०३—१९०६	२०७८९३	३५	११	४	६	१·२	१·४	५	१०	६	१	१·६	२	·२	·२	३	२·५
१९०६—१९०९	२१४३१६	३५	१०	४	६	१·२	१·६	५	१०·५	७	·९	१·८	२	·२	·२	३	३
१९०९—१९१२	२२०६५३	३५	११	४	६·४	१·१	१·३	६	९	७	१·३	१·९	२	·१	·२	३	३
१९१२—१९१५	२२३६८०	३५	११	३	६·७	१·२	१·५	५·४	८·५	७	१·२	१·७	२	·०८	·३	३	३

तालिका संख्या—७

(पुराने) पंजाब में खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रत्येक फ़सल का प्रतिशत भाग

वर्ष	कुल रक़बा	चावल	गेहूँ	जौ	ज्वार	बाजरा	चना	ईख	कपास	सरसों	तिल	नील	मक्का
१८९१—१८९४	२१९५५	३	३४	७	११	९	१४	२	३	...	·९	·४	६
१८९४—१८९७	१८३५२	४	३१	६	१०	८	१०	२	६	...	१	·५	६
१८९७—१९००	१७९७०	४	३८	७	८	९	९	२	५	...	१	·३	८
१९००—१९०३	२४११४	३	३०	५	६	९	९	१	४	४	७	·२	७
१९०३—१९०६	२६२६२	२	३४	५	५	७	११	१	४	४	·५	·२	५
१९०६—१९०९	२६८५३	३	३७	६	६	११	१४	१	५	५	·४	·२	६
१९०९—१९१२	२६५८४	३	३८	६	४	९	१७	२	५	५	·६	...	६
१९१२—१९१५	२७४०८	३	३७	५	५	११	१५	१	४	४	·७	...	५

तालिका संख्या—८

उत्तर प्रदेश में खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रत्येक फ़सल का प्रतिशत भाग

वर्ष	कुल रक़बा	चावल	गेहूँ	जौ	ऊख	सरसों	अलसी	ज्वार	बाजरा	कपास	तिल	नील	चना	मक्का
१८९१—१८९४	३४१६४	२२	१४	६	४	...	२	२	२	४	·५	·८	११	४
१८९४—१८९७	३२४८८	२३	१७	१३	४	...	१	६	४	४	·६	१	१७	५
१८९७—१९००	३३१८२	२१	१९	१४	४	·३	१	७	५	६	·५	·६	१५	६
१९००—१९०३	३४९६६	२०	१९	१२	३	·४	१	७	६	३	·८	·५	१५	६
१९०३—१९०६	५३८७०	१५	२१	१२	३	·४	२	७	६	३	·६	·३	१५	६
१९०६—१९०९	३५२२०	२०	१७	१३	४	·४	·५	८	७	४	·६	·१	१३	७
१९०९—१९१२	३६१४७	१६	२०	१४	३	·५	१	६	७	३	१	·१	१७	६
१९१२—१९१५	३५४७१	१८	२०	१३	४	·५	·६	६	७	४	१	...	१६	६

तालिका संख्या—६

(पुराना) बंबई प्रांत में खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रत्येक फ़सल का प्रतिशत भाग

वर्ष	कुल रकबा	चावल	गेहूँ	ज्वार	बाजरा	कपास	मका	चना	तिल	अलसी	रागी
१८९१—१८९४	२७८००	८	६	२६	२०	१०	·५	३	१·४	१	२
१८९४—१८९७	२५८४०	६	८	२८	१६	११	·६	३	१·६	१·४	२
१८९७—१९००	२५४७६	१०	७	३४	१८	६	·७	२	१·५	·८	२
१९००—१९०३	२५६४७	६	६	२८	२५	११	·५	२	१·७	·७	२
१९०३—१९०६	२६५६५	६	७	२६	१८	१४	·६	२	१·८	१·३	२
१९०६—१९०९	२८४८३	१०	६	२५	२२	१४	·६	२	१·६	·५	२
१९०९—१९१२	२८१६०	१०	६	२४	२१	१६	·६	२	१·५	·६	२
१९१२—१९१५	२९६६६	१०	७	२५	२२	१५	·५	२	१·२	·५	२

तालिका संख्या—१०

मध्य-प्रदेश तथा बरार में खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रत्येक फ़सल का प्रतिशत भाग

वर्ष	कुल रक़बा	चावल	गेहूँ	ज्वार	चना	कपास	अलसी	तिल	मक्का
१८९१—१८९४	२२७८०	१९	२१	१५	५	१३	६	३	·२
१८९४—१८९७	२२२४४	२२	१५	१८	६	१३	६	३	·४
१८९७—१९००	२१५९१	२३	११	२२	४	१३	३	४	·५
१९००—१९०३	२२५६०	१९	११	२३	४	१६	३	५	·६
१९०३—१९०६	२३८९५	१८	१४	१९	४	१९	४	४	·५
१९०६—१९०९	२४ ६७	१८	१३	१९	४	१९	२	४	·६
१९०९—१९१२	२४९४७	१९	१४	१७	५	१८	५	४	·६
१९१२—१९१५	२४७३९	२०	१४	१६	५	१९	५	३	·६

तालिका संख्या—११

भारतवर्ष के कुछ राज्यों में ईख, कपास और गेहूँ की खेती का प्रतिशत क्षेत्रफल और प्रति एकड़ उपज

प्रान्त	ईख		कपास		गेहूँ	
	भारतवर्ष की खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रतिशत भाग	प्रति एकड़ उपज पौंड	भारतवर्ष की खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रतिशत भाग	प्रति एकड़ उपज पौंड	भारतवर्ष की खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रतिशत भाग	प्रति एकड़ उपज
बंबई (पुराना)	३	६९५०	२८	१०२		
उत्तर-प्रदेश	५३	६९००	९	१७०	२९	१०५०
मध्य प्रदेश			३२	८६		
पंजाब (पुराना)					३८	७९१

तालिका संख्या—१२

भारतवर्ष में गेहूँ की खेती के क्षेत्रफल में प्रत्येक राज्य का प्रतिशत भाग।

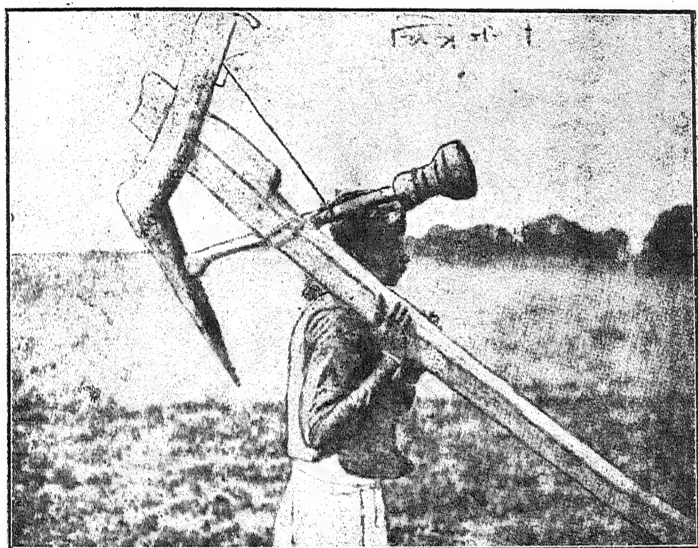
वर्ष	भारतवर्ष	प्रतिशत भेद	उत्तर-प्रदेश	पंजाब (पुराना)	बंबई (पुराना)	मध्यप्रान्त और बरार	बंगाल (पुराना)
१८९१—१८९४	२१२९४	१००	२३	३५	११	२२	८
१८९४—१८९७	१९१५९	९०	२९	३५	११	१७	७
१८९७—१९००	१८७५९	८८	३३	३६	९	१३	८
१९००—१९०३	१९४०९	९१	२९	३७	८	१३	७
१९०३—१९०६	२३१७५	१०९	३२	३८	८	१५	६
१९०६—१९०९	२१५८७	१०२	२८	४६	८	१४	६
१९०९—१९१२	२४०६४	११३	३०	४२	७	१४	६
१९१२—१९१५	२३९९९	११३	२९	४२	८	१४	६

तालिका संख्या—१३

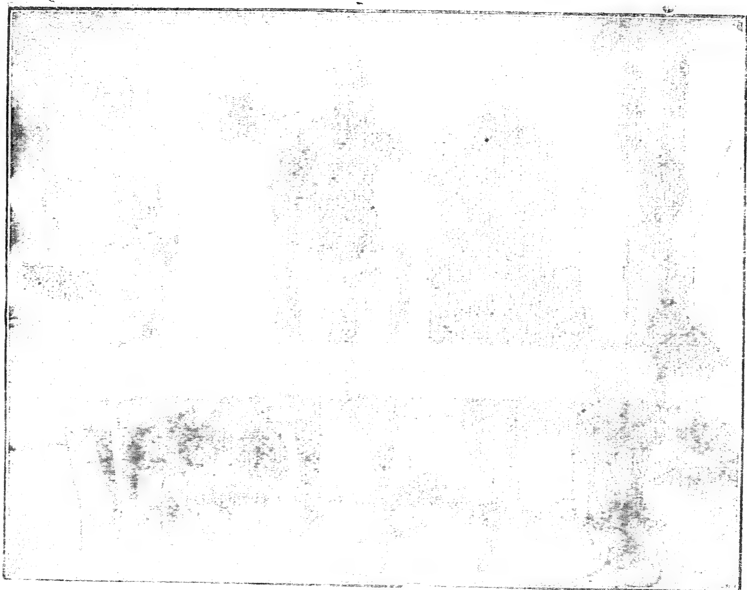
भारतवर्ष में कपास की खेती के समस्त क्षेत्रफल में प्रत्येक प्रांत का प्रतिशत भाग ।

वर्ष	भारतवर्ष	प्रतिशत भेद	उत्तर प्रदेश	बंगाल (पुराना)	बंबई (पुराना)	मध्य प्रदेश तथा बरार	मद्रास	पंजाब (पुराना)
१८९१—१८९४	९४१४	१००	१३	२	३०	३१	१५	७
१८९४ - १८९७	९५९२	१०२	११	२	२८	२९	१६	११
१८९७—१९००	८८२३	९३	११	२	२७	३३	१६	९
१९००—१९०३	१०३३८	१०९	११	१	२७	३५	१४	१०
१९०३—१९०६	१२६७१	१३५	९	१	३०	३६	१५	६
१९०६—१९०९	१३५४६	१४३	१०	१	२९	३३	१५	९
१९०९—१९१२	१४०६३	१५०	८	१	३१	३१	१७	७
१९१२—१९१५	१५०६८	१६०	९	१	२९	३१	१६	११

पृष्ठ ८१ के सम्बन्ध में

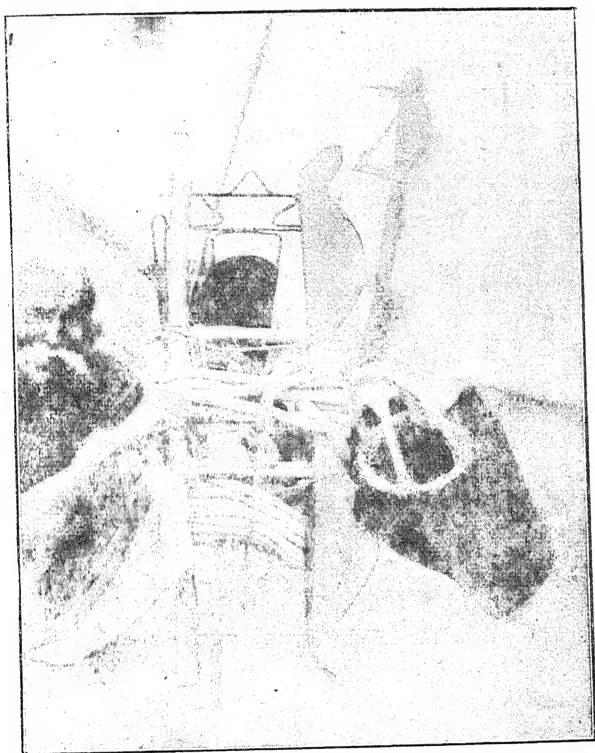


चित्र संख्या १—देशी हल



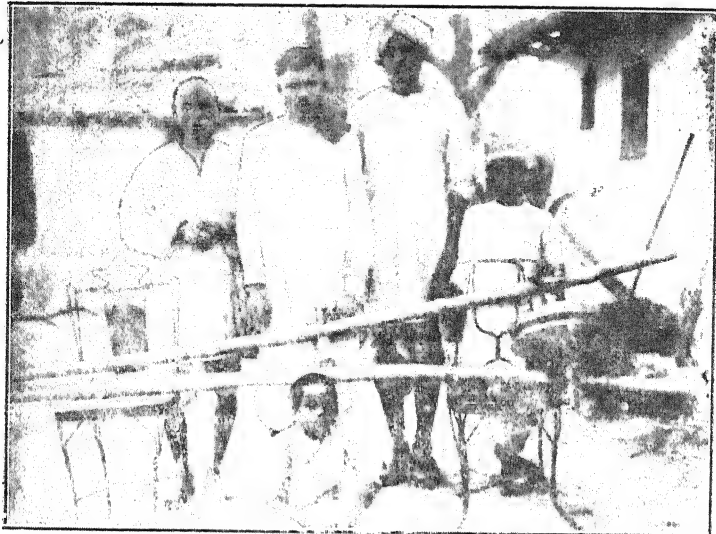
चित्र संख्या ७—खेती के औजार (पटेला, जुआ, जोत इत्यादि)

पृष्ठ ८३



चित्र संख्या ३—खेती के औज़ार (जुआ, पुर)

पृष्ठ ८३



चित्र संख्या ४—खेती के औज़ार (गिर्री)



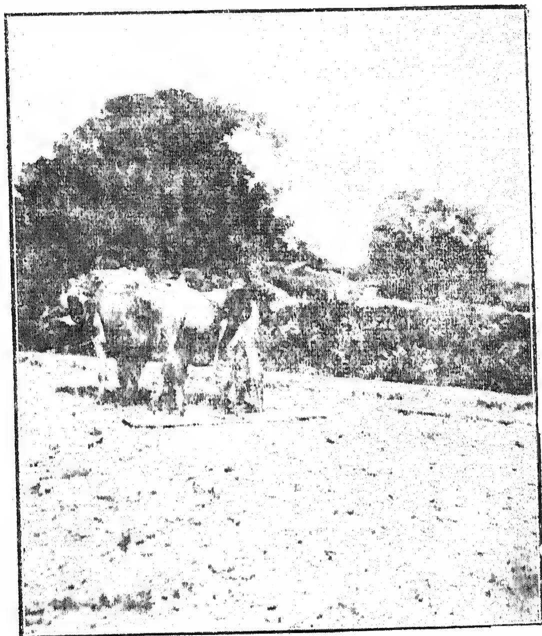
चित्र संख्या ५—खेती के औज़ार (खुरपी, फावड़ा इत्यादि)

पृष्ठ ६३

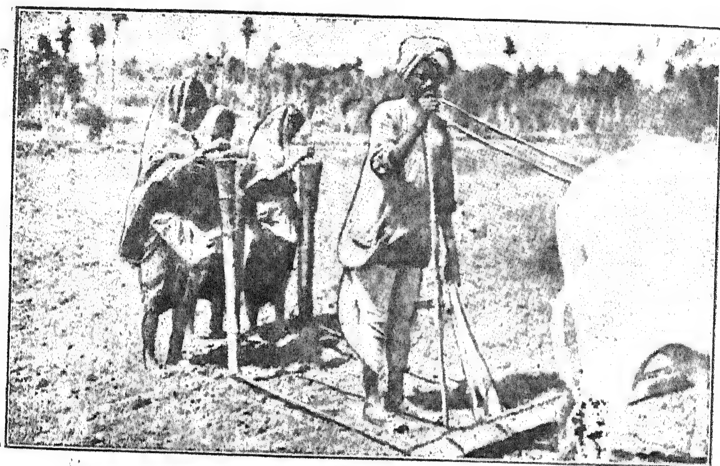


चित्र संख्या ६—दो ज्वारे की जुताई (देशी हल से)

पृष्ठ ६३

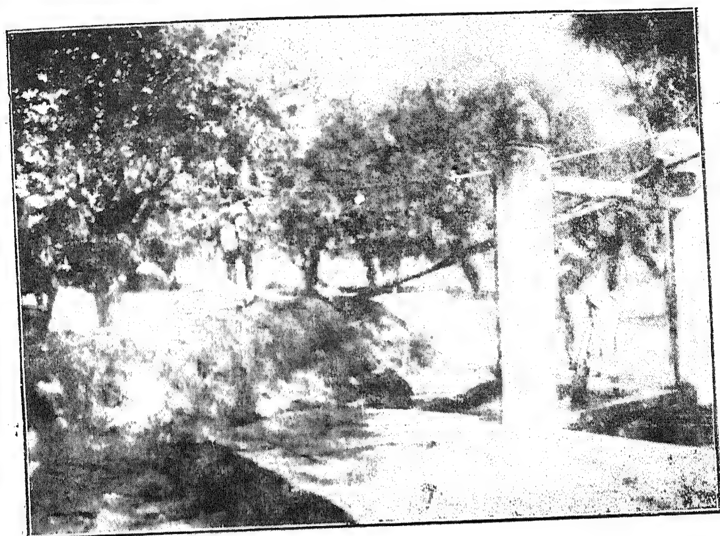


चित्र संख्या ७—पटेला देना

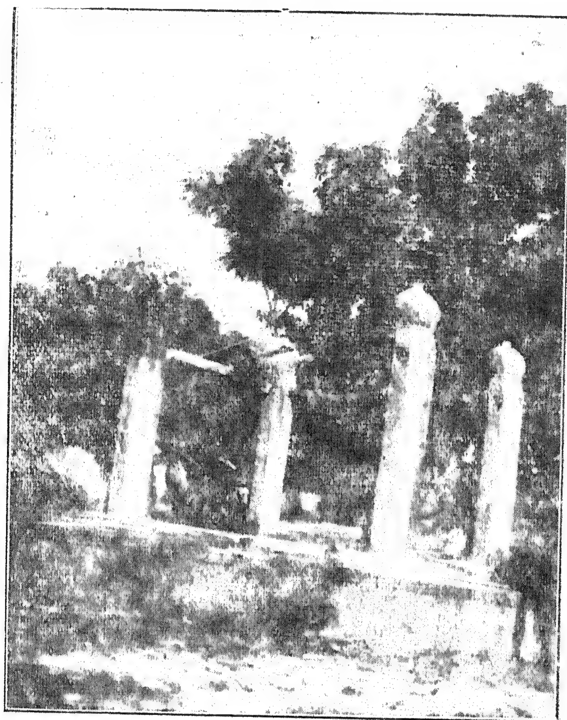


चित्र संख्या ८—क्यारियाँ बनाकर नये तरीके से बुवाई

पृष्ठ ६४



चित्र संख्या ६—चरस द्वारा कुएँ से पानी निकालना



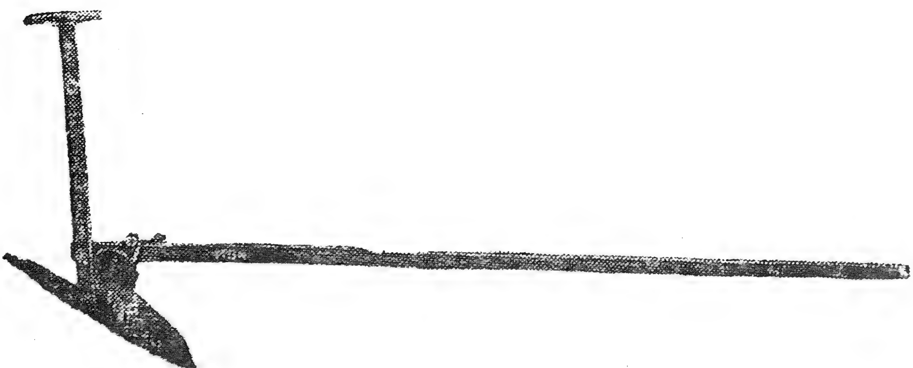
चित्र संख्या १०—पक्का कुआँ और पनघट

पृष्ठ ६४

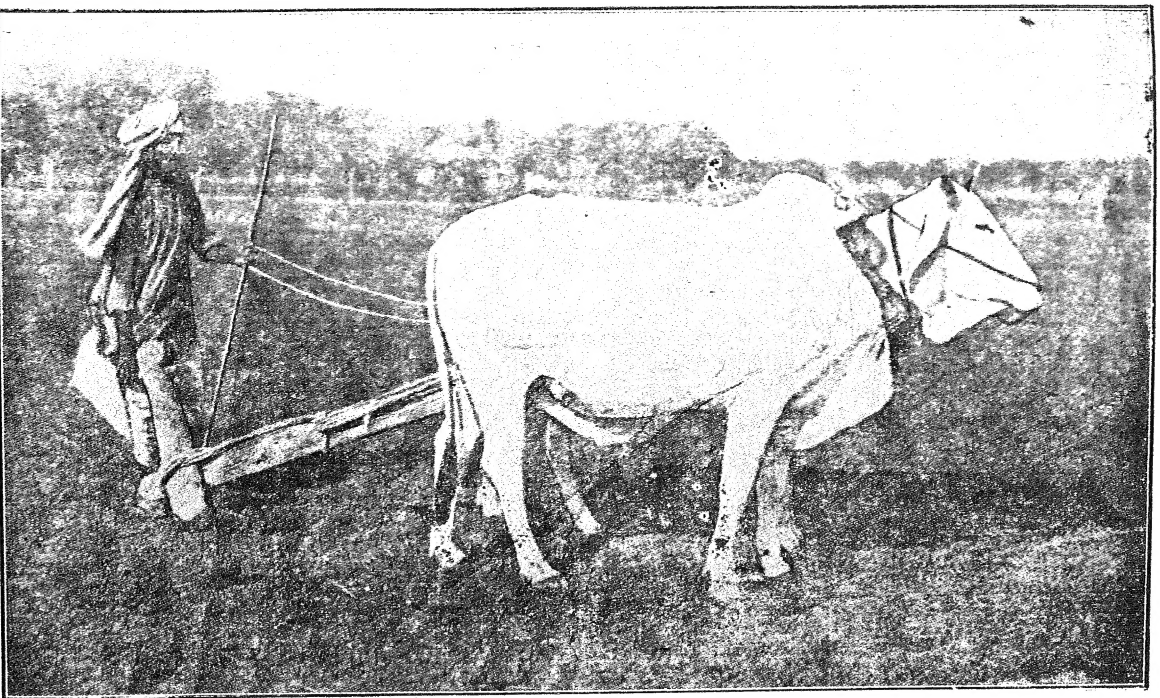


चित्र संख्या ११—खेती में पानी देने की रीति

पृष्ठ १३१ .

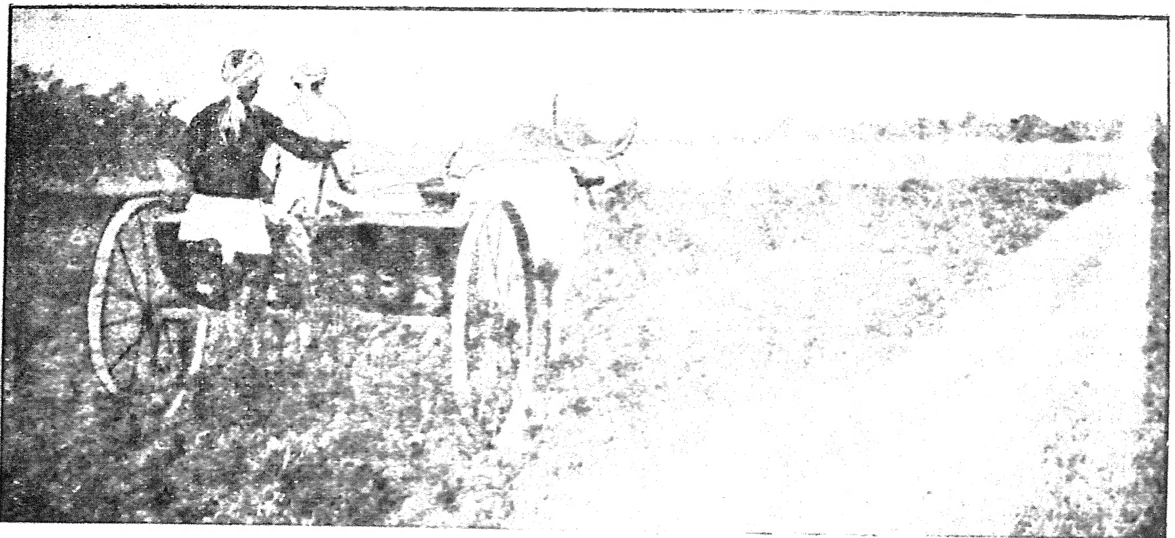


चित्र संख्या १२—मेस्टन हल

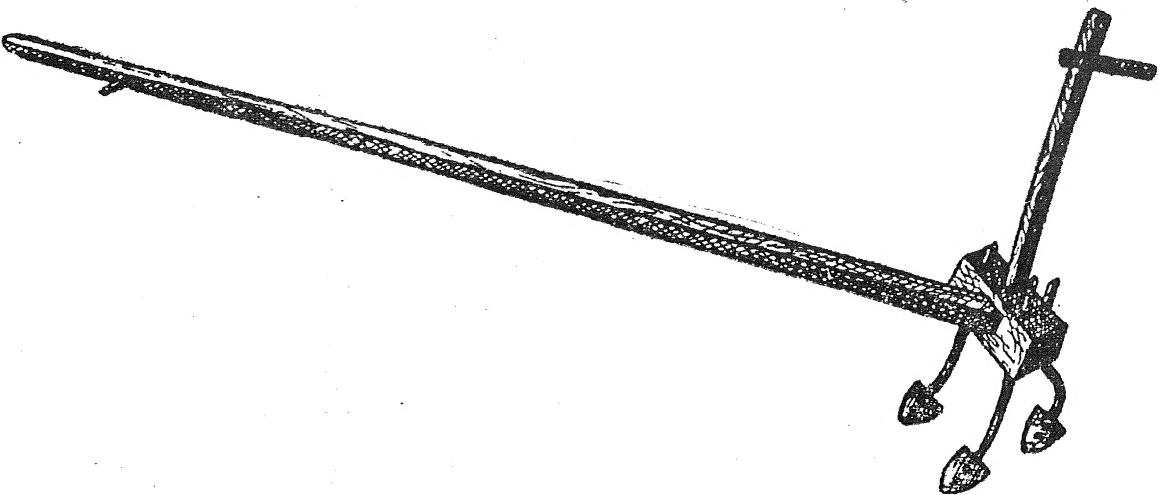


चित्र संख्या १३—पंजाब के राजा हल से जुताई

पृष्ठ १३८

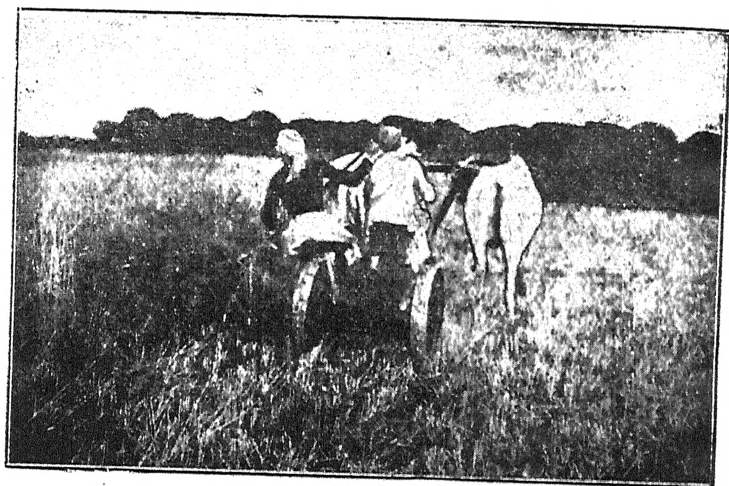


चित्र संख्या २८—हो और चार हैरो



चित्र संख्या १५—'लायलपुर हो'

पृष्ठ १४१



चित्र संख्या १६ —गेहूँ काटने की मशीन